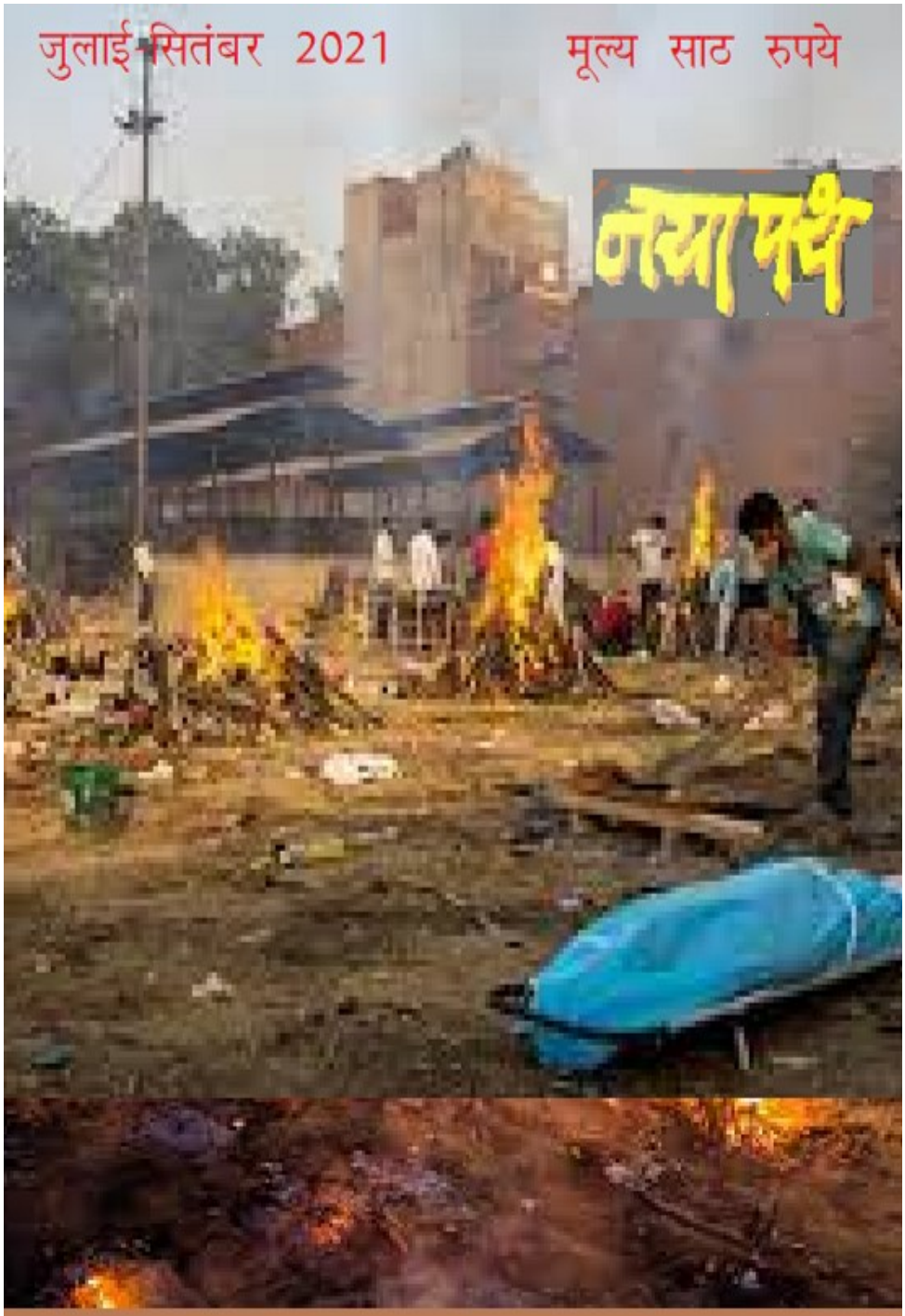

कोरोना : दूसरी लहर की तबाही और बिछुड़े साथियों की यादें

संस्थापक

शिव वर्मा

संपादकीय परामर्श

असग़र वजाहत

संपादक

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह / चंचल चौहान

संपादन सहयोग

कांतिमोहन 'सोज़'

रेखा अवस्थी

जवरीमल्ल पारख

संजीव कुमार

हरियश राय

बली सिंह

कार्यालय सहयोग

मुशर्रफ़ अली

इस अंक की सहयोग राशि

साठ रुपये

(डाक ख़र्च अलग)

संपादकीय कार्यालय

22 सी, दूसरी मंज़िल, डी डी ए फ़्लैट्स, चिल्ला

मयूर विहार-1, दिल्ली-110091

Email : jlsind@gmail.com

Website : www.jlsindia.org

Mobile : 9818859545, 9818577833

प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतया

ग़ैरव्यावसायिक और अवैतनिक

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं

जलेस की सहमति आवश्यक नहीं

जनवादी लेखक संघ केंद्र की पत्रिका

नया पथ

कोरोना : दूसरी लहर की तबाही और बिछुड़े साथियों की यादें

वर्ष 35 : अंक 3 : जुलाई-सितंबर 2021

अनुक्रम

संपादकीय

केंद्र सरकार की विनाशकारी नीतियां

1 निजीकरण से ध्वस्त सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था : डा. ए के अरुण / 5

2. जन अदृश्य, बचा सिर्फ़ तंत्र! : राजेंद्र शर्मा / 11

3. लोकतंत्र पर लपकते भेड़िये… : बादल सरोज / 20

4. केंद्रीय सत्ता-संस्कृति ने कोरोना को भयावह बनाया : उर्मिलेश / 22

5. नरेंद्र मोदी सरकार और सत्ता का केंद्रीकरण : चंचल चौहान / 29

6. कोरोना-काल और महामारी ग्रस्त मीडिया : मुकेश कुमार / 36

7. लाशों और आपराधिक अकर्मण्यता ने घेरा... : भाषा सिंह / 40

8. सांस्कृतिक विरासत पर हमला : अनीश कपूर (अनु. नलिन विकास) / 45

9. सीख मिली है कोविड की : लाल्टू / 47

10. कोरोना संकटः आपदा में अवसर : मुशर्रफ़ अली / 54

स्मृति लेख : बिछुड़े बारी-बारी

आज के बिछुड़े, न जाने... : नमिता सिंह / 63

उड़ गया घना का पांखी : राघवेंद्र रावत / 67

'प्रमाणित करो कि मैं नहीं हूं' - शंख घोष : निशांत / 74

कथाकार रमेश उपाध्याय : नीरज सिंह / 82

पिता की स्मृति : 'काम कठिन है जीवन थोड़ा' : प्रज्ञा रोहिणी / 87

सब ठाठ पड़ा रह जायेगा :शमीम हनफ़ी की याद : नजमा रहमानी / 97

लालबहादुर वर्मा : जाना एक ऑर्गेनिक बुद्धिजीवी का : अशोक कुमार पांडेय / 102

साथ के सभी दिये धुआं पहन-पहन चले : रामप्रकाश त्रिपाठी / 107

राजकुमार केसवानी की याद : विष्णु नागर / 112

काल ने तभी झपट्टा मारा… : नित्यानंद तिवारी / 116
एक बेक़रार रूह—मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी : नूरैन अली हक़ / 119
शेषनारायण सिंह : स्मृतियां अशेष : जयशंकर गुप्त / 124
कोरोना से काल कवलित : मुंबई के कुछ मित्र : शैलेश सिंह / 128
'कहानी सुनने-सुनाने की कला है' : बली सिंह / 139
अली जावेद के जाने से एक शून्य : विनीत तिवारी / 147
जनवादी लेखक संघ और *नया पथ* की ओर से श्रद्धांजलि : प्रस्तुति : जवरीमल्ल पारख / 151

विचार-गोष्ठी रपट

'किसान का कोड़ा' : बजरंग बिहारी तिवारी / 157

संपादकीय

कोरोना का क़हर और भाजपा सरकारों की अक्षम्य क्रूरताएं

नया पथ का यह अंक आज के भयावह यथार्थ की ऐसी तस्वीर पेश करने की कोशिश है जिसे हमारे समाज के संवेदनशील लेखकों, बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों की आंख ने देखा और दिल ने महसूस किया है। विश्वव्यापी महामारी कोविड-19 और उसके बदलते रूपों ने हमारे देश के लाखों लोगों की जानें ले लीं, इन लाखों की संख्या में बहुत से नागरिक सरकारों की उपेक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के पहले से ही ध्वस्त ढांचे की वजह से मौत का शिकार हुए। अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी की दासता में मग्न मोदी सरकार अपने चहेते कॉरपोरेट घरानों की दौलत में दिन दूना रात चौगुना इज़ाफ़ा कराने में मशगूल रही, सारी संसदीय परंपराओं को धता बताते हुए तमाम जनविरोधी विधेयक आनन फानन में पारित करवा लिये। इसके अलावा, इस पूरे दौर में चुनाव के अलावा और कुछ भी उसकी कार्यसूची में नहीं रहा, लोग मरते रहे, लाशें गंगा में बहती रहीं, न ठीक से अस्पताल, न दवाएं और न ग़रीब अवाम के लिए डॉक्टर व चिकित्सा सुविधा—ये हालात थे देश के हर कोने में, महामारी के समय क़ानून मोदी सरकार ने अपने हाथ में ले लिये थे, राज्य सरकारों के पास आक्सीजन की सप्लाई रुक गयी, ख़राब वेंटीलेटर अपने चहेते उत्पादक से ख़रीदकर सप्लाई किये, जो जीवनदान देने के बजाय जानलेवा साबित हुए। कॉरपोरेट जगत के प्रति उदारवादी व्यवस्था पर चलने वाली सरकारें सारी जनकल्याणकारी सरकारी सेवाओं को निजी मालिकों को सौंप देने की राह पर तेज़ी से चल रही हैं, इसी की वजह से सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं का सारा ढांचा ध्वस्त हो चुका है, निजी अस्पताल लूट में मग्न हैं, कोरोना महामारी ने नवउदारवादी अर्थव्यवस्था की अमानवीय सारवस्तु को सब के सामने उजागर कर दिया है। इस सूरतेहाल का सारगर्भित विश्लेषण इस अंक में शामिल डा. ए के अरुण के लेख में हुआ है।

इस अंक के पहले खंड में दिये गये दस लेखों में कोरोना काल में उद्घाटित यथार्थ के विभिन्न पहलुओं को व्याख्यायित किया गया है जिसमें भाजपा सरकार के छल, क्रूरताएं, अहंकार, निरंकुशता और जन के प्रति बरती गयी आपराधिक उपेक्षा तो सामने आती ही है, उसकी चाल, चेहरा और चरित्र की पहचान भी हो जाती है। इस दौर में गोदी मीडिया ने भी तानाशाही प्रवृत्तिवाली मोदी सरकार के कारनामों को जनता के सामने नहीं रखा, सोशल मीडिया के माध्यम से ही बहुत सी असलियत सामने आती रही। या इक्के दुक्के चैनलों पर कुछ एक पत्रकारों ने साहस बटोर कर अपनी पत्रकारिता की नैतिकता को बचाये रखकर बहुत सी दबी ढंकी सच्चाइयों को उद्घाटित किया। कॉरपोरेट घरानों ने टी वी चैनलों पर किस तरह क़ब्जा कर रखा है, यह बात अब छिपी नहीं रह गयी है। सरकारों ने विज्ञापनों के रूप में अकूत धन दे कर उन चैनलों को भ्रष्ट कर दिया है, उन पर असत्य, अवैज्ञानिक सोच और सरकार की गुलामी और फ़ेक न्यूज़ प्रचारित प्रसारित होती रहती है, भारतीय *संविधान* की ऐसी तैसी करते हुए चैनल देश में सांप्रदायिक ध्रुवीकरण और नफ़रत की राजनीति के भोंपू बन गये हैं, वे पत्रकारिता का दायित्व भूल कर अपनी स्वायत्त सत्ता या लोकतंत्र का चौथा खंभा होने का गौरव पूरी तरह खो चुके हैं। जो साहस के साथ जनतंत्र की रक्षा के लिए कटिबद्ध हैं, उन्हें डराया धमकाया जा रहा है, बहुत से पत्रकारों को भाजपा सरकारों की पुलिस ने झूठे आरोप लगा कर गिरफ़्तार किया, कुछ एक न्यायपालिका के सही न्याय देने की वजह से ज़मानत पर छूटे, मगर सच्ची पत्रकारिता करना मौजूदा दौर में जोख़िम का काम बना दिया गया है। भाजपा सरकारों ने लगातार अभिव्यक्ति की आज़ादी पर हमले इसलिए किये हैं क्योंकि ये सरकारें सत्य को सामने नहीं आने देना चाहतीं। गौरी लंकेश ने अपने एक संपादकीय में लिखा था, इस देश का प्रधान

मंत्री हर बात में झूठ बोलता है, देश के पत्रकार उस झूठ को उजागर कर देते हैं, इसलिए उनकी हत्या आर एस एस के गुंडों या अंधभक्तों के हाथों करा दी जाती है। द *वायर* की 26 दिसंबर 2020 की एक रिपोर्ट में बताया गया कि सन् 2020 पत्रकारों के लिए इतिहास का सबसे बुरा साल बीता, मगर वह सिलसिला अभी जारी ही नहीं, और तेज़ हो गया है।

मोदी सरकार ने देश के सभी आम नागरिकों को शोषण, दमन और क्रूरता का शिकार बनाया, भले ही इन नागरिकों में से अंधभक्ति में डूबे हुए कुछ तत्व इस कड़वी सचाई को महसूस न कर पा रहे हों। इस तरह की क्रूरताओं के शिकार जहां आम जन हुए, तो वहीं पिछले साल 26 नवंबर को तीन कृषि क़ानूनों की वापसी तथा अन्य मांगों को लेकर आने वाले अनेक किसान संगठनों से जुड़े लाखों लोग रास्ते में ही भाजपा सरकारों के दमन के शिकार हुए। हरियाणा सरकार ने जगह जगह रास्ते खोद दिये, पानी की बौछारें कीं, लाठी चार्ज किये, आंसू गैस का इस्तेमाल किया, उत्तर प्रदेश की योगी सरकार ने भी उसी तरह का सलूक किया, मगर किसान सारे दमन उत्पीड़न सहते हुए दिल्ली पहुंचे तो केंद्र के अधीन दिल्ली पुलिस ने सारे रास्ते बंद कर दिये। नतीजा यह हुआ कि किसान दिल्ली की सारी सीमाओं पर ही अनियतकालीन प्रदर्शन करते हुए बैठ गये और 'संयुक्त किसान मोर्चा' के नेतृत्व में ऐतिहासिक आंदोलन करके मोदी सरकार को बता दिया कि भारतीय अवाम एक बड़ी शक्ति हैं, उन्हें तानाशाही क़दमों से कोई कुचलेगा तो मुंह की खायेगा। पूरे कोरोना काल में हुई उपेक्षाओं, क्रूरताओं और कपटी चालों को झेलते हुए उन्होंने अपना आंदोलन जारी रखा। देश के लोकतांत्रिक अवाम ने और लेखकों, कलाकारों ने भी इसमें अपना योगदान दिया। हमने अपनी एकजुटता उनके साथ दिखायी। लगभग 700 किसानों ने शहादत दी, हम उन्हें भी अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं और कोरोना की वजह से जो लेखक, कलाकार साथी दिवंगत हुए, उनकी स्मृति को भी नमन करते हैं। इस अंक में हम कुछ ही दिवंगत लेखकों, कलाकारों पर लेख दे पा रहे हैं, जो हमें उपलब्ध हो पाये। कोरोना के पहले दौर में दिवंगत कुछ लेखकों पर लेख हम पिछले अंकों में भी दे चुके हैं।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

इस दौरान दिवंगत लेखकों में शंख घोष, रमेश उपाध्याय, कृष्णदत्त शर्मा, नरेंद्र कोहली, मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी, तबस्सुम फ़ातिमा ज़ौक़ी,अरविंद कुमार, शमीम हनफ़ी, लालबहादुर वर्मा, पद्मा सचदेव, अली जावेद, मुकेश मानस, भारत यायावर, शाकिर अली, कुंवर बेचैन, राजन मिश्र, देबू चौधरी, नरेन, सुनीता बुद्धिराजा, मनोज दास, शांति जैन, निर्मल मिंज, शांति स्वरूप बौद्ध, प्रो. विमलकीर्ति, संजय नवले, अरुण पांडेय, पंकज चौधरी, सूरज पाल चौहान, विजेंद्र, मंज़ूर एहतेशाम, गेल ओमवेट, जयंत पवार, सतीश कालसेकर, सुरेखा सीकरी, स्टेन स्वामी, दिलीप कुमार, मुस्तफ़ा ख़ान, अपराजिता शर्मा, गीतेश शर्मा, रेणु प्रकाश, महेंद्र गगन, श्याम मुंशी, आशीष येचुरी, शाश्वत रतन, ज़हीर कुरैशी, ओम प्रभाकर, विक्रम सिंह, प्रभु जोशी, रामसागर सिंह, वनराज भाटिया, महावीर नरवाल, दिवाकर भट्ट, सरोज त्रिपाठी, शंकर प्रसाद यादव, दिनेश कुमार, राजकुमार केसवानी, सुंदरलाल बहुगुणा, एस. पी. कश्यप, पद्मा सचदेव, कॉ. महेंद्र सिंह, सुब्बा राव, प्रो. दिनेश मोहन, नरेंद्र मोहन, डी आर चौधरी, प्रो. अरविंद कुमार, सुकांत मिश्र, अरुण पांडेय, आनंदवर्धन, राहुल वोहरा, मैथिली शिवरामन, बुद्धदेव दासगुप्ता, धीरू भाई सेठ, कुमार नयन, प्रतीक चौधरी

नया पथ परिवार की ओर से उनकी स्मृति को शतश: नमन

निजीकरण से ध्वस्त सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यवस्था

डा. ए. के. अरुण

कोरोना वायरस संक्रमण (कोविड-2019) महामारी ने देश की स्वास्थ्य व्यवस्था की कमज़ोरियों को उजागर करके रख दिया है। इस संक्रमण के दौर में सरकारी और निजी स्वास्थ्य व्यवस्था की असलियत जनता के सामने आ गयी, साथ ही दोनों के बीच विरोधाभास की कलई भी खुल गयी है। कोरोना महामारी से जूझते हुए देश की सरकारी और निजी स्वास्थ्य व्यवस्था ने अपनी रंगत दिखा दी और अब यह साफ़ तौर पर कहा जा सकता है कि सार्वजनिक या सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था को चुस्त-दुरुस्त किये बग़ैर जनस्वास्थ्य की चुनौतियों का मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। कोरोना वायरस संक्रमण के दौर में मची अफरा तफरी ने मध्य वर्ग के लोगों के निजीकरण के प्रति मोह को भी भंग किया है और यह स्पष्ट कर दिया कि बेहतर सुविधा और सेवा के नाम पर खड़े निजी क्षेत्र के अस्पताल महज आर्थिक लूट के केंद्र के रूप में ज़्यादा सामने आये।

जबसे योजना आयोग 'नीति आयोग' में परिवर्तित हुआ तब से वह स्वास्थ्य सेवाओं से जुड़ी सुविधाओं यानी इन्फ्रास्ट्रक्चर के निजीकरण की ज़ोरदार वकालत कर रहा है। जून 2017 में नीति आयोग ने देश के ज़िला अस्पतालों में ग़ैर संक्रामक बीमारियों के इलाज में सुधार के लिए ज़रूरी बुनियादी संरचना सुविधाओं की स्थिति सुधारने के नाम पर निजी सरकारी साझेदारी (पीपीपी मॉडल) का प्रस्ताव दिया था। हालांकि देश के जनस्वास्थ्य कार्यकर्त्ताओं के विरोध और दबाव के कारण यह प्रस्ताव खटाई में पड़ गया, इसी साल अक्टूबर में आयोग ने ज़िला अस्पतालों में प्राइवेट कंपनियों के प्रवेश का एक और तरीक़ा अपनाया। सन् 2020 के जनवरी में आयोग फिर एक प्रस्ताव लेकर आया। कोई 250 पृष्ठों के इस दस्तावेज़ में भी पीपीपी मॉडल का ही सुझाव था। इसमें बताया गया है कि किस तरह से निजी मेडिकल कॉलेज देश के ज़िला अस्पतालों को नियंत्रित कर सकते हैं। स्पष्ट है कि नीति आयोग और सरकार पिछले कई वर्षों से सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था में निजी क्षेत्र को घुसाने की हर संभव कोशिश कर रही है।

देश के पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह को 1990 के दशक के शुरू में अर्थव्यवस्था के उदारीकरण का ज़िम्मेदार माना जाता है। क्या मनमोहन सिंह जी बतायेंगे कि भारतीय स्वास्थ्य व्यवस्था की मौजदूा स्थिति के लिए स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण ज़िम्मेवार नहीं है? क्या देश की सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था को कमज़ोर करने के लिए वे अपनी ज़िम्मेदारी स्वीकार करेंगे? क्या स्वास्थ्य के निजी क्षेत्र के 70 फ़ीसद आर्थिक कमज़ोर लोगों को स्वास्थ्य सेवा प्रदान कर पायेंगे? राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एनएनएसओ) के आंकड़ों के अनुसार सन् 1991 के बाद जब भारतीय अर्थव्यवस्था का उदारीकरण शुरू हुआ, तब से निजी स्वास्थ्य सेवा प्रदान करनेवाली कंपनियों की संख्या में तेज़ी से

इज़ाफ़ा हुआ।

यहां यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि सरकार ने स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण को तो पूरे ज़ोर शोर से लागू कर दिया लेकिन इसे रेगुलेट या नियमानुसार चलाने की कोई व्यवस्था नहीं की। उल्लेखनीय है कि अन्य देश जो स्वास्थ्य सेवाओं का निजीकरण कर रहे हैं वे इसके नियमन और नियंत्रण के लिए ठोस गाइडलाइन भी बना रहे हैं। भारत में यहां की सरकार ने मज़बूत रेगुलेटर के बदले सहायक की भूमिका निभायी मसलन ग़रीबी के दलदल में फंसे बड़ी संख्या में भारतीय अच्छी चिकित्सा के अभाव में दम तोड़ते गये। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के आंकड़ों के अनुसार सन् 2001 से 2015 तक भारत में 3.8 लाख लोगों ने चिकित्सा सुविधा के अभाव में आत्महत्या की। यह संख्या उस दौरान आत्महत्या करने वालों की कुल संख्या लगभग 21 फ़ीसद थी।

सन् 1991 में जब देश उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के लिए सौंपा जा रहा था तब सरकार और सरकार समर्थित विशेषज्ञ और मीडिया एक स्वर से इस बदलाव की खुशियां गिना रहे थे। मुझे याद है, तब मैं चिकित्सा स्नातक की डिग्री के बाद स्वास्थ्य के क्षेत्र में निजीकरण के ख़तरों को पढ़-समझ रहा था। कभी जाने-माने अर्थशास्त्री अलफ्रेड मार्शल (26 जुलाई 1842-13 जुलाई 1924) ने कहा था , 'संक्षिप्त शब्द आमतौर पर घटिया अर्थशास्त्र को जन्म देते हैं।' यह बात नव उदारवादी 'वाशिंगटन आम राय' के लिए बिल्कुल सही बैठती है। 1990 में भारत ने 'वाशिंगटन आम राय' को स्वीकार कर जब उसका क्रियान्वयन शुरू किया तब से बेरोज़गारी बढ़ी, रोज़गार घटे। तमाम दावों के बावजूद आर्थिक संवृद्धि की दर घटी। माफ़िया पूंजीवाद का दबदबा बढ़ा। क्षेत्रीय विषमता और सामाजिक असमानता में बढ़ोतरी हुई। मंडल आयोग की सिफ़ारिशें निरर्थक हो गयीं। ग़रीबी निवारण कार्यक्रम ठंडे बस्ते में डाल दिये गये। छोटे और घरेलू उद्योग बंद होने लगे। शिक्षा और स्वास्थ्य आम आदमी की पहुंच के बाहर चले गये। नये कौशल देने वाली शिक्षा मध्यवर्गीय परिवार के बच्चों के बूते से बाहर हो गयी। नवउदारवाद से स्वास्थ्य पर ख़तरों को समझने के लिए केविन फ़िलिप्स की किताब, द *पालिटिक्स ऑफ़ रिच एंड पुअर* पढ़ी जानी चाहिए। केविन फ़िलिप्स कभी अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन के सलाहकार रह चुके हैं।

स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण की हक़ीक़त इस कोरोना काल में खुलकर सामने आ गयी है। अस्पताल क्या सरकार तो लगभग सभी सरकारी उपक्रम निजी कंपनियों को बेच रही है। आज जब लोगों को चिकित्सा सुविधा की ज़रूरत है तो कहीं कोई निजी कंपनी दिखायी नहीं दे रही। सवाल यह उठ रहा है कि निजीकरण के अंधे दौर में सरकार देश की मुनाफ़े वाली कंपनियों को नीलाम कर किसका हित साध रही है? निजीकरण के बाद देश में स्वास्थ्य सेवाओं का जो हाल है वह किसी से छिपा नहीं है। हैरानी की बात तो यह है कि वर्ष 2020-21 के बजट में केवल 1.6 फ़ीसद (67,489 करोड़ रुपये) की सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाओं पर ख़र्च करने का प्रावधान किया गया है जो अन्य देशों की तुलना में नगण्य है। ज़ाहिर है कि सरकार+ लोगों के जीवन और सेहत से ज़्यादा कंपनियों के मुनाफ़े का ख़याल रख रही है। कोरोना काल में स्वास्थ्य सेवाओं के सरकारीकरण की मांग भी उठी लेकिन इस पर न तो सरकार और न ही किसी राजनीतिक दल ने रुचि दिखायी।

भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण के बीच जब जनवरी 2020 में कोरोना संक्रमण की

आमद हुई उसके बाद यहां के निजी अस्पतालों का हाल जानें तो हक़ीक़त पता लग जायेगी। 12 जून 2020 को दिल्ली के पांच सितारा अस्पताल 'मैक्स हेल्थ केयर' में कोविड-2019 के इलाज का भारी भरक़म फ़ीस वाला रेट चार्ट टंग गया था। इस चार्ट में जनरल वार्ड का रेट 25,090 रु. था जिसमें कोविड-19 की जांच, महंगी दवा, को-मॉर्बिडिटी आदि के इलाज की फ़ीस शामिल नहीं थी। अस्पताल ने एक और रेट चार्ट घोषित किया था जिसमें एक रूम वाला कमरा रोज़ाना 30,400 रु. का था, आईसीयू का रेट 72,500 रु. था। ज़ाहिर है इस दर से कोरोना रोगी इस अस्पताल को रोज़ाना एक से तीन लाख रु. तक दे रहे थे। इस दौरान इन निजी अस्पतालों ने अकूत धन कमाया। यहां तक कि लाशों की भी क़ीमत वसूली। सन् 2000 में न्यायाधीश ए. एस. कुरैशी की अध्यक्षता में एक कमेटी बनी थी जिसका उद्देश्य निजी अस्पतालों में ग़रीबों के लिए निःशुल्क उपचार से संबंधित दिशा निर्देश तय करना था। इस कमेटी की सिफ़ारिश पर ही निजी अस्पतालों के आइपीडी में 10 फ़ीसद तथा ओपीडी में 25 फ़ीसद सीट ग़रीबों के लिए आरक्षित किये गये थे लेकिन कोरोना काल में यह सब नदारद था।

इसमें संदेह नहीं कि भारत अब विश्व बाजार व्यवस्था का एक ज़रूरी क्षेत्र बन गया है। वैश्वीकरण के साथ साथ यहां कई नये और घातक रोगों की चुनौतियां भी हैं। अध्ययन बता रहे हैं कि कई पुराने रोगों ने अपनी जड़ें और मज़बूत कर ली हैं। तथाकथित विकास, कृषि और उद्योगों के नये तौर-तरीक़े रोगों को और गंभीर तथा घातक बना चुके हैं। देश में पसरे रोग कालाजार, मलेरिया, टी.बी., मस्तिष्क का ज्वर, एड्स, सार्स फ्लू, डेंगू, चिकुनगुनिया आदि ने विश्व स्वास्थ्य संगठन (वि.स्वा.सं.) की गतिविधियों का अध्ययन करें तो इसकी लगभग प्रत्येक सालाना रिपोर्ट यही बताती है कि दुनिया की स्वास्थ्य की रक्षा के लिए बना यह संगठन अब रोग की आवश्यकता को ही मज़बूत और समृद्ध बना रहा है।

भारत में आम आदमी की चिंताओं में उसके स्वास्थ्य और भविष्य के प्रति उसकी आशंका आज बेहद महत्वपूर्ण है। इसके अलावा बढ़ते रोगों की चुनौतियां दवाओं का बेअसर होना, रोगाणु-विषाणुओं का और घातक होना, बढ़ती आबादी, ग़रीबी और विषमता देश के लिए बेहद चिंताजनक पहलू हैं। इन समस्याओं के समाधान के लिए विश्व स्वास्थ्य संगठन 'स्वास्थ्य के लिए और ज़्यादा निवेश' की बात कर रहा है। यह तो सच है कि दुनिया के कई देशों में स्वास्थ्य पर सरकारी बजट बेहद कम है। भारत भी इन्हीं देशों में शामिल हैं। दुनिया के स्तर पर बढ़ी विषमता ने स्थिति को और ज़्यादा जटिल बना दिया है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की अधिकांश रिपोर्टों पर ग़ौर करें तो पायेंगे कि अमीर देशों में जो स्वास्थ्य समस्याएं हैं वे अधिकतर अमीरी से उत्पन्न हुई हैं। इसके उलट तीसरी दुनियां के देशों की स्वास्थ्य समस्याएं आमतौर पर संसाधनों की कमी, गंदगी और कुपोषण की वजह से है। 1995 में जारी एक रिपोर्ट में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 'अत्यधिक ग़रीबी' को अंतर्राष्ट्रीय वर्गीकरण में एक रोग माना है। इसे 'ज़ेड 59.5' नाम दिया गया है। रिपोर्ट में कहा गया है कि विकासशील देशों और यहां तक कि विकसित देशों में भी ग़रीबी तेज़ी से बढ़ रही है और इसके कारण विभिन्न देशों में लोगों के बीच आर्थिक असमानता की वजह से स्वास्थ्य समस्याएं काफ़ी गंभीर हुई हैं। निजीकरण की प्रक्रिया के तुरंत बाद का यह अध्ययन आंखें खोल देने के लिए काफ़ी है।

कोरोना काल में जहां लोग अपनी ज़िंदगी बचाने की जद्दोजहद में थे, वहीं दुनिया के धंधेबाज़ व्यापारी मुनाफ़ा लूट रहे थे। यूएनडीपी तथा डेनवर विश्वविद्यालय के एक अध्ययन के अनुसार कोविड-2019 महामारी के अनुसार गंभीर दीर्घकालिक परिणामों के चलते कोई 20 करोड़ 70 लाख लोग घोर ग़रीबी की ओर जा चुके हैं। इस प्रकार दुनिया में बेहद ग़रीब लोगों की संख्या अब एक अरब को भी पार कर जायेगी। लेकिन दूसरी तरफ़ दुनियां के दस शीर्ष के अमीरों ने कोरोना काल में 540 बिलियन डालर (चालीस अरब सत्रह अरब करोड़) ज़्यादा कमाया। ऐसे ही आक्सफ़ॉम की रिपोर्ट के अनुसार भारत के शीर्ष के 100 अरबपतियों ने 12,97,822 करोड़ रुपये अतिरिक्त कमाये। इस राशि से देश के 13.8 करोड़ ग़रीबों को प्रत्येक को 94,095 रुपये मिल सकते हैं। 'द इनइक्वलिटी वायरस' रिपोर्ट में कहा गया है कि दुनिया भर में 18 मार्च से 31 दिसंबर 2020 तक अरबपतियों ने अपनी दौलत में 3.9 ट्रिलियन डॉलर का इज़ाफ़ा किया है। आक्सफ़ैम ने तो यहां तक कहा है कि कोरोना काल में जब दुनिया भर की उड़ानें बंद थी तब अरबपति अपने लिए प्राइवेट जेट जहाज़ ख़रीद रहे थे। निजीकरण की वकालत करने वाले अपनी खुली आंखों से हक़ीक़त देख लें। अमीरों की तिजोरी में यह दौलत ग़रीब लोगों की ज़िंदगी काट कर गयी है।

स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण ने देश के लोगों की सेहत की क्या गत बना दी उसे समझने में अब किसी भी व्यक्ति को कोई दिक्कत नहीं है। निजीकरण के बाद की स्वास्थ्य व्यवस्था के नंगे चित्र अब सबके सामने हैं। कोरोना काल में लगभग पूरे देश ने अनुभव किया कि सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था और निजी अस्पतालों ने लोगों को क्या क्या बुरे दिन नहीं दिखाये? स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण ने आम आदमी के जीवन की संभावनाओं पर गहरा प्रहार किया है। स्वास्थ्य बीमा एवं सरकारी योजनाओं के बावजूद आम लोगों के लिए सरकारी अस्पतालों में इलाज हासिल करना आसान नहीं है। कहने को सरकार ने जो 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2017' बनायी है वह सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणालियों को मज़बूत करने की बात करती है लेकिन व्यवहार में सामान्य रोगों के उपचार के लिए भी लोग निजी अस्पतालों में भारी रक़म चुका कर इलाज कराने के लिए मजबूर हैं। सरकारी उच्च विशेषज्ञता वाले अस्पताल जैसे 'एम्स' व अन्य बड़े अस्पतालों में महीनों पहले नंबर लगाना पड़ता है और उपचार तक पहुंचते-पहुंचते मरीज़ की हालत ख़राब हो जाती है मजबूरन व्यक्ति निजी अस्पतालों में जाकर इलाज कराता है।

अब सवाल है कि निजीकरण का आख़िर विकल्प क्या है ? वैश्वीकरण के रंग में रंग चुकी दुनिया के बीच भारत के सामने निजीकरण से इतर नागरिकों की स्वास्थ्यरक्षा के क्या बेहतर विकल्प हो सकते हैं? निजीकरण के विकल्प के रूप में दुनिया में सार्वजनिक चर्चित क्यूबा का स्वास्थ्य मॉडल है। क्यूबा का स्वास्थ्य मॉडल वास्तव में कम्यूनिटी ओरिएंटेड प्राइमरी केयर (सीओपीसी) की तरह है। यह एक तरह की गंभीर प्राथमिक उपचार व्यवस्था है। इसमें बीमारी को विकसित होने से पहले ही प्राथमिक स्तर पर रोकथाम एवं उपचार कर रोगी को स्वस्थ कर दिया जाता है। यह मॉडल चिकित्सा बीमा व्यवस्था से बिलकुल अलग रोग न होने यानि 'प्रिवेंटिव हेल्थ" की अवधारणा पर आधारित है। क्यूबा के स्वास्थ्य मॉडल में यह व्यवस्था है कि नागरिकों को समुचित पौष्टिक भोजन एवं रोग से बचाव के हर संभव उपाय बिना किसी परेशानी के मिलते रहें। यहां हर मुहल्ले में एक सरकारी डॉक्टर,

नर्स, कम्पाउंडर तथा आवश्यक दवाएं आदि उपलब्ध हैं। सुबह से दोपहर तक ये चिकित्सक मोहल्ला क्लीनिक में उपचार करते हैं फिर ये लोगों के घर जाकर बुज़ुर्गों व असक्षम बीमारों का इलाज करते हैं। क्यूबा में सरकार यह सुनिश्चित करती है कि डॉक्टर हर गांव/शहर के मुहल्ले में ही लोगों के बीच रहें ताकि उनकी स्वास्थ्य व उपचार संबंधी ज़रूरतें वक़्त पर पूरी कर दी जायें।

क्यूबा में चिकित्सा के उच्चतर अध्ययन (एम.डी. एवं एम.एस.) की पढ़ाई पूरी तरह से मुफ़्त है। यहां भारत में निजी मेडिकल कॉलेजों से एम.डी., या एम.एस. की पढ़ाई के लिए एक करोड़ रुपये ख़र्च हो जाते हैं। क्यूबा में यदि आप डॉक्टर बनना चाहते हैं तो पढ़ाई, भोजन, छात्रावास की सुविधा सब कुछ मुफ़्त है। इस व्यवस्था में वहां ग़रीब घरों से भी प्रतिभाशाली छात्र डॉक्टर बनते हैं। चूंकि क्यूबा में कम्युनिटी ओरिएंटेड प्राइमरी केयर व्यवस्था है इसलिए यहां लगभग 80-85 फ़ीसद बीमारियों का इलाज शुरुआती दौर में ही हो जाता है। इसकी वजह से यहां सुपरस्पेशिलिटी अस्पतालों और इमरजेंसी सेवाओं पर उतना दबाव नहीं रहता। इससे सरकार को स्वास्थ्य सेवाएं संचालित करने में भी सहूलियत रहती है। क्यूबा स्वास्थ्य मॉडल की एक और ख़ासियत यह है कि यहां के प्राइमरी केयर में डॉक्टरों की बेहतर उपलब्धता बनाये रखने के लिए 65 फ़ीसद डॉक्टरों की उच्च शिक्षा और ट्रेनिंग फ़ैमिली मेडिसिन और एक सामान्य फ़िजीशियन के तौर पर दी जाती है।

क्यूबा मॉडल में आम लोगों के पौष्टिक भोजन के लिए भी सरकार ने प्रबंध किया हुआ है। वहां हर मोहल्ले में कोटा आधारित राशन के साथ फल-सब्ज़ी भी सस्ते दर पर उपलब्ध करायी जाती है। इसकी वजह से वहां के आम लोगों के शरीर में इम्यूनिटी का स्तर बेहतर बना हुआ है और वे लोग अपेक्षाकृत कम बीमार पड़ते हैं। इलाज की क़ीमत कम रहे इसके लिए क्यूबा में जेनेरिक दवाओं का प्रचलन ही आम है। क्यूबा की सरकार ने दवा विकास परियोजना के अंतर्गत नयी दवाओं को विकसित करने के लिए स्वास्थ्य विशेषज्ञों और वैज्ञानिकों की एक बड़ी इकाई स्थापित की है। क्यूबा में इलाज के लिए प्रयुक्त दवाओं में 98 फ़ीसद दवाओं का उत्पादन सरकार स्वयं करती है। यही वजह है कि वहां इलाज बेहद सस्ता है। क्यूबा में बायोटेक्नोलॉजी के क्षेत्र में भी बेहतर ध्यान दिया जा रहा है जिसकी वजह से सामान्य बीमारियों के अलावे कैंसर तथा एचआईवी/एड्स जैसी बीमारी का भी इलाज वहां सुलभ है। अपने बेहतर स्वास्थ्य सेवाओं एवं उच्चस्तरीय स्वास्थ्य प्रबंधन की वजह से क्यूबा ने मां से बच्चे में स्थानांतरित होने वाले एड्स तथा सिफ़लिस रोग को पूरी तरह से नियंत्रित कर लिया है। दुनिया की स्थिति देखें तो अभी विकसित देश भी ऐसा नहीं कर पाये हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार क्यूबा में जन्म के दौरान शिशु की मृत्यु दर चार प्रति एक हज़ार है जो दुनिया में सबसे कम है। ऐसे ही क्यूबा में लोगों की औसत आयु 77 वर्ष है जो दुनिया में शीर्षतम स्तर पर है।

क्यूबा में डॉक्टरों की आय वैसे तो बहुत ज़्यादा नहीं है लेकिन सरकार उनके लिए काफ़ी सुविधाएं और व्यवस्था करती है जो वहां के डॉक्टरों द्वारा स्वीकार्य है। क्यूबा के स्वास्थ्य मॉडल की यह ख़ासियत है कि यहां चिकित्सा सेवा है व्यवसाय नहीं। इस समझ को विकसित करने के लिए क्यूबा में शिक्षा के प्राथमिक स्तर से ही नैतिक एवं व्यावहारिक शिक्षा का प्रावधान है। वर्ष 2020 के दौरान देश में फैले कोरोना वायरस संक्रमण के दौर को देखें तो यह अब हर आम और ख़ास व्यक्ति समझ रहा है कि समुचित जन स्वास्थ्य नीति के अभाव में देश में लोगों ने पैसे पानी की तरह बहा दिये

फिर भी निजी अस्पतालों का पेट नहीं भरा और 15-20 लाख रुपये प्रति व्यक्ति ख़र्च करके भी लोग अपने आदमियों को बचा नहीं पाये। महज स्पष्ट नीति के अभाव और सरकारी लापरवाही के कारण देश में कई हज़ार करोड़ रुपये यों ही बरबाद हो गये और हम अपने नागरिकों के लिए ज़रूरी दवाएं तथा आक्सीजन तक का भी इंतजाम नहीं कर पाये। क्यूबा के इस बहुचर्चित स्वास्थ्य मॉडल के बहाने मैं देश के नागरिकों से अपील करना चाहता हूं कि वे संविधान में वर्णित अपने मौलिक नागरिक अधिकारों के तहत सरकार को मुफ़्त गुणवत्ता वाली स्वास्थ्य सुविधाएं प्रदान करने के लिए बाध्य करें। नासमझी और मूर्खता के मुद्दों को छोड़कर देश की आम जनता सरकार और राजनीतिक दलों को मनुष्यों के बुनियादी स्वास्थ्य और शिक्षा की सुनिश्चितता के लिए मजबूर करे, नहीं तो एक साधारण बुख़ार भी आपको लाखों ख़र्च कराकर आपके जीवन की लीला समाप्त कर देगा और आप मूक दर्शक बने रहेंगे। जागिए, अभी भी बहुत कुछ बिगड़ा नहीं है। आपकी समझदारी से स्थिति सुधारी जा सकती है।

भारतीय *संविधान* अपने नागरिकों को 'जीवन रक्षा का अधिकार'' देता है। राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में भी पोषाहार स्तर, जीवन स्तर को ऊंचा करने तथा लोक स्वास्थ्य में सुधार करना राज्यों का दायित्व माना गया है लेकिन *संविधान* की परवाह अब है किसे? नये रोगों की चुनौतियों और घातक महामारियों तथा राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय साज़िशों के बीच जी रहे आम लोगों के लिए सेहत और रोगों के इलाज का सवाल आज एक बड़ा सवाल है। निजीकरण के नाम पर सरकारों ने लोगों को सार्वजनिक स्वास्थ्य व उपचार उपलब्ध कराने की अपनी ज़िम्मेदारी से लगभग दूरी बना ली है, मसलन बीमारी के बाद मरने की मजबूरी ने आम आदमी को तोड़ दिया है। रोज़गार, शिक्षा और स्वास्थ्य के जो बुनियादी सवाल आज़ादी के समय थे आज स्थिति उससे भी ज़्यादा बदतर है। लोग विभिन्न कारणों से जाति, धर्म, समुदाय में बंट कर अपने पैर पर खुद ही कुल्हाड़ी मार रहे हैं लेकिन विडंबना देखिए कि इस असह्य दर्द को भी आम आदमी चुपचाप सहने को मजबूर है। यही उसकी नियति है। स्वास्थ्य और उपचार का सवाल जीवन से जुड़ा है और यह हर नागरिक का मौलिक अधिकार है। स्वास्थ्य सेवाओं को निजीकरण के जाल से बाहर निकाले बग़ैर आप स्वस्थ मानवीय जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। अभी भी वक़्त है। जागिए और सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं की गारंटी के लिए आवाज़ बुलंद कीजिए।

मो. 09868809602

जन अदृश्य, बचा सिर्फ़ तंत्र!

राजेंद्र शर्मा

> 'नीति बनाने वालों को हक़ीक़त का पता होना चाहिए। आप डिजिटल इंडिया का नाम लेते हैं, पर ग्रामीण इलाक़ों में हालात अलग हैं। यह देखना चाहिए कि देश भर में क्या हो रहा है? झारखंड का श्रमिक, राजस्थान में कैसे रजिस्ट्रेशन करायेगा।'

ये शब्द देश के सर्वोच्च न्यायालय के थे। सर्वोच्च न्यायालय की तीन सदस्यीय खंडपीठ ने, जिसकी अध्यक्षता जस्टिस चंद्रचूड़ कर रहे थे, कोविड-19 की दूसरी लहर की पृष्ठभूमि में टीकाकरण समेत ज़रूरी क़दमों के मामले में केंद्र सरकार की नीति तथा उसके निर्णयों पर, स्वत: संज्ञान लेकर की जा रही सुनवाई के क्रम में, मई के आख़िरी दिन की अपनी सिटिंग में यह टिप्पणी की थी। टीके लगवाने के लिए और वह भी तब जब भारत में टीके को प्राथमिकता वाली श्रेणियों यानी फ्रंट लाइन वर्करों व सेना-पुलिस व अन्य सार्वजनिक सेवाओं में लगे लोगों और पहले साठ वर्ष तक आयु के वरिष्ठ नागरिकों पर केंद्रित टीकाकरण के क़रीब तीन महीने के बाद, अठारह वर्ष तक आयु के सभी लोगों के लिए टीकाकरण खोला जा चुका था, टीकाकरण के लिए केंद्र सरकार के कोविन पोर्टल पर पहले रजिस्ट्रेशन कराने के ज़रिये स्लॉट हासिल करना अनिवार्य किये जाने के संदर्भ में सुप्रीम कोर्ट द्वारा यह टिप्पणी की गयी थी। सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रसंग में अंग्रेज़ी के मुहावरे 'स्मैल द कॉफ़ी, एंड वेक अप' का सहारा लिया था, जिसका हिंदी समकक्ष होता है-नींद से जागो और होश में आओ या होश की दवा करो!

वैसे सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी इसी सिटिंग के दौरान टीकाकरण के ही मुद्दे के और भी कई पहलुओं पर टिप्पणियां की थीं, जो न सिर्फ़ महत्वपूर्ण हैं बल्कि देश की वास्तविकताओं को देखते हुए, केंद्र सरकार की टीकाकरण की नीति तथा निर्णयों की वैधता पर, गंभीर सवाल भी उठाती थीं। यहां हम इनमें से दो पहलुओं का ज़िक्र करने तक ही ख़ुद को सीमित रखेंगे। इनमें एक का संबंध टीकों की ख़रीद की ज़िम्मेदारी या नीति से था। सुप्रीम कोर्ट ने सरकार से पूछा था कि 'टीके ख़रीदने के लिए राज्य तथा महानगर निगम ग्लोबल टेंडर निकाल रहे हैं। एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा कर रहे हैं। क्या केंद्र की यही नीति है?' इस सिलसिले में अदालत ने केंद्र सरकार को याद दिलाना भी ज़रूरी समझा था कि, '*संविधान* कहता है कि भारत राज्यों का संघ है। संघीय व्यवस्था के तहत केंद्र को टीकों का अधिग्रहण कर राज्यों को देना चाहिए। राज्यों को अधर में नहीं छोड़ सकते।'

यह वह दौर था जब देश कोविड-19 की दूसरी लहर की भयानक तबाही के बीच, प्राणरक्षा के सबसे महत्वपूर्ण उपाय के रूप में टीकों के महत्व को बखूबी समझ रहा था। इसी संदर्भ में साठ वर्ष की आयु के वरिष्ठ नागरिकों तक शीर्ष प्राथमिकता वर्ग के टीकाकरण की गति अपर्याप्त बनी रहने और पर्याप्त मात्रा में टीके हासिल करने के लिए आवश्यक क़दम उठाने में मोदी सरकार की घोर लापरवाही तथा कृपणता के चलते बढ़ती आलोचनाएं हो रही थीं। स्वाभाविक रूप से राज्य सरकारों द्वारा ज़्यादा

से ज़्यादा टीकों की मांग की जा रही थी। लेकिन, इन आलोचनाओं को अपनी ओर से मोड़ने की ही कोशिश में, मोदी सरकार ने एक नयी विभेदकारी टीकाकरण नीति का एलान किया था। इस नीति के तहत, देश में उत्पादित टीकों में से आधे, प्राथमिकता वाली श्रेणी के टीकाकरण के लिए केंद्र सरकार ख़ुद अपने पास रखने जा रही थी, जबकि शेष 50 फ़ीसद टीके राज्य सरकारों और निजी स्वास्थ्य सुविधाओं समेत निजी क्षेत्र को बराबर के हिस्सों में, ख़रीदने के लिए उपलब्ध रहने जा रहे थे।

इसमें इतना और जोड़ दें कि कुछ राज्य सरकारों द्वारा देश के बाहर के स्रोतों से टीके हासिल करने जो कोशिशें की गयी थीं, वे पूरी तरह से विफल हो चुकी थीं क्योंकि दुनिया भर में टीकों की सीमित उपलब्धता तथा धनी देशों द्वारा उपलब्ध टीकों का ही नहीं, अग्रिम ख़रीद के ज़रिये महीनों आगे तक बनने जा रहे टीकों का भी अधिकांश हिस्सा हथिया लिये जाने को देखते हुए, कोई भी टीका निर्माता कंपनी राज्य सरकारों की टीके ख़रीदने की कोशिशों का जवाब तक देने के लिए तैयार नहीं थी। सचाई यह है कि केंद्र सरकार तक, 2021 के आख़िर तक बाहर से कोई टीके हासिल नहीं कर पायी है। इन हालात में यह विभाजनकारी नीति, टीकों की सीमित मात्रा के लिए राज्यों, संपन्नतर नगर निगमों आदि और निजी क्षेत्र के बीच एक अस्वस्थ होड़ ही पैदा कर सकती थी। सुप्रीम कोर्ट ने अपनी टिप्पणी में इसी की ओर ध्यान खींचा था और केंद्र सरकार को संघीय व्यवस्था के तहत, उसकी इस न्यूनतम ज़िम्मेदारी की याद दिलायी थी कि केंद्रीय स्तर पर ये जीवनरक्षक टीके ख़रीदकर, राज्यों के बीच उनका वितरण करे।

दूसरा इतना ही महत्वपूर्ण पहलू था, इस नयी नीति के तहत देशी टीका उत्पादकों के लिए केंद्र और राज्यों से टीके के अलग-अलग दाम तय किये जाने का। वास्तव में, इस संबंध में पहली नीतिगत घोषणा में तो केंद्र सरकार को दिये जाने वाले 50 फ़ीसद टीकों के लिए ही दाम तय किया गया था, जो उतना ही था जो टीकाकरण के आरंभिक चरण में जब सारे टीके केंद्र सरकार को ही दिये जाने थे, तब टीका कंपनियों को दिया जा रहा था। राज्यों और निजी क्षेत्र को मिलने वाले 50 फ़ीसद टीकों का दाम, देसी टीका उत्पादकों तथा इन ख़रीददारों के बीच दाम पर सौदे में तय किये जाने के लिए छोड़ दिया गया था। इसके पीछे सरकार की धारणा यह थी कि केंद्र सरकार द्वारा चूंकि प्राथमिकता वाली श्रेणी के मुफ़्त टीकाकरण के लिए , अपेक्षाकृत कम दाम पर टीका लिया जा रहा था, राज्यों व निजी अस्पतालों आदि को दिये जाने वाले शेष 50 फ़ीसद टीके से, इन देशी टीका उत्पादकों को 'पर्याप्त' मुनाफ़ा दिलाया जाना चाहिए।

ज़ाहिर है कि इससे टीके के दाम के मामले में घोर अव्यवस्था ही फैल सकती थी, जिसमें टीका कंपनियां टीकों के अपने आधे उत्पादन के लिए अधिकतम दाम वसूलने की कोशिश करतीं। इस कोशिश में टीका कंपनियां राज्यों व निजी क्षेत्र से अनाप-शनाप तरीक़े से बढ़ाकर दाम ही नहीं मांग रही थीं बल्कि सबसे ज़्यादा दाम देने वाले को प्राथमिकता देकर, टीकों के वितरण में घातक विकृति भी पैदा कर सकती थीं। यह सब इतना स्वत:स्पष्ट था कि जो मोदी सरकार कथित देशी टीके के लिए , इज़ारेदाराना अधिकारप्राप्त दवा कंपनियों के लिए महामारी को सुपर प्रोफ़िट बटोरने का अवसर बनाने के जुनून में यह सब नहीं देख पायी थी, उसे भी अगले कुछ दिनों में ही हस्तक्षेप कर न सिर्फ़ राज्यों तथा निजी क्षेत्र के लिए टीके के दाम तय कराने पड़े, हालांकि ये दाम भी केंद्र सरकार से लिए जा रहे दाम से क्रमश: दोगुने तथा तीन-गुने या उससे अधिक थे, इसके साथ ही उसे राज्यों के

बीच टीके के वितरण और राज्यों व निजी क्षेत्र के बीच टीकों के वितरण में निर्णायक की भूमिका भी संभालनी पड़ी। इसके बाद ही टीकाकरण में, कम से कम एक हद तक व्यवस्था बहाल हो सकी। इसके बावजूद, यह व्यवस्था टीकों के मामले में घोर भेदभावकारी होने के साथ ही, राज्यों पर टीकों की कमी की ज़िम्मेदारी तो डालती ही थी, उन पर आबादी के बहुमत के टीकाकरण की और वह भी केंद्र से कम से कम दोगुने दाम पर ख़रीदे गये टीकों से टीकाकरण की ज़िम्मेदारी डालती थी, जिसका बोझ उठाना अपने सीमित तथा महामारी की चुनौतियों के सामने पहले ही कम पड़ रहे तथा लॉकडाउन व आर्थिक रुकावटों के चलते और भी घट गये संसाधनों से, राज्यों के लिए बहुत मुश्किल था। आख़िरकार, राज्यों को आबादी के केंद्र के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा बड़े हिस्से को टीके लगाने थे और वह भी केंद्र से दोगुने दाम पर!

यही वह संदर्भ था जिसमें सुप्रीम कोर्ट ने उक्त टिप्पणी में एक ही टीके के लिए अलग-अलग ख़रीददारों के लिए अलग-अलग दाम तय किये जाने पर आपत्ति जतायी थी। अदालत ने पूछा था कि, केंद्र ख़ुद सस्ते दाम पर टीका ख़रीद रहा है। बाक़ी 50 फ़ीसद टीकों के दाम कंपनियां ख़ुद तय कर रही हैं। इसका क्या मतलब है? उस समय केंद्र सरकार की ओर से पेश हुए सोलिसिटर जनरल, तुषार मेहता ने अदालत से इस पहलू में नहीं जाने का आग्रह करते हुए यह दलील दी थी कि, 'मैं अदालत से गंभीरता से आग्रह करता हूं कि टीके के दाम की जांच में न जाये क्योंकि इससे टीकाकरण कार्यक्रम प्रभावित होगा।' लेकिन, सरकार की इस दलील को, जो वास्तव में ख़ुद सरकार की ग़लतियों से पैदा हुई टीके की भारी तंगी को हथियार बनाकर, 'टीकाकरण कार्यक्रम प्रभावित' हो जाने की धमकी से, एक प्रकार से सर्वोच्च न्यायालय को, 'दाम की जांच' से दूर रहने के लिए ब्लैकमेल करने की ही कोशिश थी, सुप्रीम कोर्ट ने अमान्य कर दिया। उल्टे अदालत ने स्पष्ट किया कि 'हम इस नीति का औचित्य जानना चाहते हैं, जिसमें केंद्र को टीका सस्ता मिल रहा है और राज्य के लिए अलग दाम है।' केंद्र सरकार की ओर से मेहता द्वारा दी गयी यह दलील सुप्रीम कोर्ट को पर्याप्त नहीं लगी कि, 'केंद्र ज़्यादा टीके लेता है, इसलिए क़ीमत कम है। केंद्र ने उत्पादकों से बात कर के दाम तय किये हैं'। उल्टे, यह दलील तो इसे और भी ज़रूरी ही साबित करती थी कि केंद्र सरकार ही, देश-विदेश के टीका उत्पादकों से ज़ाहिर है कि अनुकूलतम दाम पर, ज़्यादा से ज़्यादा टीके ख़रीदे और राज्यों के बीच उनका वितरण करे। याद रहे कि इसकी मांग विपक्षी मुख्यमंत्रियों के अलावा ख़ुद भाजपायी मुख्यमंत्री भी कर रहे थे।

साफ़ है कि इन दोनों ही पहलुओं से ख़ुद केंद्र सरकार के वकील के लिए , अदालत में सीधे-सीधे सरकार की नीति तथा निर्णयों का औचित्य सिद्ध करना मुश्किल हो गया था। अंतत: सरकार द्वारा घोषित नीति की ज़्यादा से ज़्यादा उजागर होती विफलता तथा उनके सचाइयों से पूरी से विमुख होने के ज़्यादा से ज़्यादा बेपर्दा होते जाने के बीच, सुप्रीम कोर्ट के सख़्त सवालों से संकेतित निर्देशों के चलते, मोदी सरकार को एक बार फिर टीकाकरण नीति में बड़ा बदलाव करने का एलान करना पड़ा। अब केंद्र सरकार ने देश में उत्पादित 75 फ़ीसद टीके एक निश्चित दाम पर ख़ुद ख़रीदने तथा राज्यों को मुफ़्त टीके मुहैया कराने और इस तरह, जो मुफ़्त टीकाकरण सिर्फ़ प्राथमिकता वाली श्रेणी तक सीमित था, उसका दायरा बढ़ाकर, 18 वर्ष से अधिक आयु के सभी देशवासियों को मुफ़्त टीका लगवाने की ज़िम्मेदारी स्वीकार की। हां! अब भी अपनी 'बाज़ार निष्ठा' के प्रति वफ़ादार रहते हुए, मोदी सरकार ने 25 फ़ीसद

टीके निजी क्षेत्र के लिए छोड़े जाने का एलान किया, जो निजी क्षेत्र द्वारा कहीं ऊंची 'बाज़ार दरों' पर ख़रीदे और लगाये जाने थे। इस तरह, टीकाकरण कथित रूप से सबके लिए मुफ़्त करने के अपने दावों के बावजूद, मोदी सरकार ने टीकों की भारी कमी के बीच भी दो श्रेणी की टीकाकरण व्यवस्था क़ायम कराना ज़रूरी समझा--मुफ़्त, सरकारी टीका और संपन्नों का टीका!

मई की आख़िरी तारीख़ की सुप्रीम कोर्ट की उक्त लताड़ और उसके दबाव में मोदी सरकार के अपनी सत्यानाशी टीकाकरण नीति के उल्लेखनीय हद तक बदले जाने में, शायद यह पढ़ना जल्दबाज़ी होगी कि सर्वोच्च न्यायालय ने, देश में संविधान व क़ानून के अनुरूप शासन सुनिश्चित करने और शासन की मनमानी से नागरिकों के अधिकारों व स्वतंत्रताओं की हिफ़ाज़त करने की, अपनी उस मूल भूमिका पर लौटना शुरू कर दिया है, जिसकी कल्पना हमारे *संविधान* में निहित शक्तियों के पृथक्करण तथा अंकुशों तथा रोकों या चैक्स एंड बैलेंसेज़ के ताने-बाने के पीछे है। इसी के अति-महत्वपूर्ण हिस्से के तौर पर, हमारे *संविधान* में न्यायपालिका को कार्यपालिका के ही नहीं, विधायिका के भी निर्णयों की वैधानिकता की समीक्षा का अधिकार सौंपा गया है, जो यह सुनिश्चित कर सकता है कि विधायिका में बहुमत के समर्थन के बल पर, कार्यपालिका निरंकुश न हो जाये। नरेंद्र मोदी सरकार के बढ़ते पैमाने पर निरंकुश होते जाने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी रहा है कि उच्च न्यायपालिका में नियुक्तियों के मैनिपुलेशन तथा साम-दाम-दंड-भेद के उपायों से, वह न्यायपालिका के इस अंकुश को बहुत हद तक पंगु करने में कामयाब रही है। सीएए, धारा-370, चुनावी बांड व्यवस्था आदि, अनेकानेक इस सरकार की निरंकुशता के प्रमुख मामलों पर, सुप्रीम कोर्ट का वर्षों से बैठे होना और दूसरी ओर, अयोध्या विवाद पर विवादित फ़ैसला सुनाने में उसका विशेष तत्परता दिखाना, इसी गिरावट के साक्ष्य हैं। टीकाकरण नीति के मामले में सुप्रीम कोर्ट का निर्णायक साबित हुआ हस्तक्षेप, शासन के निरंकुश होने के ख़िलाफ़ अंकुश की न्यायपालिका की इस भूमिका के रसातल में जा लगने के बाद, वहां से वापसी का संकेतक है या नहीं और वापसी का संकेतक है भी तो भी यह संबंधित व्यक्तियों तक ही सीमित वापसी का संकेतक है या संस्थागत वापसी का संकेतक है, इसमें जाने की यहां न ज़रूरत है और न जगह।

यहां सिर्फ़ इतना कहना ही काफ़ी होगा कि उस समय सुप्रीम कोर्ट के हस्तक्षेप से बदलवायी गयी नीति की अनुपयुक्तता इतनी स्वयंसिद्ध है कि अब ख़ुद मोदी सरकार, ज़ाहिर है कि हर स्थिति में अपने सही होने का दावा करने के लिए किसी भी प्रकार के असत्य का सहारा लेने में न हिचकने की अपनी जानी-पहचानी शैली में, अब बदली हुई नीति को दूसरों यानी विरोधियों की मांग मानकर किया गया ऐसा विचलन सिद्ध करने में जुटी हुई है, जिससे उबरकर अपनी वर्तमान मूल नीति पर आ जाने में उसने तनिक भी देर नहीं लगायी थी! दुनिया के सबसे बड़े मुफ़्त टीकाकरण अभियान के श्रेय के उसके दावे इसी को दिखाते हैं। और सुप्रीम कोर्ट की उक्त लताड़ के छ: महीने के बाद, संसद के शीतकालीन सत्र में लोकसभा में कोविड-19 पर हुई लंबी चर्चा के बाद, इस बीच बदल गये स्वास्थ्य मंत्री का जवाब, इसी पैंतरे का शास्त्रीय उदाहरण है। यह दूसरी बात है कि इस बीच, 25 फ़ीसद टीके निजी क्षेत्र के लिए आरक्षित करने की उक्त बदलाव के बाद भी जारी रखी गयी नीति की घातक विफलता भी इस रूप में सामने आ गयी है कि न सिर्फ़ निजी क्षेत्र अपने हिस्से का 25 फ़ीसद टीका उठा ही नहीं पाया है बल्कि बड़ी निजी स्वास्थ्य सेवा शृंखलाओं द्वारा उठाये गये टीके का अच्छा-

ख़ासा हिस्सा बिना उपयोग के पड़ा रह गया है और उसके मियाद खत्म हो जाने से बेकार हो जाने का ख़तरा है। कहने की ज़रूरत नहीं है कि इसका संबंध इसी सचाई से है कि निजी क्षेत्र में ये टीके हज़ार रुपया प्रति 'डोज़' से ज़्यादा के जिस दाम पर उपलब्ध थे, उस दाम पर जनता का विराट बहुमत टीके लगवा ही नहीं सकता था। वास्तव में वर्तमान स्वास्थ्य मंत्री द्वारा संसद में किया गया यह दावा भी इस दुहरी टीका प्रणाली की घोर अनुपयुक्तता का ही सबूत है कि देश में अब तक लगे कुल टीकों में से, सिर्फ़ 3 फ़ीसद निजी क्षेत्र द्वारा लगाये गये हैं।

बहरहाल, हम सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सरकार के लिए की गयी उस याददिहानी पर लौटें, जिसे इस टिप्पणी की शुरू में उद्धृत किया गया है। यह याददिहानी क्या आम तौर पर देश के मौजूदा शासन के चरित्र के संबंध में और ख़ासतौर पर मोदी के राज के सात साल में देश के शासन का जो हाल कर दिया गया है उसके संबंध में, बहुत ही बेधक टिप्पणी नहीं है? बेशक, अब भी देश में इस माने में जनतंत्र है कि मौजूदा सरकार को पांच साल के लिए जनता के वोट से चुना गया है। यह तो ख़ैर दूसरा ही सवाल है कि क्या यह फ़ैसला, जनता के वोट के बहुमत का भी प्रतिनिधित्व करता है या सिर्फ़ इस वोट के सभी हिस्सों में से, सबसे बड़े हिस्से का प्रतिनिधित्व करता है। इसी निर्वाचितता के बल पर यह सरकार अपने दुनिया के सबसे विशाल जनतंत्र की सरकार होने का ढोल पीटती नहीं थकती है। लेकिन, जनता के वोट से निर्वाचित सरकार को, ग़ैर-निर्वाचित न्यायपालिका को यह याद दिलाना पड़ता है कि, 'नीति बनाने वालों को हक़ीक़त का पता होना चाहिए...यह देखना चाहिए कि देश भर में क्या हो रहा है!' इससे बड़ी विडंबना और क्या होगी?

और देश का शासन चलाने वालों को यह याद दिलाने की ज़रूरत पड़ रही थी, एक जानलेवा महामारी के संदर्भ में यानी ऐसे मामले में जहां सीधे-सीधे लोगों की ज़िंदगियां दांव पर लगी हुई थीं। वास्तव में ख़ुद सरकार के कम से कम कर के लगाये गये अनुमानों के अनुसार भी, लाखों जानें तब तक जा भी चुकी थीं। यह मोदी राज में बनी जनतंत्र की भयंकर दुर्गति के बारे में काफ़ी कुछ कह देता है। बेशक! जनतंत्र की ऐसी दुर्गति में मोदी से पहले केंद्र में आयी सरकारों का और ख़ासतौर पर पिछले तीन दशक से चल रहे नवउदारवादी नीतियों के बोलबाले के दौर में आयी दूसरी सरकारों का भी, योगदान रहा है। फिर भी चुनावी जनतंत्र के खोल के बने रहते हुए भी, देश की सरकार और शासन को आम जनता और ख़ासतौर पर मेहनतकशों की चिंता से ऐसी आज़ादी, मोदी राज के सात साल ने ही दिलायी है। और यह संयोग ही नहीं है कि जहां एक सिरे पर मेहनतकशों की चिंता से परम आज़ादी है, वहीं दूसरे छोर पर, बड़े कॉरपोरेट धनपतियों के लिए वैसा ही मोह है। यह मोह सिर्फ़ ऐसी कॉरपोरेटपरस्त नीतियों तक ही सीमित नहीं है, जिनके बल पर मौजूदा भारी आर्थिक गिरावट के बीच भी, अंबानी-अडानी की जोड़ी को न सिर्फ़ एशिया का धनपति नंबर एक और धनपति नंबर दो बना दिया गया बल्कि इसी दौर में ख़ुद देश में जीडीपी के अनुपात में रूप में कॉरपोरेट मुनाफ़ों को, भारत के इतिहास के सर्वोच्च स्तर पर पहुंचा दिया गया है।

फिर भी, सुप्रीम कोर्ट ने सरकार को 'हक़ीक़त' को देखने/समझने की जो याद दिलायी, उसका संबंध आम लोगों को पूरी तरह से आंखों से ओझल ही कर दिये जाने के एक ख़ास तरीक़े से भी है। और यह तरीक़ा है, डिजिटलाइज़ेशन की अनिवार्यता थोपे जाने का। टीके के लिए ऑनलाइन रजिस्ट्रेशन की अनिवार्यता थोपा जाना न तो किसी चूक का मामला था, जिसे सुप्रीम कोर्ट दुरुस्त करा

सकता हो और न ही इस तरह की शर्त पहली बार लगायी जा रही थी। हर तरह के कामों के लिए 'आधार' को अनिवार्य बनाने, जीएसटी के ज़रिये हर तरह के कारोबारों के लिए डिजिटल फ़ाइलिंग अनिवार्य बनाने और नोटबंदी के ज़रिये तथा उसके बाद भी अनेकानेक पाबंदियों के ज़रिये, ग़ैर-डिजिटल लेन-देन को लगभग अवैध ही बना देने के ज़रिये, मोदी के राज के सात साल में, डिजिटल प्रौद्योगिकी को ऐसा छन्ना बना दिया गया है, जिससे छनकर नीचे रह जाने वाले ग़रीबों की विशाल आबादी का, मतदान के मौक़े को छोडक़र, इस सरकार के लिए जैसे अस्तित्व ही नहीं है। हां! उनकी मौजूदगी का ख़याल तब ज़रूर आता है जब उनकी मौजूदगी से सरकार के कॉरपोरेट आक़ाओं की कृषि समेत तमाम आर्थिक क्षेत्रों में खुली लूट के विस्तार में बाधा पड़ने लगती है, जिसे हटाने के लिए नये कृषि क़ानूनों तथा नयी श्रम संहिताओं जैसे क़ानूनों के ज़रिये, उसे इन अदृश्यों को भी, बाक़ायदा और अधिकारहीन बनाना पड़ता है, ताकि उसके मंसूबों में ख़लल नहीं डाल सकें।

अचरज नहीं है कि महामारी के दौर में, डिजिटल शिक्षा से लेकर टीके के लिए डिजिटल रजिस्ट्रेशन की अनिवार्यता तक, इस सरकार के विभिन्न फ़ैसलों में साधारण जनता को छानकर सरकार की चिंता के दायरे से बाहर ही कर दिये जाने की सचाई और खुलकर सामने आ गयी है। लेकिन, यह जनता को आंखों से ओझल करने की आम प्रवृत्ति है, जो इस या उस मामले तक ही सीमित नहीं है। ज़ाहिर है कि यह कोई संयोग ही नहीं था कि कोविड-19 की पहली लहर की शुरुआत में, सिर्फ़ चार घंटे के नोटिस पर देशव्यापी मुकम्मल लॉकडाउन का एलान करते हुए, मोदी सरकार को इसका ख़याल तक नहीं आया था कि शहरों की आबादी में बहुत बड़ा हिस्सा, आम तौर पर मेहनत-मज़दूरी करने वालों तथा ख़ासतौर पर प्रवासी मज़दूरों का था, जिनके लिए लॉकडाउन सिर्फ़ घर पर ही रुके रहने भर का मसला नहीं था, उनके लिए तो इस लॉकडाउन का अर्थ अस्तित्व बचाये रखने का ही प्रश्न सामने आ खड़ा होना था--दिहाड़ी कमायेंगे नहीं, तो उस दिन खायेंगे कहां से! जब छोटे-बड़े सभी शहरों में दिन में एक वक़्त की खिचड़ी के लिए अंतहीन क़तारें लगने लगीं, तभी कहीं जाकर मोदी सरकार को प्रतिव्यक्ति पांच किलोग्राम मुफ़्त राशन का एलान करने की याद आयी। और जब इसके हफ़्तों बाद भी ये क़तारें ख़त्म नहीं हुईं, तभी उसे इसका होश आया कि दसियों लाख प्रवासी मज़दूरों के पास तो राशन कार्ड ही नहीं हैं। और इसके बाद ही इस सरकार को मुफ़्त राशन के लिए राशनकार्ड की शर्त स्थगित करने की याद आयी।

इसी तरह, सिर्फ़ चार घंटे के नोटिस पर लॉकडाउन लागू कर देने और शासन के डंडे के बल पर देश भर में उसका पालन कराने वाली इस सरकार को, इसका कोई अंदाज़ा ही नहीं था कि कमाई के सारे रास्ते बंद हो जाने के बाद, ख़ासतौर पर दूर-दूर से आये प्रवासी मज़दूर, हफ़्तों तक सुदूर शहरों में रहेंगे कैसे? वास्तव में मोदी सरकार ने न सिर्फ़ ग़रीबों की रोज़मर्रा की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए कुछ नहीं किया, उसने न तो यह सुनिश्चित करने की कोई ज़रूरत समझी कि काम बंद होने के बाद भी उनकी आमदनी जारी रहे और न सुदूर शहरों में किराये की जगहों में रह रहे लोगों को, किराये न दे पाने की सूरत में घरों से निकाला नहीं जाये, इसके लिए मकान मालिकों से एक आम अपील करने के सिवा, रत्तीभर कुछ भी करने की ज़रूरत समझी। हां! उसने इतना ज़रूर किया कि रेल, बस आदि सभी सार्वजनिक परिवहन सेवाएं बंद करा दीं ताकि जो जहां है, उसे वहीं रुके रहने के लिए मजबूर किया जा सके। इसका नतीजा दसियों लाख स्त्री-पुरुषों के, अपनी पूरी गृहस्थी सिर पर उठाये, पैदल ही

सैकड़ों किलोमीटर दूर के अपने घर-गांवों की ओर निकल पड़ने की भयंकर त्रासदी के रूप में सामने आया, जिसे सिनेमा समेत विभिन्न माध्यमों पर बख़ूबी और काफ़ी प्रभावशाली तरीक़े से दर्ज किया जा चुका है। महापलायन के उन दारुण दृश्यों ने, 1947 के भारत विभाजन के समय के महापलायन की पीड़ा और आम लोगों की लाचारी की याद दिला दी।

कहने की ज़रूरत नहीं है कि करोड़ों लोगों की ज़िंदगियों को पूरी तरह से उलट-पुलट कर देने वाले निर्णय लेने का अधिकार जिनके हाथों में था, उन्हें उक्त फ़ैसले लेते हुए यह विशाल जनसमूह दिखायी ही नहीं दिया। और यह कोई पहला ही मौक़ा नहीं था। इससे पहले, नोटबंदी का फ़ैसला भी इसी तरह लिया गया, जिसमें इसका कहीं एहसास ही नहीं था कि जनता के विशाल बहुमत की ज़िंदगी पर, उसकी रोज़ी-रोटी पर, इसका क्या असर होगा? ज़ाहिर है कि यह भी जनता के विशाल बहुमत के शासकों को दिखायी ही नहीं देने का ही साक्ष्य था कि जहां उन्नत पूंजीवादी देशों तक ने महामारी के इस दौर में अपनी जनता को मदद देने पर अपने जीडीपी का पंद्रह-बीस फ़ीसद तक ख़र्च किया है, मोदी सरकार ने मुश्किल से एक फ़ीसद पर ही विराम लगा दिया और कोरोना पर जीत का एलान भी कर दिया था। वास्तव में दूसरी लहर में तो उसने अपनी मुट्ठी और भी कसकर बंद किये रखी है।

फिर भी एक ऐसे देश में, जहां चौथाई से ज़्यादा आबादी निरक्षर है और आबादी का प्रचंड बहुमत डिजिटली-निरक्षर है, डिजिटलता की छन्नी मेहनतकश ग़रीबों के प्रचंड बहुमत को और ज़्यादा वंचित तथा अधिकारहीन बनाने और वास्तव में नज़रों से ओझल करने का ही, ख़ासतौर पर मारक हथियार बन गयी है। मोदी सरकार इस हथियार को बड़ी निश्चिंतता से आज़माती रही है और सुप्रीम कोर्ट के लताड़ के सुर में 'हक़ीक़त' की याद दिलाने के बावजूद, उसके ऐसा करते रहने से पीछे हटने के कोई आसार नहीं हैं। लेकिन, यह क़िस्सा सिर्फ़ मेहनतकश ग़रीबों के शब्दश: आंखों से ओझल ही किये जाने पर ख़त्म नहीं हो जाता है। बेशक, हमारे जैसे विकासशील देशों में, उदारीकरण के पहले दशक में शायद बात मुख्यत: ग़रीबों के आंखों से ओझल किये जाने तक ही सीमित थी। इसे बहुत ही उपयुक्त तरीक़े से 'सशेशन ऑफ़ सक्सेसफुल या कामयाबों का अलग्योझा के रूप में पहचाना गया था --जो संपन्न है, उसने बाक़ी समाज व जनता की तरफ़ से बस मुंह ही फेर लिया, उसे भुला ही दिया है! लेकिन, नवउदारवाद के तीन दशक बाद, कम से कम भारत में बात उससे कहीं आगे बढ़ चुकी है। मोदी सरकार सिर्फ़ आम जनता के न्यूनतम हितों की तरफ़ से भी आंखें मूंदकर, उसे बिल्कुल अनदेखा करने तक ही सीमित नहीं है। इससे आगे वह अपने मित्र कॉरपोरेटों द्वारा ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़े जाने का रास्ता निरापद करने के लिए , किसानों, मज़दूरों व अन्य ग़रीब मेहनतकशों से उन संरक्षणों को भी ज़्यादा से ज़्यादा छीनने पर भी तुली हुई है, जो साम्राज्यवादविरोधी आंदोलन से मिली स्वतंत्रता के हिस्से के तौर पर, उन्हें हासिल हुए थे। बहरहाल, ऐतिहासिक किसान आंदोलन की असाधारण जीत इसकी सबूत है कि मेहनतकश अवाम को ही नहीं देख पाने वाले शासक, ख़ुद ज़्यादा दिन शायद ही दिखायी देंगे।

मो.9818097260

लोकतंत्र पर लपकते भेड़िये और उनके जबड़ों में फंसती चुनाव प्रणाली

बादल सरोज

अभी अभी जुलाई में हुए उत्तरप्रदेश के त्रि-स्तरीय पंचायत चुनावों में ब्लॉक और ज़िला अध्यक्षों के चुनावों में लोकतंत्र की कपालक्रिया का नज़ारा पूरे देश और समूची दुनिया ने अपने अपने मोबाइल और कुछ टीवी चैनलों पर लाइव देखा। जो सत्ता पार्टी भाजपा के नहीं थे उन्हें घसीट पछीट कर पीटे जाने के दृश्य दक्षिण की फ़िल्मों के फ़ाइट सीन के निर्देशकों के लिए भी काम आने लायक़ थे। महिला उम्मीदवार और मतदाताओं के चीरहरण के दृश्य *महाभारत* के वर्णन की कल्पनाशीलता को भी सतही साबित कर रहे थे। मसला सिर्फ़ सीधी हिंसा का ही नहीं था - हरेक वीडियो में आला पुलिस और प्रशासनिक अफ़सरों की मौजूदगी का भी था जो ज़्यादातर मामलों में वे सिर्फ़ धृतराष्ट्र की भूमिका भर में नहीं थे, दुःशासन और जरासंध की तरह दुर्योधन के चाकर सिपहसालार बनकर सत्ता पार्टी के गुंडों के ढाल कवच और त्रिशूल भाले की भूमिका निबाह रहे थे।

नतीजा यह निकला कि भारत नाम के देश के राजनीतिक रूप से सबसे अधिक ध्रुवीकृत प्रदेश - उत्तरप्रदेश - में ज़िला पंचायत अध्यक्ष के लिए नामांकन दाख़िल करने वाले दिन ही 22 भाजपाई निर्विरोध जीत गये। बची खुची कसर 3 जुलाई को पूरी हो गयी जब अध्यक्षी की बाक़ी 75 सीटों के लिए हुए चुनावों में भाजपा का दावा है कि उसने 67 हथिया लिये। ब्लॉक अध्यक्षी में भी यही सब हुआ। कुल 825 ब्लॉक अध्यक्षों के लिए नामांकन के दिन ही भाजपा के 290 प्रत्याशी निर्विरोध चुन लिये गये क्योंकि उनके ख़िलाफ़ किसी और को नामांकन ही दाख़िल नहीं करने दिया गया। नाम वापसी के दिन तक निर्विरोधों की संख्या 349 तक पहुंच गयी। यह उस चुनाव की हालत है जिसमे सबसे निचले स्तर के चुनावों में, जहां प्रत्यक्ष मतदान में सीधे जनता वोट डालती है, भाजपा का लगभग सफ़ाया हो गया था। मोदी के बनारस, योगी के गोरखपुर से लेकर मंदिर वाली अयोध्या और फ़ैज़ाबाद तक सभी ज़िलों में भाजपा की ज़ोरदार धुलाई हुई थी। वह तीसरे या चौथे नंबर पर रही थी।

यह 'जम्बूद्वीपे भारतखण्डे' में चुनावी लोकतंत्र का सबसे 'विकसित और परिमार्जित' संस्करण है। ज़्यादा सटीक 'स्थगित संविधान और निलंबित लोकतंत्र' कहना होगा। ऐसा अचानक नहीं हुआ - अनायास नहीं हुआ। क्यों और कैसे हुआ इस पर आने से पहले थोड़ी नज़र चुनाव के अधिकार पर डालना उचित होगा।

यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि अपनी वर्गीय सीमाओं के बावजूद भारत का *संविधान* कई मामलों में अनोखी किताब है। भारत में दर्शन, साहित्य की बहुत विपुल संपदा मौजूद है। आदिवासी भाषाओं को छोड़ दें तो दुनिया की सबसे पुरानी भाषा तमिल है, उसका संगम साहित्य है। संस्कृत / प्राकृत, पाली जैसी प्राचीन और नयी सैकड़ों भाषाएं हज़ारों बोलियां हैं। इनमे खूब समृद्ध साहित्य है किंतु इस 5000 वर्ष के इतिहास में *संविधान* वह पहली किताब है जो लिखापढ़ी में हर तरह के श्रेणीक्रम, जाति, वर्ण, लिंग, भाषा, क्षेत्र के आधार पर ऊंच नीच, ग़ैरबराबरी को प्रतिबंधित करती है। उसे दंडनीय अपराध बनाती है। उन असमानताओं को आपराधिक और अमानवीय बताती है जिन्हे कुछ शातिर धूर्तों ने धर्म का बाना पहना दिया था। भगवानों की सील मोहर लगाकर बाध्यकारी बना दिया था।

यह कोई मामूली काम नहीं था - यह बहुत बड़ा काम था। इसने भारतीय समाज - सोये, ठहरे हुए, जड़ संबंधों में जकड़े समाज के रूपांतरण की सीढ़ियों का सदियों से बंद दरवाज़ा खोला था। जैसे एक ही बात, हर नागरिक के मत को बराबर का अधिकार देने, महिलाओं को भी मताधिकार देने की ले लें। संविधान में यह अधिकार उस समय

दिया गया जब अनेक कथित विकसित देशों में भी यह नहीं था। भारत के *संविधान* ने उस समय वयस्क सार्वत्रिक मताधिकार के आधार पर सरकार के निर्वाचन की व्यवस्था की थी जब दुनिया के कथित विकसित देशों सहित अनेक देशों में यह सारे नागरिकों के लिए नहीं था। कहीं संपत्ति होने का आधार था तो ज़्यादातर मामलों में महिलाएं इससे बाहर थीं। इस तरह लोकतंत्र की क़ायमी *संविधान* की एक प्रमुख विशेषता है।

क्या यह उस समय के राष्ट्रीय नेताओं की विद्वत्ता और लोकतांत्रिकता का नतीजा था ? क्या संविधान सभा की बहसों से निकला था लोकतंत्र, सार्वत्रिक मताधिकार वग़ैरा वग़ैरा ? दिखने में हां, लेकिन असलियत में नहीं !!

कोई भी बहस या मंथन या चर्चा शून्य में नहीं होती - वास्तविक परिस्थितियों की बुनियाद पर खड़ी होती है। एक ख़ास विमर्श की निरंतरता में होती है। भारत का *संविधान* नाम की यह किताब भी 1857 के महाविप्लव से शुरू हुए महामंथन का नतीजा थी जिसे 1919 के जलियांवाला बाग़ से तेज़ और व्यवस्थित रफ़्तार मिली। यह वह दौर था जब क्रांतिकारी और स्वतंत्रता संग्राम की अनेक धाराएं लड़ती भी थीं, फांसी भी चढ़ती थीं, जेल भी जाती थीं और इसी के साथ बहस भी करती थीं। भगतसिंह की धारा, कांग्रेस में चली बहसें, गांधी, नेहरू, आंबेडकर, पेरियार, कम्युनिस्ट, समाजवादी, मज़दूर किसान छात्र आंदोलन, सांस्कृतिक आंदोलन, अनेक जागरण इसी तरह की धाराएं थीं। सबसे बढ़कर रूस की समाजवादी क्रांति से पैदा हुई चकाचौंध का असर था। इस मंथन के तीन आयाम थे ; *एक* गुलाम कैसे बनें, *दो* आज़ाद कैसे होंगे, *तीन* आज़ादी के बाद ऐसा क्या करेंगे ताकि भविष्य में कभी गुलाम न बनें ; मोटे तौर पर भारत का *संविधान* इस बहस का आम स्वीकार्य सार है। लोकतंत्र इसका आधार है - चुनाव इसका एक ज़रूरी रूप है।

जुलाई 2021 की यूपी की दशा में चुनावी लोकतंत्र अचानक से नहीं पहुंचा है। स्वतंत्रता आंदोलन की गर्मी के ठंडा होने के पहले ही लोकतंत्र को ठंडा करने का धतकरम शुरू हो गया था। इसके जहां वैचारिक आधार हैं वहीं वे व्यवहार भी हैं जिनमें जस तस सत्ता पाने की होड़ में आगे निकलने की हवस में लोकतंत्र को ही पीछे छोड़ दिया गया। शुरुआत 1959 में ही कर दी गयी थी,जब बिना किसी कारण के धारा 356 का इस्तेमाल कर ईएमएस नंबूदिरीपाद की अगुआई वाली केरल की निर्वाचित सरकार को बर्ख़ास्त कर दिया गया। उसके बाद तो यह धारा जैसे तब की सत्ता पार्टी के लिए अल्लादीन का जादुई चिराग़ बन गयी। जब जी चाहा इसे रगड़ा और विपक्षी पार्टियों की सरकारों की जगह जिन्न बिठा दिया।

मगर सरकार में बने रहने की लालसा ऐसी होती है कि क़ाबू में ही नहीं आती। इसी लिप्सा का अगला चरण उस कौशल के रूप में आया जिसने जनता के लोकतंत्र को और दरिद्र बनाते हुए हिंदी भाषा को 'आयाराम गयाराम' के मुहावरे से समृद्ध किया। मगर भारतीय राजनीति में एक धारा - वामपंथ - ऐसी भी थी जहां यह मुहावरा अमल में नहीं लाया जा सकता था - इन्हें बार बार 356 के डंडे से हांका या डराया भी नहीं जा सकता था। इनके लिए एक अतिरंजित और रक्तरंजित एपिसोड आया जिसे 1972 में हुए पश्चिम बंगाल विधान सभा के चुनावों में देखा गया ; जब तब की केंद्र की सत्ता पार्टी में मस्तानों ने पुलिस फ़ौज के साथ मिलकर सारे पोलिंग बूथ्स कब्ज़ा लिये और सुबह 9 बजते बजते तक ज़्यादातर वोट छाप दिये गये। मगर इसकी भी एक सीमा होती है। दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना की तर्ज़ पर बंगाल से शुरू हुई यह एक पार्टी के एकाधिकार की तानाशाही जून 1975- मार्च 1977 की इमरजेंसी तक पहुंची और जैसे ही मौक़ा मिला वैसे ही जनता ने अपने वोटों से इसे धराशायी कर दिया - एक पार्टी राज की स्थिति ही समाप्त कर दी।

मगर उसके बाद से चुनाव और लोकतंत्र के बीच खाइयां चौड़ी हुई हैं। इसके पीछे मोटे तौर भारत की शासकवर्गी पार्टियों द्वारा *संविधान* के साथ किया गया विश्वासघात है। स्वतंत्रता आंदोलन और संविधान निर्माताओं ने आज़ाद भारत के शासकों को ज़िम्मा दिया था कि वे लोकतंत्र का विस्तार कर इसे वास्तविक बनायें। इसे बहुत अच्छी तरह से डॉ. बी आर आंबेडकर ने 25 नवंबर 1949 को संविधान सभा में दिये अपने आख़िरी भाषण में सूत्रबद्ध किया था कि *'हमने राजनीतिक लोकतंत्र तो क़ायम कर लिया - मगर हमारा समाज लोकतांत्रिक नहीं है। भारतीय सामाजिक ढांचे में दो बातें अनुपस्थित हैं, एक स्वतंत्रता (लिबर्टी), दूसरी भाईचारा-बहनापा (फ्रेटर्निटी)'* उन्होंने चेताया था कि *'यदि यथाशीघ्र सामाजिक लोकतंत्र क़ायम नहीं हुआ तो राजनीतिक लोकतंत्र भी सलामत नहीं रहेगा।'* यह कहना अंडर स्टेटमेंट होगा कि ठीक यही काम हुकूमतों ने नहीं किया, सच तो यह है कि ठीक इससे उलट काम किया

गया। इसके नतीजे में जिसे इन दिनों *पहचान की राजनीति* कहा जाता है वह उभरी। जाति से उपजाति और गोत्र होते हुए चुनाव सिर्फ़ वोट जुगाड़ने का अंकगणित बन गये और सार्वजनिक मुद्दे, नीतियां और उनकी दिशा सिरे से ग़ायब हो गयी। एक तरह से लोकतंत्र से उसके ढांचे की नींव अलहदा हो गयी और वह जाति की लहरों में इधर उधर तैरते बहते अंत में शंखध्वनि और अज़ानों की गूंज से तिरते गुज़रते घंटों-घंटरियाओं-भालों और नेजों की पैनी नोकों से ऐसा छिदा कि *महाभारत* के भीष्म की तरह उत्तरायण के इंतज़ार में शरशय्या पर आ धरा है और प्यास बुझाने के लिए ताज़े जल की गुहार कर रहा है। *संविधान* निर्माताओं ने जिस सांप्रदायिकता को लोकतंत्र का निषेध बताया था, चुनावों में धार्मिक आधार पर अभियान को दंडनीय बनाकर प्रतिबंधित किया था - वही आज उसे अपने जबड़े में कसे बैठा है। और जैसा कि होता है ; गिरने की कोई सीमा नहीं होती - यहां भी यही हो रहा है और किस स्तर तक हो रहा है इसे कर्नाटक की भाजपा के सर्कस में सब देख रहे हैं जहां, इन पंक्तियों को लिखते समय, एक धर्म विशेष के भी एक पंथ के 32 मठाधीश अपने अपने धर्मज्ञान को चुटिया में लपेटे एक सिद्धहस्त भ्रष्ट मुख्यमंत्री का सुरक्षाकवच बने खड़े हैं।

यह बीमारी पूंजीवाद के भेड़िये के वयस्क होने, ख़ासतौर से नब्बै के दशक से और विकराल हुई और चुनावी लोकतंत्र की थोड़ी बहुत बची सांसें भी अवरुद्ध कर उसे वेंटीलेटर पर पहुंचा दिया। पूंजीवाद के कारपोरेटी होने और उसके बाद हिंदुत्व के साथ गांठ बांध लेने के बाद से तो जैसे चुनावों को एक त्रासद प्रहसन में बदलकर रख दिया है। लिखापढ़ी में चुनावी ख़र्च की सीमाएं (अधिकतर राज्यों के लिए ये लोकसभा सीट पर 77 लाख रुपये और विधानसभा सीट पर 30 लाख 80 हज़ार रुपये प्रति उम्मीदवार निर्धारित हैं) तो 90 प्रतिशत भारतीय नागरिकों की हैसियत से पहले ही पूरी तरह बाहर थीं - वास्तविक ख़र्च में तो दिमाग़ चकरा देने वाली सीमा 20 से 50 करोड़ रुपये प्रति सीट / प्रति उम्मीदवार तक पहुंचती है। कंबल, दारू बांटे जाने से शुरू हुई प्रवृत्ति बढ़ते बढ़ते अब हर परिवार को , फ़िलहाल, 1000 से 2000 रुपये प्रति वोट नक़द देने की विकृति तक पहुंच गयी है। लेनदेन की दरें काफ़ी दिलचस्प हैं ; सरपंची के कई चुनावों में वोट की एवज में परिवार के घर के आगे एक नयी मोटर साइकिल खड़ी कर देना। ज़िला पंचायत की अध्यक्षी के चुनाव में ज़िला पंचायत सदस्यों के एक एक वोट की बोली का 25 से 50 लाख रुपयों तक पहुंच जाना अब आम बात होती जा रही है। ज़ाहिर सी बात है इतनी विराट धनराशि कोई अपना खेत बेचकर नहीं लाता। यह कहीं से आती है - जहां से आती है वहां से खैरात या दान में नहीं आती, शर्तों के साथ और जीतने के बाद कराये जाने वाले काम के भुगतान के रूप में आती है। यह राशि अकूत है - अपरंपार है - बेशुमार है।

राजनीतिक दलों द्वारा चुनाव आयोग और इनकम टैक्स को दिये ब्यौरे को ही सच मान लें तो भी पिछले एक दशक में अकेली भाजपा ने दसियों हज़ार करोड़ रूपये इकट्ठा किये हैं। उगाही का नया ज़रिया - इलेक्टोरल बांड्स - तो इस पार्टी के लिए अलीबाबा के ज़माने के चालीस चोरों की गुफा से भी ज़्यादा बड़ा भंडार साबित हुआ है। इसका 64 से 80 प्रतिशत तक अकेली भाजपा के खाते में गया है। यह दिखने वाली रक़म है - अदृश्य राशि कम से कम इससे बीस गुना है। इतना सारा पैसा चुनावी लोकतंत्र को कहां ले जाकर खड़ा करेगा, यह आम आदमी भी समझ सकता है। कारपोरेटी फ़ंडिंग की यह विपुल राशि छोड़ भलाई बाक़ी सब कामों में इस्तेमाल होती है। अख़बार और टीवी चैनल ख़रीदे जाते हैं, एक दो वर्ष पहले से कुछ हज़ार रुपये महीने पर पन्ना प्रमुख (मतदाता सूची के एक पृष्ठ के प्रभारी) नियुक्त किये जाते हैं, नक़द भुगतान कर वोट ख़रीदे जाते हैं और जब इस सबके बावजूद बात नहीं बने तो कर्नाटक और मध्यप्रदेश की तरह थोक के भाव चुने हुए विधायकों को ख़रीद कर (कर्नाटक में कीमत 60 करोड़ रुपया प्रति विधायक थी, मध्यप्रदेश में यह 35 करोड़ थी, हालांकि दलित विधायकों को 10 करोड़ ही मिले) जनादेश को उलटने के कुकर्म किये जाते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है - कारपोरेट फ़िडिंग नहीं करता निवेश (इन्वेस्टमेंट) करता है और 10 के 1000 के भाव वापस वसूलता है। 2014 के लोकसभा चुनाव से पहले प्रोडक्ट मोदी के ब्रांड को लॉन्च करने में कारपोरेट ने कोई 5 हज़ार करोड़ रुपयों का निवेश किया था - उसकी वसूली में कितने लाख करोड़ उसने अब तक कमा लिये इसकी गिनती करना संभव नहीं है। इसका एक नज़रिया आकलन इस दौरान बेची गयी संपत्तियों और खोली गयी राहों से लिया जा सकता है। उनके मुनाफ़े की लूट के लिए मज़दूर किसानों के हाथ पांवों में जकड़ी जाने वाली बेड़ियों के बोझ से कूता जा सकता है। लोकतंत्र का संकुचन इसी लेनदेन का हिस्सा है। यह असली शासकों और उनकी

कठपुतलियों दोनों के अस्तित्व की अनिवार्य पूर्वशर्त है। ठीक यही कारण है कि इस गंठजोड़ के ख़िलाफ़ लड़ाई अपने अंतिम निष्कर्ष में लोकतंत्र को बचाने की लड़ाई है।

उत्तरप्रदेश से बात शुरू की थी इसलिए एक बार फिर उत्तरप्रदेश !!

यूपी के ज़िला और ब्लॉक पंचायत अध्यक्षों के चुनावों में जो हुआ वह असल में 2022 की फ़रवरी मार्च में होने वाले विधानसभा चुनाव और 2024 के लोकसभा चुनाव का पूर्वाभ्यास है। मौजूदा हुक्मरान इतने पढ़े लिखे तो हैं ही कि दीवार पर लिखी इबारत को पढ़ लें। उस इबारत को सुधारना उनके बूते में नहीं है, इसलिए वे दीवार को ही गिराने पर आमादा हैं। यह आशंका तब और अधिक ख़तरनाक हो जाती है जब सत्ता में ऐसा गिरोह बैठा हो जिसका *संविधान* और लोकतंत्र में यक़ीन ही नहीं है। जिसका नियंत्रण उस राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हाथ में है जिसने 1946-47 से लेकर 1950 तक ज्ञापन और विरोध प्रदर्शन कर संविधान सभा के गठन और *संविधान* बनाये जाने का ही मुखर विरोध किया था। जिसने तब धड़ल्ले से कहा था कि नये *संविधान* की कोई आवश्यकता ही नहीं है, इस देश का प्राचीनतम संविधान *मनुस्मृति* है,उसी के आधार पर राज चलाया जाना चाहिए। जिसके 'परम पूज्यनीय गुरु' एम एस गोलवलकर ने सार्वत्रिक मताधिकार से होने वाले चुनावों को हिकारत के साथ धिक्कारते हुए इसे एक ऐसी 'मुण्ड गणना' बताया था जिसमे 'अपढ़ और पसीने की दुर्गंध वाले' और 'समाज के बड़े तथा प्रतिष्ठित' लोगों का वोट बराबर होता है। उन्होंने भी *मनुस्मृति* के आधार पर उस हिंदू पदपादशाही की बात की थी जिसका एकमात्र उदाहरण पेशवाशाही थी।

पूंजी को पहले ही खटकता रहा है लोकतंत्र - अब उनके साथ उनसे बड़े वाले लोकतंत्रद्वेषी भी आन मिले हैं। इस अलोकतांत्रिकता की सर्वग्रासी संहारक आक्रामकता के अनेक आयाम है किंतु अभी सिर्फ़ एक आयाम पर ही चर्चा करनी है। लुब्बेलुबाब यह है कि यह सब उलटा नहीं गया तो बचेगा *संविधान* भी नहीं। बाबा साहब के जिस भाषण का उद्धरण पहले दिया गया है अपने उसी भाषण में उन्होंने दो चेतावनियां और दी थीं। एक तो यह कि *'संविधान कितना भी अच्छा बना लें, इसे लागू करने वाले अच्छे नहीं होंगे तो यह भी बुरा साबित हो जायेगा।'* अब भला इनसे भी बुरे और क्या हो सकते हैं !! दूसरी बात उन्होंने कही थी कि *'अपनी शक्तियां किसी व्यक्ति - भले वह कितना ही महान क्यों न हो - के चरणों में रख देना या उसे इतनी ताक़त दे देना कि वह संविधान को ही पलट दे। संविधान और लोकतंत्र' के लिए ख़तरनाक स्थिति है।'* इसे और साफ़ करते हुए वे बोले थे कि *''राजनीति में भक्ति या व्यक्ति पूजा संविधान के पतन और नतीजे में तानाशाही का सुनिश्चित रास्ता है।'* आंबेडकर यह बात जिनके बारे में कह रहे थे वे नेहरू, पटेल और उन्हीं के क़द के बड़े लोग थे। इन दिनों जैसे फ़ासिज़्म के गुटके नहीं थे।

इसलिए बिलाशक यह समय भारत उसके *संविधान* और लोकतंत्र पर झपट रही भेड़ियों की फ़ौज से लड़ने और उसके लिए क़तारबद्ध होने का समय है। सार्वत्रिक मताधिकार और समानता की धारणा संविधानसम्मत समझ की तरफ़ लपक रही लपटों को बुझाने के लिए हर मोर्चे पर लड़ने का समय है। ठीक वैसे जैसे गांव की आग बुझाते हैं - पीने का पानी, कुंए, हैंडपंप का पानी, पोखर, तालाब का पानी और जहां जैसा वैसा उजला पानी, कम उजला पानी लाते और जुटाते हैं, लाना और जुटाना होगा। इसी के साथ, इसके बाद नहीं, इसी के साथ लड़ना होगा इस भारत विरोधी हिंदुत्व के पालनहार कारपोरेट से - वैसे ही जैसे 3 कृषि क़ानूनों के ख़िलाफ़ किसान और 4 लेबर कोड के ख़िलाफ़ मज़दूर डटे हैं। मगर इसी दौरान मनु को देश निकाला देने के लिए विशेष ज़िद के साथ लड़ना होगा। यह लड़ाई बाद में फ़ुर्सत से, अलग से नहीं लड़ी जायेगी, एक साथ लड़ी जायेगी। और यह भी कि यह लड़ाई समाज में ही नहीं लड़ी जायेगी - यह घर, परिवार और अपने खुद के भीतर भी लड़ी जायेगी।

इसे लड़ना - और जीतना होगा - साथ साथ। क्या ऐसा होगा ? ऐसा ही होगा - क्योंकि इतिहास हादसों के नहीं, निर्माणों के होते हैं।

मो. 9425006716

केंद्रीय सत्ता-संस्कृति ने कोरोना को भयावह बनाया

उर्मिलेश

केंद्र सरकार ने पिछले वर्ष के शुरुआती महीनों में कोविड-19 के संक्रमण और उसके ख़तरों को बहुत हल्के में लिया। कोराना से निपटने के लिए केंद्र और राज्यों के बीच समन्वय और सहयोग का पुख़्ता तंत्र बनाने की बजाय तत्कालीन केंद्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय के प्रवक्ताओं ने तो यहां तक कहा कि भारत में कोविड-19 से किसी तरह की 'मेडिकल इमर्जेन्सी' नहीं आने वाली है। यही नहीं, कोरोना-संक्रमण के बढ़ते ख़तरों से निपटने की ठोस रणनीति बनाने की बजाय सरकार के नुमायंदे और सत्ताधारी पार्टी के नेता तरह-तरह के विभाजनकारी जुमले उछालते रहे। महामारी में भी नफ़रत और विभाजन का 'खेल' जारी रहा। एक बेहद ख़तरनाक वायरस की प्रकृति और उसके प्रकोप की घातक क्षमता को समझने और उससे देश को बचाने में जुटने की बजाय सत्ताधारी नेता काफ़ी समय तक अजीबोग़रीब हरकतें और निरर्थक फ़ैसले करते रहे। महामारी दस्तक दे चुकी थी लेकिन तब भी हमारे सत्ताधारियों ने 'आपदा में अवसर' तलाशना जारी रखा। वे कैसा अवसर तलाश रहे थे, किस बात का अवसर? यह सब लोगों को जल्दी ही समझ में आने लगा।

मार्च-अप्रैल, 2020 में महामारी के शुरुआती दौर में सत्ताधारी खेमे ने अपने 'टीवीपुरम्' और प्रशासनिक मशीनरी का इस्तेमाल करते हुए तब्लीग़ी जमात को लेकर विवाद खड़ा कराया और फिर नफ़रत और विभाजन का अजीबोग़रीब माहौल बनाना शुरू किया। महामारी के बीच सांप्रदायिक ध्रुवीकरण का ऐसा घिनौना षड्यंत्र इस देश ने शायद ही कभी देखा था। दिल्ली के निज़ामुद्दीन इलाक़े में अवस्थित तब्लीग़ी जमात के एक कार्यक्रम में आये लोगों की धरपकड़ होने लगी और उन्हें 'कोरोना जेहादी' के रूप में प्रचारित किया गया। कुछ दिन तक सरकार और मीडिया, ख़ासकर अपने को राष्ट्रीय न्यूज़ चैनल बताने वाले सत्ता के टीवीपुरम् का सारा ध्यान तब्लीग़ी जमात की तरफ़ रहा। इस दौरान केंद्र सरकार ने समय रहते एयरपोर्ट, रेलवे स्टेशन और अन्य सार्वजनिक स्थलों पर बाहर से आये लोगों की कोरोना जांच कराने की कोई कोशिश तक नहीं की। देश के लिए यह बहुत महंगा और ख़तरनाक खेल साबित हुआ!

शुरू में राज्यों को न तो ज़रूरी सूचना दी गयी और न किसी तरह का सुझाव। प्रशासनिक स्तर पर ऐसा तदर्थ और ढीला-ढाला रवैया शायद ही दुनिया के किसी ज़िम्मेदार और बड़े देश में देखा गया हो! सरकार को इस बात का अंदाज़ा भी नहीं था कि कोरोना अगर जल्दी ही महामारी बनकर देश के विभिन्न हिस्सों में फैल गया तो इतनी सीमित स्वास्थ्य-सेवा संरचना से वह चुनौती का सामना कैसे करेगी? संभवतः केंद्र सरकार ने निजी क्षेत्र की स्वास्थ्य सेवा पर ज़्यादा भरोसा कर लिया। यही कारण है कि कोरोना संक्रमण के कई प्रदेशों में फैलते ही सरकार ने निजी क्षेत्र के अनेक सितारा और

महंगे अस्पतालों को कोरोना के विशेषज्ञ-इलाज का केंद्र घोषित कर दिया, लेकिन उनके चिकित्सा शुल्क आदि को न तो कड़ाई से नियंत्रित किया गया और न ही किसी तरह की नियमन-रूपरेखा (रेगुलेटरी फ्रेमवर्क) बनायी गयी। केरल सहित दक्षिण के कुछ सूबों को छोड़ दें तो अपने देश के उत्तर, मध्य और पश्चिम के ज़्यादातर हिस्सों में जन-स्वास्थ्य सेवा संरचना का सख़्त अभाव रहा है। आधिकारिक तौर पर सरकार भी इस असलियत से वाक़िफ़ थी। उसके पास ठोस आंकड़े मौजूद थे। सरकार को इस बारे में सोचना चाहिए था, जिसे उसने बिल्कुल नज़रंदाज़ किया। कोरोना से अचानक 13 लोगों के मरने की खबर आयी और संक्रमण के 680 से अधिक मामले दर्ज किये गये। तब जाकर सरकार ने 15000 करोड़ रुपये की राशि पीपीई किट आदि की ख़रीद के लिए आबंटित किया। 21 दिनों का पहला लॉकडाउन राज्य सरकारों के मशविरे या किसी तरह के संवाद के बग़ैर घोषित हुआ था। 'मन की बात' और 'राष्ट्र के नाम संदेश' देने के शौकीन प्रधानमंत्री ने टीवी चैनलों पर अवतरित होकर कोरोना के मद्देनज़र लॉकडाउन का ऐलान किया। तब से अब तक कोरोना से देश में भयानक तबाही दर्ज हो चुकी है। मौतों के सरकारी आंकड़ों पर सरकारी दफ़्तरों में भी कोई यक़ीन नहीं करता। एशिया में सबसे ज़्यादा कोरोना संक्रमित लोगों की संख्या भारत में दर्ज हुई है और दुनिया में हम दूसरे नंबर पर हैं। बेरोज़गारी और अर्थव्यवस्था की तबाही के बीच प्रधानमंत्री मोदी ने 'आपदा में अवसर तलाशने' का अपने समर्थकों का अजीबोग़रीब आह्वान किया। उन्होंने आज तक अपने इस जुमले की व्याख्या नहीं की। आख़िर इस 'अवसर' से उनका क्या तात्पर्य है?

भारत में अमेरिका की तरह न तो राष्ट्रपति प्रणाली है और न रवांडा, हंगरी या अजरबैज़ान की तरह हम आधिकारिक तौर पर निरंकुश शासकीय तंत्र घोषित हैं। हमारे यहां आज़ादी के बाद से हर शासकीय क़दम संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार उठाने की परिपाटी रही है। यह बात सही है कि इसमें शुरू से ही विचलन और भटकाव दिखता रहा। उसका विपक्ष और आम लोगों की तरफ़ से विरोध भी होता रहा। इमर्जेन्सी जैसे कुछ अपवादों और राज्यों की बहुमत-आधारित सरकारों को समय-समय पर बरख़ास्त करने जैसी गंभीर त्रुटियों के बावजूद देश के प्रशासनिक कामकाज को संवैधानिक प्रावधानों के तहत चलाने की परिपाटी किसी न किसी तरह चलती रही। लेकिन समानता, न्याय, शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में कुछेक राज्यों को छोड़कर हमारे देश की स्थिति कभी बहुत अच्छी नहीं रही। इसकी एक वजह है- जन स्वास्थ्य और शिक्षा क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम राशि वाला बजट। अभी हम जन-स्वास्थ्य पर अपनी बात केंद्रित करेंगे। लंबे समय तक जन स्वास्थ्य पर सकल घरेलू उत्पाद का महज 1.24 प्रतिशत ख़र्च होता रहा। बाद के दिनों में इसमें मामूली बढ़ोत्तरी हुई। दूसरी तरफ़, स्वास्थ्य क्षेत्र में निजीकरण का विस्तार होता रहा। आज भारत के संपूर्ण स्वास्थ्य क्षेत्र में निजी क्षेत्र का हिस्सा 86 फ़ीसदी से ऊपर पहुंच चुका है। लोग निजीकृत स्वास्थ्य केंद्रों या अस्पतालों के हवाले कर दिये गये हैं।

शिक्षा और स्वास्थ्य क्षेत्र की भारी उपेक्षा के कारण ही भारतीय लोकतंत्र की प्रौढ़ता और सुसंगतता पर दुनिया भर के समाजविज्ञानी सवाल उठाते रहे हैं। इन कमियों के बावजूद हमारे लोकतंत्र को किसी भी शोध-अध्ययन संस्थान या ग्लोबल रेटिंग-एजेंसी ने कभी 'निकृष्ट श्रेणी' में नहीं रखा। लेकिन आज हमारे देश के लोकतंत्र को अपेक्षाकृत निकृष्ट श्रेणी में दर्ज करते हुए दोषपूर्ण लोकतंत्र (Flawed Democracy) माना जा रहा है। सन् 2020 के 'ग्लोबल डेमोक्रेसी इंडेक्स' में भारत को

53वें स्थान पर रखा गया था। द इकोनामिस्ट एन्टेलिजेंस यूनिट(ईआईयू) ने इसकी वजह बताते हुए कहा: 'भारत में नागरिक अधिकारों पर हो रहे लगातार हमलों, अल्पसंख्यकों और सत्ता से असहमत अन्य लोगों की बढ़ती असुरक्षा और कोविड-19 के दौरान महामारी से निपटने में शासन-तंत्र की विफलताओं के चलते इस विशाल दक्षिण एशियाई मुल्क की लोकतांत्रिक हैसियत गिरी है और सूचकांक में इस बार 51 के बजाय 53 पर आ गया।' यही नहीं, इधर दुनिया के कई बड़े अख़बार और संस्थान भारत को एक 'निर्वाचित तानाशाही'(Electoral Autocracy) बताने लगे हैं। इस पतन के जिन कई कारणों को गिनाया जाता है, उसमें सबसे नया कारण जुड़ा है - कोविड-19 के दौरान केंद्र सरकार का जनता के दुखदर्द को पूरी तरह नज़रंदाज़ करते हुए समस्या-समाधान के नाम पर अवैज्ञानिक और अमानवीय रवैया अपनाना। अपने ही लोगों, ख़ासकर मज़दूरों-किसानों और युवाओं के साथ बर्बरता का आचरण करना।

हमारे प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने कोविड-19 के संक्रमण से निपटने के लिए देश के सभी राज्यों की निर्वाचित सरकारों को पूरी तरह गौण कर दिया। हालत यह हो गयी कि स्वयं केंद्र सरकार के विभिन्न मंत्रालयों के बीच भी सक्रिय समन्वय का अभाव दिखता रहा। शासन के अमेरिकी मॉडल से भी आगे बढ़कर प्रधानमंत्री ने सारे अधिकार अपने हाथ में ले लिये। इसके लिए महामारी कानून (पैन्डेमिक एक्ट-1897) और आपदा कानून(2005) के प्रावधानों का सहारा लिया गया। जिन कुछ राज्य सरकारों के पास महामारी और संक्रमण आदि से निपटने के पहले के अनुभव थे, उन्होंने शासकीय केंद्रीयता की घेराबंदी तोड़कर अपने स्तर पर कुछ सकारात्मक क़दम उठाये और उनका नतीजा भी बहुत प्रशंसनीय रहा। इस मामले में केरल के मॉडल की देश और विदेश में काफ़ी चर्चा हुई। लेकिन केंद्र सरकार ने कोरोना से निपटने में बेहतर प्रदर्शन करने वाले ऐसे राज्यों को शाबाशी और सहयोग देने की बजाय उन्हें ज़रूरी फ़ंड देने में कोताही, जीएसटी के उनके हिस्से की राशि के लंबित भुगतान को लगातार रोके रखने और फिर कोरोना के टीके की उपलब्धता आदि में व्यवधान पैदा किये।

देश में कोरोना संक्रमण के मामलों के सामने आने के साथ ही केंद्र सरकार ने पिछले साल के मार्च-अप्रैल महीने में जिस तरह महामारी से देश को बचाने के सारे कार्यक्रमों और क़दमों पर आधिपत्य जमाया, वह हैरतंगेज़ था। राज्य सरकारों या मुख्यमंत्रियों को विश्वास में लिये बग़ैर देश में जब पहली बार लॉकडाउन की घोषणा की गयी तो स्वयं प्रधानमंत्री मोदी देश के तमाम टीवी चैनलों पर अवतरित हुए थे। प्रधानमंत्री ने राज्यों के मुख्यमंत्रियों को अप्रासंगिक बना दिया। शुरू में उन्होंने देश को बताया था कि महाभारत 18 दिन में जीता गया था। कोरोना पर 21 दिनों में विजय हासिल की जा सकती है। कई महीने तक केंद्र सरकार ने केंद्रीयता का यही सिलसिला जारी रखा। लेकिन जब हालात तेज़ी से ख़राब होने लगे और मौतों की संख्या बढ़ने लगी तो एक योजना के तहत मोदी सरकार ने राज्यों के साथ बैठकों का दौर कुछ बढ़ाया। लेकिन ऐसी बैठकों में संवाद के बजाय एकालाप ही ज़्यादा चलता रहा। इससे नाराज़ होकर झारखंड के मुख्यमंत्री हेमंत सौरेन ने तो सार्वजनिक बयान दे डाला कि प्रधानमंत्री इन वर्चुअल बैठकों में किसी मुख्यमंत्री की बात नहीं सुनते। कम से कम झारखंड की बात तो कभी नहीं सुनी गयी। ग़ैर-भाजपा दलों द्वारा शासित कुछ अन्य राज्यों

के नेताओं ने भी इस आशय की शिकायत की थी। हेमंत ने अपनी नाराज़गी भरी टिप्पणी को ट्वीट भी कर दिया।*1(*द स्क्रॉल*,7 मई,2021)

कोविड-19 से निपटने में जब मोदी सरकार की विफलताएं दिन-रात उजागर होने लगीं और लोगों की मौतों का सिलसिला थमता नहीं नज़र आया तो केंद्र सरकार ने अचानक सुर बदल दिया। वह कहने लगी कि भारतीय संविधान के मुताबिक़ स्वास्थ्य क्षेत्र राज्य का विषय है। मतलब यह कि इन विफलताओं के लिए सिर्फ़ केंद्र सरकार ही नहीं, राज्य सरकारें भी दोषी हैं। कुछ केंद्रीय मंत्रियों ने तो यह तक बयान देना शुरू किया कि कोरोना की मौतों, टीकाकरण की समस्याओं और अन्य नाकामियों के लिए केंद्र के मुक़ाबले राज्य ज़्यादा दोषी हैं। इस तरह का सार्वजनिक बयान देने या ट्वीट करने वाले मंत्रियों में निर्मला सीतारमण, पीयूष गोयल और तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री हर्षवर्धन प्रमुख रहे। फिर यही बात भारतीय जनता पार्टी भी अपनी आधिकारिक प्रेस ब्रीफ़िंग में कहने लगी। कुछ समय बाद अचानक पूरी सरकार ने सुर बदल दिया। अप्रैल, सन् 2020 से फ़रवरी, 2021 तक जो केंद्र सरकार कहती आ रही थी कि प्रधानमंत्री मोदी की अगुवाई में भारत ने कोरोना को परास्त कर दिया। फ़रवरी, 2021 में पार्टी ने इसके लिए प्रधानमंत्री मोदी को प्रस्ताव पारित कर बधाई भी दी थी। वही सरकार और वही पार्टी कहने लगी कि कोविड-19 से निपटने की ज़िम्मेदारी सबकी है। राज्यों की ज़्यादा क्योंकि स्वास्थ्य राज्य-विषय है।

बेशक, हमारे संविधान में स्वास्थ्य को राज्य का विषय रखा गया है। लेकिन आपदा और महामारी केंद्र और राज्य के साझा-विषय(कांकरेंट लिस्ट के विषय) हैं। संविधान की सातवीं अनुसूची में केंद्र और राज्यों के बीच विषय-वार जवाबदेही तय की गयी है। प्रविष्टि-29 महामारी के मामले में केंद्र को ज़्यादा ज़िम्मेदारी और जवाबदेही देती है। जब मामला सुप्रीम कोर्ट गया तो उसने भी साफ़ किया कि कोविड-19 चूंकि अंतर-प्रांतीय संक्रमण है इसलिए इसमें केंद्र द्वारा स्वतःसंज्ञान लेकर कोई घोषणा करने को ग़लत या असंवैधानिक नहीं माना जा सकता। इसी आधार पर जब केंद्र ने टीकाकरण की ज़िम्मेदारी राज्यों पर थोपनी चाही तो उसका पुरज़ोर विरोध हुआ। सुप्रीम कोर्ट ने भी इस मामले में राज्यों के तर्क को वाजिब ठहाराया कि 18 से 44 वर्ष के लोगों के टीकाकरण के लिए वाजिब मात्रा में टीका उपलब्ध कराने की ज़िम्मेदारी केंद्र की है। अपने 32 पृष्ठों के फ़ैसले में सुप्रीम कोर्ट की पीठ ने इसके लिए राज्यों पर बोझ डालने को अनुचित माना।*2(Paid Vaccination Policy---arbitrary, *The Hindu*, 2 June, 2021). अपने दायित्व से भागने के केंद्र के रवैये की सिर्फ़ सुप्रीम कोर्ट में ही नहीं, कर्नाटक और मध्य प्रदेश हाईकोर्ट में भी आलोचना हुई। कोर्ट ने साफ़ शब्दों में कहा कि महामारी में राज्यों को पर्याप्त मात्रा में टीका उपलब्ध कराने की ज़िम्मेदारी केंद्र की है।

टीकाकरण के मामले में सरकार के मनमाने बर्ताव पर जब सुप्रीम कोर्ट ने भी आपत्ति जतायी तो सरकार को कुछ पीछे हटना पड़ा। लेकिन बीते पौने दो साल की उसकी ग़लतियों का ख़ामियाज़ा देश आज भी उठा रहा है। सिरम इंस्टीट्यूट(पुणे) जैसे निजी उपक्रम से कोविशील्ड की उपलब्धता और मूल्य-निर्धारण आदि पर केंद्र सरकार ने क्या और कैसा समझौता किया था, यह देश को आज तक नहीं मालूम! भारत एक समय दुनिया का सबसे बड़ा टीका-उत्पादक देश रहा है। टीका(वैक्सीन) के शोध व उत्पादन में समर्थ दो दर्जन से अधिक सार्वजनिक इकाइयां आज भी मौजूद हैं। टीका-शोध

व उत्पादन के अलावा टीकाकरण अभियानों के मामले में भारत की विशेषज्ञता मानी जाती रही है। मुबंई स्थित हाफ़किन इंस्टीट्यूट ने सन् 1893 में सबसे पहले टीका के बारे में शोध और उत्पादन के लिए इकाई शुरू की थी। सन् 1932 में इस कंपनी को पहला भारतीय निदेशक मिला। वे थे-साहिब सिंह सोखे। महाराष्ट्र सरकार की यह कपंनी लंबे समय तक देश और विदेश के लिए तरह-तरह के संक्रमण को नियंत्रित करने वाले टीका का निर्माण करती रही है। ऐसी ही कम से कम 21 सरकारी कंपनियों के बल पर देश ने मलेरिया, चेचक, तपेदिक़ जैसे रोगों पर काफ़ी हद तक क़ाबू पाया। लेकिन निजीकरण और विनिवेशीकरण के दौर पर इस काम में लगी रहने वाली टीका-उत्पादक सरकारी कंपनियों को पहले कमज़ोर किया जाने लगा। फिर धीरे-धीरे ठप्प करते हुए ख़त्म किया जाने लगा। इस बार कोविड-19 दौर में इन सरकारी कंपनियों को टीका-शोध और उत्पादन के किसी प्रकल्प में शामिल नहीं किया गया। प्रधानमंत्री मोदी और उनकी सरकार ने 'आत्मनिर्भर भारत' के अपने ही नारे को ज़मींदोज़ करते हुए विदेशी-कंपनियों(ऑक्सफ़ोर्ड-आस्ट्राज़ैनिका, स्पूतनिक और फ़ाइजर आदि) या उनकी सहयोगी देश की कुछ निजी कंपनियों पर ज़्यादा भरोसा किया। जिन दो कंपनियों को सरकार ने 'भारतीय कंपनी' के रूप में दुनिया के समक्ष पेश किया, वे दोनों निजी क्षेत्र की कंपनियां थीं -सिरम इंस्टीट्यूट और भारत बायोटेक। प्रधानमंत्री मोदी ने तो बाक़ायदा एक बार पुणे स्थित सिरम इंस्टीट्यूट की प्रयोगशाला का दौरा किया और जल्द से जल्द देश को कोरोना का भारतीय टीका उपलब्ध कराने का दावा कर दिया। मज़े की बात है कि तब तक पूरे देश को मालूम हो चुका था कि सिरम इंस्टीट्यूट जिस कोविशील्ड नामक टीके के उत्पादन में लगा हुआ है, वह ब्रिटेन के ऑक्सफ़ोर्ड आस्ट्राज़ैनिका वैक्सीन का स्थानीय नाम भर है।

केंद्र अगर संवैधानिक मिज़ाज से काम कर रहा होता तो वह संबद्ध राज्यों से विचार-विमर्श करके टीका-उत्पादन में समर्थ सरकारी कंपनियों को भी टीका-शोध व उत्पादन में लगा सकता था। इसमें कई कंपनियां विभिन्न राज्यों में अवस्थित हैं। पर सरकार तो सारा कुछ अपने करने पर आमादा थी। कोरोना दौर में केंद्र ने कार्यकारी और वित्तीय संघवाद(फ़ेडरलिज़्म) की धारणा को पूरी तरह ध्वस्त किया। संविधान की सातवीं अनुसूची में अंतर-प्रांतीय माइग्रेशन और अंतर-प्रांतीय क्वारंटीन जैसे मामले केंद्र के अधीन निर्धारित हैं। राज्य की सूची में व्यवस्था-प्रबंधन, जन-स्वास्थ्य और अस्पतालों का प्रबंधन जैसे विषय रखे गये हैं। सन् 1976 के मशहूर केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य के मुक़दमे में सुप्रीम कोर्ट ने ऐतिहासिक फ़ैसला सुनाते हुए संघवाद(फ़ेडरलिज़्म) को *संविधान* की मूल संरचना का हिस्सा माना। ऐसी स्थिति में *संविधान* की सातवीं अनुसूची की इंट्री 23 की लिस्ट-3 को सही परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। इसकी रोशनी में देखें तो कोरोना दौर में केंद्र सरकार अपनी भूमिका और दायित्व का निर्वहन करने में पूरी तरह अक्षम दिखी है। आनन-फानन में घोषित पहले लॉकडाउन के दौरान जिन दिनों करोड़ों मज़दूर सड़कों, रेलवे स्टेशनों या बस-स्टेशनों पर आ गये थे या लाखों लोग सड़कों-राष्ट्रीय राजमार्गों पर कई-कई सौ किमी पैदल चलते रहे, उस समूची अव्यवस्था के लिए सिर्फ़ और सिर्फ़ केंद्र सरकार ही ज़िम्मेदार थी। केंद्र ने राज्यों से किसी तरह के मशविरे के बग़ैर लॉकडाउन का ऐलान किया और फिर राज्यों को ही निर्देशावली देने लगा कि मज़दूरों को सड़कों पर आने से रोका जाय! सातवीं अनुसूची की सम्बद्ध इंट्री या अन्य सम्बद्ध विन्दुओं के अलावा

संविधान के अनुच्छेद 248 के तहत कांकरेंट लिस्ट के जितने भी प्रमुख पहलू हैं, उसमें केंद्र और राज्यों के आपसी समन्वय को ज़रूरी माना गया है। लेकिन कोरोना जैसी भयावह महामारी के पिछले दो चरणों में देखा गया कि केंद्र जब भी देखता कि हालात उससे बेक़ाबू हो रहे हैं या उसकी विफलताएं सबकी नज़रों में आ गयी हैं तो वह अपनी विफलताओं को राज्यों की तरफ़ स्थानांतरित करने में लग जाता। वह कहने लगता कि स्वास्थ्य तो राज्य का विषय है। लेकिन जब कार्यकारी अधिकारों और ज़रूरी वित्तीय आबंटन के सवाल आते तो वह अपनी सर्वोच्चता की दुहाई देकर सर्वसत्तावाद का डंडा हांकने लगता। केरल और छत्तीसगढ़ सहित देश के कई राज्य कोरोना दौर में जीएसटी के अपनी लंबित क़िस्तों के भुगतान की बार-बार मांग करते रहे पर केंद्र लगातार उन्हें टरकाता रहा। इससे अनेक राज्यों को भारी संकट का सामना करना पड़ा और कोविड-19 से निपटने में उनके सामने मुश्किलें आयीं। अगर केंद्र ने सहकारी संघवाद की संवैधानिक धारणा और मूल्य को ईमानदारी से लागू किया होता तो कोविड-19 से निपटने और लोगों को बेहतर स्वास्थ्य-सुविधा और चिकित्सा-सेवा आदि उपलब्ध कराने में राज्यों के समक्ष इतनी मुश्किलें नहीं आतीं।

अपने देश में संविधान के संघीय ढांचे की रोशनी में केंद्र-राज्य संबंधों को पुनर्परिभाषित करने के लिए अतीत में कई समितियां और कई समूह भी गठित हुए। न्यायालयों से भी कई बड़े फ़ैसले आये। इनमें पी.वी. राजमन्नार की अध्यक्षता वाली समिति(1971) की सिफ़ारिशों को बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। उक्त समिति ने भी कहा था कि अपने यहां राज्यों के कार्यकलापों में केंद्र के अनुचित हस्तक्षेप से राज्यों की स्वायत्तता पर बुरा असर पड़ा है। बाद में भी राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता के सवालों पर संसद और बाहर विचारोत्तेजक चर्चा चली। मज़े की बात है कि भारतीय जनता पार्टी ने 21 -23 अक्तूबर, 1983 को लखनऊ में हुई अपनी राष्ट्रीय कार्यकारिणी में केंद्र-राज्य संबंधों पर जो महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किया, उसके शुरुआती पैरों में ही कहा गया : 'भाजपा को खेद है कि हमारे *संविधान* की भावना का उल्लंघन कर केंद्र ने सर्वदा राज्यों को दुर्बल बनाया है। राज्यों को पर्याप्त कोष से वंचित रखा गया है।' इसे भारतीय राजनीति की विडंबना कहें या ढोंग कि वही भारतीय जनता पार्टी सन् 2014 के बाद लगातार और ख़ासकर 2020-21 के इस कोरोना दौर में सन् 1983 के पारित अपने प्रस्ताव के ठीक उलट काम कर रही है। अतीत की तमाम सिफ़ारिशों और संसदीय चर्चा के दौरान उभरी अहम सहमतियों को नज़रंदाज़ कर मौजूदा मोदी सरकार ने कोरोना-दौर में भारत की संसदीय प्रणाली की सरकार को एकल-शक्ति वाली किसी राष्ट्रपति प्रणाली की सरकार में रूपांतरित करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। वित्तीय मामलों में सहकारी-संघवाद के निषेध का एक ज्वलंत उदाहरण है – *पीएम केयर्स फ़ंड*। कैसी विडंबना है कि *पीएम केयर्स फ़ंड* को सन् 2013 के कंपनी एक्ट के शेड्यूल 7 के तहत कारपोरेट सोशल रिस्पांसिबिल्टी(सीएसआर व्यय) के तहत रखा गया। लेकिन असंगति देखिए, राज्यों के मुख्यमंत्री रिलीफ़ फ़ंड और राज्य आपदा फ़ंड को वही सुविधा और अधिकार नहीं दिये गये। इस तरह मोदी सरकार ने योजनाबद्ध ढंग से वित्तीय मामलों से संबद्ध सारे वित्तीय अधिकारों का केंद्रीकरण किया है। राहत और सेवा के कामों के लिए गठित राज्यों के संस्थानों को भी उनके वाजिब अधिकार से वंचित कर नवगठित *पीएम केयर्स फ़ंड* को सर्वे-सर्वा बना दिया गया। लेकिन उसमें किसी तरह की पारदर्शिता नहीं रखी गयी। उसे 'सूचना का अधिकार

क़ानून' (आरटीआई) के दायरे से भी बाहर रखा गया।

कोरोना संक्रमण की कथित तीसरी लहर की आशंका के मद्देनज़र केंद्र सरकार को अपनी ग़लतियों और सियासी ज़िद से ज़रूर सबक़ लेना चाहिए। आज जिस तरह की चुनौतियां हैं, उसमें समूचे देश और समाज की सुरक्षा निहित है। इन चुनौतियों का सामना केंद्र और राज्य, आपस में मिलकर ही कर सकते हैं। केंद्र को सम्राट की तरह आचरण करना बंद कर लोकतांत्रिक मिज़ाज और संघीय भावना के तहत काम करना चाहिए। सिर्फ़ राज्यों की ही नहीं, वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों की भी बात सुनी चाहिए। केंद्र, यूपी और उत्तराखंड की सरकारों ने वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों की बात मानकर यूपी में पंचायती चुनावों का इतना बड़ा अखाड़ा न खोला होता और हरिद्वार में कोरोना-प्रोटोकॉल को नज़रंदाज़ करते हुए कुंभ का आयोजन इतने बड़े पैमाने पर न किया गया होता तो शायद कोरोना की दूसरी लहर में उत्तर और मध्य भारत में इतनी ज़्यादा मौतें नहीं हुई होतीं। अब तक के उदाहरणों से तो यही लगता है कि केंद्र सरकार अपनी सोच और रवैये में किसी तरह का लोकतांत्रिक बदलाव करने को राज़ी नहीं है। ऐसे में देश के सामने महामारी का संकट वाक़ई गंभीर है।

मो. 9899867717

नरेंद्र मोदी सरकार और सत्ता का केंद्रीकरण

चंचल चौहान

भारतीय *संविधान* की मूल भावना इस देश को एक संघीय ढांचे के राष्ट्र राज्य में तब्दील करने की थी जिसमें केंद्र और राज्य के काम काज का विधिवत बंटवारा उल्लिखित है। मगर देश की शासन व्यवस्था जिन वर्गों के अधीन है, उन्हें संघीय ढांचे से हमेशा ख़तरा महसूस होता है कि कहीं राज्यों को स्वायत्तता देने से शोषकशासक वर्गों का वर्चस्व ख़त्म न हो जाये। यह डर पहले आम चुनाव के बाद से ही भारत के नये सत्ताधारी वर्गों को सताने लगा था जो *संविधान* के अनुच्छेद 356 के मनमाने ढंग से लागू करने में परिलक्षित हो रहा था। ध्यान रहे कि पहले आम चुनाव के बाद लोकसभा में कम्युनिस्ट सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी के रूप में चुन कर आये थे। इसी भय ने 1957 में पहली निर्वाचित कम्युनिस्ट सरकार को ग़ैरसंवैधानिक तरीक़े से बर्ख़ास्त करवा दिया था। फिर तो ऐसी घटनाएं लगातार दोहरायी गयीं, केंद्र में सत्ता किसी भी कॉरपोरेटपरस्त पार्टी की रहे, संघीय ढांचे के साथ खिलवाड़ तो होना तय है। 1994 में एस आर बोम्मई केस पर सुप्रीम कोर्ट के दिशा निर्देशों और सरकारिया कमीशन की सिफ़ारिशों के बावजूद केंद्र में सत्तारूढ़ सरकारें यह मनमानी करती आयी हैं। यह ज़रूर है कि न्यायपालिका ने इस तरह की मनमानी पर कई बार अंकुश लगाया है। नरेंद्र मोदी के शासन में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ी है। यहां यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि आर एस एस-बीजेपी ने किस तरह कई राज्यों में विधायकों की ख़रीद-फ़रोख़्त करके विपक्षी दलों के बहुमत को अल्पमत में तब्दील करके राज्य सरकारों को गिराने, राष्ट्रपति शासन के माध्यम से केंद्र सरकार के अधीन राज्यों को लाने की कोशिश की, न्यायपालिका ने कुछ मामलों में सही फ़ैसले ले कर भारत के संघीय ढांचे को बरक़रार रखने की इच्छाशक्ति ज़रूर दिखायी, मगर कुछ राज्यों में मोदी सरकार चोर दरवाज़े से अपनी चहेती सरकार स्थापित कराने में कामयाब हो गयी।

आज़ादी की जंग में भारत उपमहाद्वीप के सभी भौगोलिक हिस्सों के 'हम लोग' शामिल हुए थे, आज़ादी हासिल करने के बाद यह उपमहाद्वीप कुछ स्वतंत्र देशों में बंट गया। अब जो भारत है उसके 'हम लोग' एक *संविधान* के आधार पर देश का शासन प्रशासन चलाने के लिए एक लोकतांत्रिक व्यवस्था के तहत नये जनवादी मूल्यों के प्रति समर्पित हो कर आगे बढ़े और भाषायी आधार पर राज्यों की स्थापना की। यह बात अक्सर भुला दी जाती है कि भारत 'विविधता में एकता' के मंत्र से एकताबद्ध है, उसमें अनेक राष्ट्रीयताएं, अनेक भाषाएं, बोलियां, संस्कृतियां, पहनावे, त्योहार हैं, उन सबसे मिल कर ही भारत बनता है, न एक विचार, न एक संस्कृति, न एक भाषा, न एक तरह का खानपान, पहनावा या रहन सहन इन विविधताओं पर थोपे जा सकते हैं। इसलिए राज्यों को जो कमोबेश एक तरह की अपनी राष्ट्रीयता से बंधे हैं समान आदर और समान अधिकारों के हक़दार हैं,

केंद्र के साम्राज्य के उपनिवेश नहीं। जिन सत्ताधारी वर्गों के हाथ में केंद्र की सत्ता है, वे इस जनवादी चेतना को भूले रहते हैं, इसीलिए *संविधान* की ज़रा भी परवाह नहीं करते जिसकी वजह से केंद्र और राज्यों के बीच तनाव होता है, और अब तो राज्यों में आपस में ही यह तनाव पैदा कर दिया गया है। अंग्रेज़भक्त नये शासकों को 'बांटो और राज करो' का ब्रिटिश फ़ार्मूला बहुत रास आ रहा है। नाज़ियों की विचारधारा से नाभिनालबद्ध आर एस एस के राजनीतिक घटक यानी उसकी पार्टी बीजेपी ने केंद्र में सत्ता हासिल करने के बाद इन दिनों केंद्रीकरण की प्रवृत्ति को उसके निकृष्टतम रूप में तब्दील कर दिया है।

कोरोना काल को 'आपदा में अवसर' मानने वाली मोदी सरकार को कोविड-19 की महामारी ने हर तरह की मनमानी करने की मानो छूट ही दे दी। यों तो संख्याबल पर संसद में मनमानी करने की सुविधा केंद्र सरकार को पहले से ही हासिल थी, लेकिन महामारी ने उस छूट को और अधिक बल प्रदान कर दिया। दिसंबर 2005 में बना 'आपदा प्रबंधन अधिनियम' (Disaster Management Act, 2005) एक राष्ट्रीय क़ानून है जिसका इस्तेमाल केंद्र सरकार उस सूरत में करती है जब किसी आपदा से निपटने के लिए एक देशव्यापी योजना बनाने की ज़रूरत पड़े, एक और क़ानून 'महामारी अधिनियम 1897' (एपिडेमिक डिज़ीज़ एक्ट 1897) भी लागू है। मगर इन दोनों क़ानूनों से मोदी सरकार ने केंद्रीकरण की मनमानी छूट लेने में पूरी तत्परता दिखायी। इस प्रवृत्ति का खुलासा करते हुए मई 13, 2020 को द *हिंदू* में अंग्रेज़ी में सुप्रीम कोर्ट के दो एडवोकेट, प्रशांत भूषण और श्याम अग्रवाल ने एक लेख लिखा था जिसमें कहा गया था कि मोदी सरकार इन क़ानूनों की आड़ में देश के संघीय ढांचे पर चोट पहुंचा रही है। इन दोनों क़ानूनों के प्रावधानों पर टिप्पणी करते हुए दोनों टिप्पणीकारों ने उदाहरण के तौर पर कहा कि 'जन स्वास्थ्य' राज्यों के अधिकार क्षेत्र में आता है, मगर मोदी सरकार *संविधान* के उस प्रावधान की कोई परवाह न करके सीधे हस्तक्षेप कर रही है। इस तरह की आलोचनाओं का कोई असर मोदी सरकार पर नहीं हुआ, उसने लगातार राज्यों के साथ उसी तरह का बर्ताव इस पूरे दौर में किया जैसे कि राज्य मोदी के उपनिवेश हैं। दिल्ली राज्य में आम आदमी पार्टी की सरकार के कामकाज में तो मोदी सरकार हर रोज़ अड़ंगा लगाती है, अपनी मनमानी चलाने के लिए *संविधान* में संशोधन करके राज्य को मिली शक्तियां राज्य सरकार से छीन लीं और उपराज्यपाल को ही 'राज्य सरकार' बना दिया। आये दिन केजरीवाल सरकार की किसी न किसी जनहित योजना को केंद्र की भाजपा सरकार निरस्त कर देती है।

हिंदुस्तान टाइम्स में निरंजन सरकार ने भी केंद्रीकरण की इस प्रवृत्ति पर एक लेख लिखा जिसमें पूंजी के केंद्रीकरण और राजनीति के केंद्रीकरण के आपसी संबंध की तह में जाने की कोशिश है। वे इस केंद्रीकरण में 'स्थानीय पूंजी' और 'केंद्रीय पूंजी' के आपसी टकराव की अवधारणा पेश करते हैं, जबकि असली खेल अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी का चल रहा है। पता नहीं क्यों, पूंजीवादी शिक्षादीक्षा से गुज़र कर हमारे बुद्धिजीवी न जाने कितनी मिथ्या अवधारणाएं गढ़ते रहते हैं। वे इस सच्चाई को या तो भूले रहते हैं या उसकी तरफ़ उनका ध्यान ही नहीं जाता कि भारतीय अर्थव्यवस्था पर अब अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी का क़ब्ज़ा है और 'क्षेत्रीय पूंजी' व 'केंद्रीय पूंजी' के तार उसी से जुड़े हैं, उसी के दबाव में हमारे संवैधानिक ढांचे की ऐसी तैसी हो रही है।

यों तो 1991 से ही भारतीय राजनीति और अर्थव्यवस्था पर अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी का वर्चस्व क़ायम है जिसके निर्देशों के पालन में सबसे अधिक तेज़ी मोदी सरकार दिखा रही है, यही वह वजह है जो उसे लगातार केंद्रीकरण के लिए बाध्य कर रही है। यह बहुत कम लोगों को मालूम है कि 2014 में मोदी के सत्ता में आते ही विश्व बैंक के अध्यक्ष जिम योंग किम (Jim Yong Kim) ने 21-23 जुलाई 2014 को भारत का दौरा किया था। उसने तमिलनाडु, गुजरात के मुख्य मंत्रियों से और दिल्ली में वित्त मंत्री के बाद नरेंद्र मोदी से गुप्त बैठक की, इसकी रिपोर्ट 23 जुलाई 2014 के *इक्नोमिक्स टाइम्स* में छपी थी। इसमें मोदी ने विश्वबैंक को आश्वासन दिया था कि उसके निर्देशों के पालन में मोदी सरकार 'तेज़ गति' दिखायेगी। इस बैठक की व्याख्या करते हुए उसी समय एक लेख मैंने लिखा था जो आइ एन एफ़ ए नामक फ़ीचर एजेंसी के मार्फ़त कई अंग्रेज़ी अख़बारों में 5/6 अगस्त 2014 को छपा था। उसी 'तेज़ गति' का पालन करते हुए मोदी सरकार ने बिना मुआवज़े भूमि अधिग्रहण क़ानून में संशोधन का विधेयक लाने से पहले ही दो बार आर्डिनेंस जारी करके कई इलाक़ों में किसानों की ज़मीन हथिया कर चहेते कॉरपोरेट घरानों को दे दी, विपक्ष और किसान संगठनों के भारी विरोध के दबाव में उस समय वह संशोधन संसद में पारित नहीं हो पाया। विश्वबैंक का अध्यक्ष हर साल जल्दी जल्दी भारत का दौरा करता रहा, यह देख कर खुश होता रहा कि उसकी गुलामगीरी करने में मोदी सरकार और कई राज्य सरकारें पहले की सरकारों के मुक़ाबले कहीं अधिक 'तेज़ गति' से चल रही हैं। इसके प्रमाण इंटरनेट पर, ख़ासकर *इक्नोमिक टाइम्स* के वेबसाइट पर मौजूद हैं। निरंजन सरकार के लेख में जिस 'लोकल' पूंजी और 'केंद्रीय पूंजी' का उल्लेख है वह किस तरह अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी से नाभिनालबद्ध है, इसका सबूत विश्वबैंक के अध्यक्ष के बार बार भारत दौरे में राज्य सरकारों और केंद्र सरकार से मिलने या उनकी निगरानी रखने में देखा जा सकता है।

विश्व बैंक की गुलामगीरी करने वाली मोदी सरकार को कोरोना काल के दौरान 'आपदा में अवसर' मिल गया और उसने संसद में मज़दूर विरोधी श्रम कोड और किसानविरोधी तीन काले कृषि क़ानून आनन फानन में, सारी संवैधानिक परंपराओं को कुचल कर, पारित करवा लिये जबकि कृषि के मामले राज्यों के अधीन होते हैं। यह सब अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के दबाव के कारण हो रहा है क्योंकि मोदी सरकार ने देश पर विदेशी क़र्ज़ का भारी बोझ लाद दिया है। 30 सितंबर 2021 को जारी रिज़र्व बैंक की प्रेसविज्ञप्ति के अनुसार जून 2021 के अंत तक भारत पर विदेशी कर्ज़ की राशि बढ़कर US$ 571.3 billion हो गयी है जो 2014 में 446.2 थी। इसी पूंजी के दबाव में तेज़ी से निजीकरण को अंजाम दिया जा रहा है, इसी वजह से देश की अमूल्य संपदा देशी विदेशी कॉरपोरेट घरानों को जल्दी जल्दी बेची जा रही है। गुलामगीरी और 'परनिर्भरता' के सच को छिपाने के लिए 'आत्मनिर्भर भारत' की लफ़्फ़ाज़ी रातदिन की जा रही है। विदेशी पूंजी के आक़ाओं के दबाव में ही ऐतिहासिक किसान आंदोलन पर दमन की चक्की चलती रही, मोदी सरकार का अमानवीय और बर्बर अड़ियल रवैया इसी वजह से रहा कि वह उसी पूंजी की गुलाम है जिसके संरक्षण में ही उस सरकार का वजूद क़ायम रह सकता है, अन्यथा नहीं। अब जब कई राज्यों में चुनाव होने वाले हैं, बीजेपी-आर एस एस को साफ़ दिखने लगा कि राज्यों में उनकी सत्ता जा सकती है तो फिर से मंदिर, मस्जिद और गुरुद्वारे याद आयेंगे, पूरी कोशिश होगी कि किसी तरह सांप्रदायिक ध्रुवीकरण करके सत्ता को बरक़रार रखा जाये। सत्ता में आने के बाद असंख्य घटनाएं बताती हैं कि भाजपा सरकार ने अपने अधिकतम कारनामे

सांप्रदायिक ध्रुवीकरण को मज़बूत करने के लिए ही किये हैं, इनमें तीन तलाक़ विरोधी क़ानून हो, या सी ए ए और एन आर सी विधेयक हों, सभी में यही उद्देश्य साफ़ नज़र आता है। सत्ता के केंद्रीकरण का सबसे निकृष्ट उदाहरण तो संविधान के अनुच्छेद 370 को तब्दील करने का है जिसके लिए पहले जम्मू कश्मीर की विधानसभा को बरख़ास्त कर दिया और फिर विधान सभा के अनुमोदन के बिना ही सारी असंवैधानिक कारगुज़ारी कर डाली। सुप्रीम कोर्ट में ग़ैरसंवैधानिक तरीक़े से पारित क़ानूनों के ख़िलाफ़ याचिकाएं दायर हुई पड़ी हैं, मगर न जाने क्यों उन याचिकाओं पर कोई सुनवाई नहीं हो रही, जबकि टीकाकरण, प्रदूषण, आत्महत्या(मसलन, सुशांत राजपूत की आत्महत्या) आदि के मामलों में न्यायपालिका की सक्रियता शीर्ष पर रही है। इस घटनाविकास से भी सत्ता को केंद्रीकरण की मनमानी करने में कामयाबी मिलती रहती है।

विश्व पूंजीवाद के मौजूदा दौर में कुछ अपवादों को छोड़ कर दुनिया के सभी देशों की राजनीति पर अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी का वर्चस्व है। पूंजी की प्रकृति ही सत्ता के केंद्रीकरण की हो रही है, इसीलिए वह हर देश में तानाशाही ताक़तों को संरक्षण देती है। विश्व के अनेक देशों में धुर दक्षिणपंथी गठबंधन सत्ता पर क़ाबिज़ हो रहे हैं, कई देशों में समाजवादी व कम्युनिस्ट संसदों में कम होते जा रहे हैं। मोदी सरकार जिस विचारधारा से संचालित है, वह तो वित्तीय पूंजी का सबसे घिनौना हथियार मानी जाती है, फ़ासीवादी विचारधारा के बारे में ज्यार्जी दिमित्रोव (2 अगस्त 1935 को पेश किया गया ऐतिहासिक दस्तावेज़) से ले कर प्रभात पटनायक (January 24, 2021, From Neo-Liberalism to Neo-Fascism) तक सारे मानववादी समाजशास्त्रियों ने यही बात अपने विश्लेषण में कही है। वित्तीय पूंजी के हितों की रक्षा केंद्रीकरण में यक़ीन रखने वाली विचारधाराओं से बेहतरीन तरीक़े से होती है, संसदीय लोकतंत्र से उसे कई बार पूंजीवाद के संकट के समय में ख़तरा दिखायी देने लगता है। चूंकि मोदी सरकार आर एस एस की फ़ासीवादी विचारधारा से संचालित है, इसलिए वह लगातार केंद्रीकरण की कोशिश में लगी रहती है। सारी संवैधानिक संस्थाओं की स्वायत्तता लगभग ख़त्म है, ख़ुद सरकार के मंत्रालयों का काम और मंत्रिमंडल का काम प्रधानमंत्री मोदी ही कर रहे हैं। सभी को याद होगा कि 2014 के बाद मंत्री तो नाम भर के लिए ही थे, सारे फ़ैसले प्रधानमंत्री ही लेते थे। राफ़ैल घोटाला भी इसी वजह से हुआ, उसमें न मंत्रिमंडल, न रक्षा मंत्रालय और न विदेश मंत्रालय, न ही वाणिज्य मंत्रालय को कुछ भी अता पता था कि यह रक्षा सौदा कैसे हो रहा है, खुद प्रधानमंत्री सब कुछ कर रहे थे। अब घोटाला खुल कर आ रहा है। मोदी सरकार के इस शासनकाल में बाक़ी फ़ैसले भी इसी तरह होते हैं, अध्यादेश भी इसीलिए लाये जाते हैं। हमें याद है कि शासन संभालते ही कुछ कॉरपोरेट घरानों की मदद के लिए भूमि अधिग्रहण अध्यादेश बार बार लाया गया, विपक्ष और देश के किसान संगठनों के दबाव से वह क़ानून नहीं बन सका।

सत्ता के केंद्रीकरण की फ़ासीवादी प्रवृत्ति मोदी सरकार के सारे कामकाज में झलकती है। इसी दौर में मुस्लिम समुदाय के ख़िलाफ़ इसी नज़रिये से लगातार मुहिम चलायी गयी। तीन तलाक़ क़ानून हो या सी ए ए-एन आर सी संशोधन क़ानून या संविधान की धारा 370 की समाप्ति, इन सब में निशाना एक ही है, वह है मुस्लिम समाज को अंदरूनी दुश्मन की तरह चित्रित करके भारतीय समाज को 'बांटो और राज करो' की नीति जिसकी प्रयोगशाला दुनिया ने गुजरात में 2002 में देखी थी। ये

सारे क़ानून दर असल भारतीय *संविधान* की मूल आत्मा पर ही चोट करते हैं, इसीलिए देश की तमाम देशप्रेमी, लोकतांत्रिक ताक़तों ने इन क़ानूनों का पुरज़ोर विरोध किया। कोरोना काल में सारी घोषणाएं उसी शैली में होती हैं जिसमें नोटबंदी का ऐलान हुआ था। लगता है जैसे स्वास्थ्य मंत्रालय के पास कोई काम ही नहीं। प्रधानमंत्री सीधे सरपंचों से, ज़िला कलेक्टर से, राज्यों के अन्य पदाधिकारियों से ऐसे बात करते हैं जैसे कि वे ही उनके सेक्शन आफ़ीसर हैं। राज्य के शासनतंत्र को भी मानो उन्होंने ही संभाल रखा है, देश के बाक़ी चुने हुए या कार्यपालिका के अफ़सर सारे नाकारा हैं, उन्हें सारा ज्ञान प्रधानमंत्री से ही लेना होगा। जब भी उभरा कोरोना का नया संस्करण, उसे लेकर भी प्रधानमंत्री ने ख़ुद ही सीधे सारे राज्यों को निर्देश दे डाले जबकि उसकी बारीक़ियों और जटिलताओं को लेकर वैज्ञानिक शोधरत होते हैं। केंद्र सरकार के पास एक स्वास्थ्य मंत्रालय भी है, तमाम शोधसंस्थान हैं, टीका बनाने वाली कंपनियां भी हैं, मगर सारे ज्ञान का भंडार हमारे प्रधान मंत्री के ही पास है, हर जगह उसे ही दिखना चाहिए। केंद्रीकरण की तानाशाही प्रवृत्ति इतनी हावी है कि हर काग़ज़ पर, हर चैनल पर, हर ख़बर पर तानाशाह का ही चेहरा दिखता रहता है। टीका लगे लोगों के हाथ में जो सर्टिफ़िकेट दिया गया है, उस तक पर तानाशाह की ही तस्वीर है। मोटेरा अहमदाबाद में सरदार पटेल स्टेडियम को तोड़कर जो नया स्टेडियम बना जिसमें उसी प्रवृत्ति के अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप की सेवा में 'नमस्ते ट्रंप' का भव्य आयोजन 24 फ़रवरी 2020 को हुआ उसे उनके जीवनकाल में ही 'नरेंद्र मोदी स्टेडियम' नाम दे दिया गया, शायद यह आशंका रही हो कि मरने के बाद 'सरदार पटेल' का नाम हटाकर कौन 'नरेंद्र मोदी' का साइन बोर्ड वहां लगायेगा।

केंद्रीकरण की इस बेहूदगी का शिकार हो रही है संसदीय प्रणाली, जनवादी सोच और तेज़ी से मिट रहा है भारतीय *संविधान* में उल्लिखित एक लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी गणराज्य की कल्पना का भारत। इस बेहदूगी और इस शोषणतंत्र, दमनतंत्र का प्रतिकार करने वाली प्रतिरोधी ताक़तें अभी तक असंगठित, बिखरावग्रस्त हैं, जन आक्रोश उभार पर है, आंदोलन भी लगातार हो रहे हैं, मगर केंद्र में तानाशाही ताक़तों से राजसत्ता छीनने वाली जनतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष एकजुटता वाली वैकल्पिक राजनीतिक पहलक़दमी अभी नहीं दिखायी पड़ती। कॉरपोरेट पूंजी और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के शिकंजे में कसा हमारा संसदीय लोकतंत्र जिस चुनाव पद्धति से चल रहा है, उसमें वैकल्पिक राजनीतिक गठबंधन बनने या न बनने देने में वे ही ताक़तें भूमिका अदा करती हैं, जो चुनाव की फ़ंडिंग करती हैं जिसे 'चुनावी बांड' के प्रावधान के माध्यम से भाजपा-आर एस एस ने अब पूरी तरह अपने पक्ष में कर लिया है। यह संभव है कि कॉरपोरेट पूंजी एक गुंडावाहिनी वाली पार्टी की जगह दूसरी इसी तरह की गुंडावाहिनी पार्टी को सत्ता में बिठा दे, केंद्रीकरण और निजीकरण की नवउदारवादी प्रक्रिया तभी अबाध रूप से चल सकती है। यह सिलसिला पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा में शुरू हो चुका है। इन राज्यों में कॉरपोरेट घरानों की पूंजी के बल पर टीम एम सी और बीजेपी एक दूसरे के विकल्प बनने की प्रक्रिया में हैं जिससे वामपंथ या तो अलग थलग कर दिया जाये या उसका वजूद ही इन राज्यों से ख़त्म हो जाये। पश्चिम बंगाल में तो यह चाल सफल हो ही गयी, अब त्रिपुरा की बारी है। ममता बनर्जी वाम मोर्चा और कांग्रेस के गठजोड़ को कभी सहन नहीं कर सकतीं और न वाम के साथ किसी गठजोड़ को बीजेपी को संरक्षण देने वाले 'क्रोनी' कॉरपोरेट घराने ही यूपीए जैसी क़तारबंदी को अब स्वीकार

करेंगे। वे चाहेंगे कि अगर ये दोनों ही एक दूसरे के विकल्प बन जायें तो उनका शोषण तंत्र आसानी से चलता रहेगा। 'क्रोनी पूंजीवाद' के ये दोनों राजनीतिक दल समान रूप से उस वाम राजनीति के ख़िलाफ़ ख़ूनी हिंसा करने में माहिर हैं जो एक जनपक्षीय वैकल्पिक अर्थनीति लागू करने की दिशा में समाज को मोड़ सकती है, इसलिए वाम राजनीति उनकी दुश्मन नंबर एक है, दोनों ही हिंस्र पार्टियां वाम की हत्या की मुहिम में मशगूल हैं। वाम बुद्धिजीवी, पत्रकार ही सबसे अधिक इस सत्य को उजागर कर रहे हैं कि 'क्रोनी पूंजीवाद' के हाथों में, मौजूदा सरकार ने 'आत्मनिर्भर भारत' सौंप दिया है। इसलिए वे भी हमले के शिकार हो रहे हैं। इस घटनाक्रम से तो इसी तरह के संकेत मिलते हैं कि मोदी सरकार को अपदस्थ करने के लिए जिस व्यापक विपक्षी एकजुटता की बात हो रही थी, उसमें कॉरपोरेट पूंजी कभी भी विघटन पैदा कर सकती है जो कि अब बहुत अधिक ताक़तवर है। कॉरपोरेट पूंजी ने अपनी सुरक्षा के लिए देश में सैनिक शासन के माध्यम से भी तानाशाही निज़ाम जनता पर थोपने का एक हथियार तैयार करा लिया है, जिसके लिए 'चीफ़ ऑफ़ डिफ़ेंस स्टाफ़' नाम का नया पद अब मौजूद है जो पहले नहीं था, जिसका इस्तेमाल कॉरपोरेट पूंजी मौजूदा व्यवस्था के संकट के हालात में कर सकती है।

यों तो सत्ता का केंद्रीकरण नरेंद्र मोदी के प्रधान मंत्री बनते ही शुरू हो गया था, पी एम ओ की आज्ञा के बिना सरकार में कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता था, कोरोना काल में यह प्रवृत्ति अपने नंगे रूप में दिखायी देने लगी। आज़ाद भारत के शुरू के दिनों में पी एम ओ जैसी कोई केंद्रीय निरंकुश शक्ति पैदा नहीं हुई थी। इसकी शुरुआत इंदिरा गांधी के कार्यकाल के उस दौर में हुई जब वे भी नरेंद्र मोदी की ही तरह एकदलीय तानाशाही के तौर तरीक़े अपनाने लगीं। दर असल, जब पूंजीवादी विकास का रास्ता आर्थिक संकट लाता है तो कॉरपोरेट घरानों का 'लकड़ी का बना रावण' खुद को जनतंत्र से ही असुरक्षित महसूस करने लगता है, तब इसी तरह की तानाशाही अवाम पर लादकर उनसे टैक्स वसूल करके तथा शोषणतंत्र को बेरहमी से बढ़ावा दे कर संकट से उबरने की कोशिश की जाती है। इंदिरा गांधी के समय 'अनिवार्य जमा योजना', 'शरणार्थी रिलीफ़ टैक्स' आदि क़दम उसी संकट से उबरने के लिए उठाये गये थे। पूंजीवादी संकट के और अधिक गहराने पर इंदिरा गांधी ने एमरजैंसी लगा कर सत्ता के केंद्रीकरण को अपने चरम पर पहुंचा दिया था। मज़दूरों का बोनस काट लिया गया था और तभी पी एम ओ के माध्यम से सत्ता का केंद्रीकरण शुरू हो गया था। अभय कुमार दुबे ने भी एक लेख में लिखा :

> दरअसल, पीएमओ को उसका मौजूदा रूप इंदिरा गांधी के शासन-काल के उस दौर में मिलना शुरू हुआ... धीरे-धीरे प्रधानमंत्री के दफ़्तर में काम करने वाले अफ़सरों की संख्या और रुतबा बढ़ता चला गया। उनके साथ राज्य स्तर का एक या कभी-कभी एक से अधिक मंत्री भी पीएमओ में नियुक्त किये जाने लगे। इस बंदोबस्त के ज़रिये प्रधानमंत्री सभी मंत्रालयों को नियंत्रित करने लगे और पीएमओ निर्णय-प्रक्रिया का व्यावहारिक केंद्र बनता चला गया। ...इस बंदोबस्त से सत्ता का केंद्रीकरण, व्यक्तिवाद और संस्थागत मध्यस्थता को धता-बताते हुए जनता को सीधे-सीधे संबोधित करने वाला लोक-लुभावनवाद निकला।

इंदिरा गांधी के उस दौर के बहुत से कठोर क़दम नरेंद्र मोदी ने नये नामों से उठाये क्योंकि पूंजीवादी संकट कोरोना के क़हर से पहले ही गहरा हो चला था। कॉरपोरेट घरानों ने बैंकों से जो पैसा लिया था, वह एन पी ए के नाम से डूब चुका था। केंद्र सरकार ने संसद में यह बताया था कि 1 जनवरी 2015 से 31 दिसंबर 2019 तक 38 पूंजीपति बैंकों का पैसा लेकर विदेश भाग गये जिनमें विजय माल्या, नीरव

मोदी और मेहुल चौकसी का नाम भी शामिल है। *इंडियन एक्सप्रेस* में 11 जनवरी 2021 को आर बी आइ के आंकड़ों के आधार पर छपी एक रिपोर्ट के मुताबिक़ यूपीए सरकार के समय बैंकों का एनपीए लगभग 5 लाख करोड़ रुपये था, मोदी सरकार के पांच सालों में वह बढ़कर 18.28 लाख करोड़ हो गया। इससे पता चलता है कि बैंकों की पूंजी की किस तरह से लूट हुई जिससे बैंकों के पास पूंजी की भारी कमी हो गयी। इंदिरा गांधी के समय इसी तरह का संकट युद्ध आदि में पैसे की बरबादी के वजह से आया था, पूंजीवाद तब काफ़ी कमज़ोर हालत में था। उस दौर की 'अनिवार्य जमा योजना' की तरह अचानक नोटबंदी का एक शाम ऐलान और जन धन ख़ाते खुलवाने जैसे क़दम जनता के पैसे से बैंकों को पूंजीपूरित करने के लिए ही नरेंद्र मोदी ने लिये। मज़दूरों का बोनस काटने से कहीं ज़्यादा क्रूर क़दम लाखों कामगारों और दिहाड़ी मज़दूरों को बेरोज़गार कर देने के रूप में सामने आया, जिन मिल मालिकों का माल विकट मंदी के कारण गोदामों में सड़ने लगा था, उन्हें अपने मज़दूरों को वेतन नहीं देना पड़ा, और उत्पाद भी धीरे धीरे बिक गये, 'दुहू हाथ मुद मोदक'। कोरोना काल में केंद्र सरकार के कर्मचारियों का 18 महीने का मंहगाई भत्ता शायद हज़म ही कर लिया, इंदिरा गांधी के दौर में तो पी एफ़ में ज़बरन डाल दिया जाता था, मगर मिलता था। इस बार की मोदी सरकार तो देने से ही मुकर गयी। पांच राज्यों के चुनाव से पहले भले भुगतान कर दे, अभी तो उम्मीद नहीं लगती। अख़बारों के मुताबिक़ इस बक़ाया पर भी फ़ैसला प्रधान मंत्री नरेंद्र मोदी ही करेंगे। केंद्रीकरण की मानसिकता इस क़दर हावी है कि 'मन की बात' में स्कूली बच्चों तक को प्रधान मंत्री ही परीक्षा में अच्छे नंबर लाने की कला सिखायेंगे, कोई और नहीं। विडंबना देखिए, जिनकी अपनी शिक्षा पर लतीफ़े बन रहे हैं, वे ही बच्चों को गुर सिखायेंगे। रघुवीर सहाय के शब्दों में, 'हे प्रभु, यह तेरी दया नहीं तो और क्या है?'

अभय कुमार दुबे ने ठीक ही लिखा है कि 'पिछले एक साल का अनुभव बताता है कि इस पीएमओ ने सत्ता के इंदिरानुमा केंद्रीकरण को भी बहुत पीछे छोड़ दिया है। मोदी के पीएमओ में फ़ाइलों का अंबार लगा हुआ है, क्योंकि पूरी केंद्र सरकार की फ़ाइलों की प्रोसेसिंग उसी केंद्र से होती है। अनौपचारिक स्थिति यह है कि किसी मंत्री को अपने स्तर पर निर्णय लेने का अधिकार नहीं है।' ऐसी राजनीति के दलदल में भारत का *संविधान* और जनतंत्र फंस गया है जिसमें से उबर पाना आसान नहीं है। ऐतिहासिक और अभूतपूर्व किसान आंदोलन ने ज़रूर देश के सामने इस सत्य को पेश किया है, मगर इसका असर चुनावी राजनीति से क्या मौजूदा वर्गीय क़तारबंदी को कमज़ोर कर पाने में दिखेगा, या एक सांपनाथ की जगह दूसरे सांपनाथ के सत्ता में आने तक ही इसकी परिणति होगी, यह तो समय ही बतायेगा।

मो .9811119391

कोरोना-काल और महामारीग्रस्त मीडिया

मुकेश कुमार

कोरोना-काल के मीडिया के स्वास्थ्य परीक्षण के लिए एक ऐसे डॉक्टर की निगाह चाहिए जो अपने मरीज़ के मर्ज़ को पहचानकर दवा देने के पेशेगत समर्पण भाव से बंधा हुआ हो। कोई लालची, हैवान डॉक्टर यह काम नहीं कर सकता। वह तो मरीज़ को वेंटिलेटर पर टांगकर बिल बनाने में लगा रहेगा और मरने पर शव भी तभी देगा जब पूरा भुगतान कर दिया गया हो। तो आइए एक प्रतिबद्ध डॉक्टर की तरह मीडिया का परीक्षण करते हैं।

अव्वल तो हम मीडिया की बहुरूपता को समझ लें, क्योंकि मीडिया एकरूप नहीं है। ऐसा इसलिए ज़रूरी है ताकि एक ही परीक्षण विधि सब पर न आज़मायें और न ही सबको एक ही रोग का शिकार मानने की मानसिकता से यह काम करें। आम तौर पर जब हम मीडिया कहते हैं तो वह मुख्यधारा का मीडिया होता है, पत्र-पत्रिकाएं और न्यूज़ चैनल होते हैं। कोरोना काल में इस मीडिया की कमोबेश एक तरह की भूमिका थी और इसके बरक्स एक वैकल्पिक मीडिया है जो मोटे तौर पर डिज़िटल मीडिया केंद्रित है उसकी भूमिका मोटे तौर पर उसके विपरीत थी। हालांकि इन दोनों के अंदर भी बहुत सारी विविधताएं और विभाजन हैं, मगर सुविधा के लिए इन दोनों को दो वर्गों में बांटकर देखना ठीक होगा।

उक्त वर्गीकरण को ध्यान में रखते हुए जब हम मुख्यधारा के मीडिया का अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि उसने तक़रीबन दो साल के कोरोना-काल में जनविरोधी काम किया है। वह पूरी तरह से सत्ताधारियों का लठैत बनकर तैनात रहा, उनके कुकर्मों पर परदा डालता रहा और अगर किसी ने सच बताने या सवाल खड़ा करने की हिमाक़त की तो उसकी बेहरमी से धुनाई भी करता रहा। मोदी सरकार के लिए प्रोपेगंडा मशीनरी की तरह तो वह पिछले सात साल से काम कर रहा है, मगर इस दौर में उसका हिंसक और हैवानियत भरा चेहरा दिखायी दिया। लोकतांत्रिक एवं सामाजिक दायित्वों को गटर में डालते हुए उसने बड़ी ही बेशर्मी से ऐसे-ऐसे काम किये कि जब कभी पत्रकारिता का इतिहास लिखा जायेगा तो इसे अंधकार युग के रूप में दर्ज़ किया जायेगा। इन दो सालों में उसके पापों का हिसाब करने बैठेंगे तो काफ़ी वक़्त निकल जायेगा, मगर कुछ मोटी-मोटी चीज़ों की एक शृंखला बनायी जा सकती है जो हमें उसकी भूमिका को स्पष्टता के साथ दिखा सकती है।

याद कीजिए कि जब जनवरी, 2020 में कोरोना के आगमन पर ख़तरे की घंटियां बज रही थीं तो मुख्यधारा का मीडिया, जिसे गोदी मीडिया से लेकर केंचुआ मीडिया की संज्ञा से नवाज़ा जाता है, बीजेपी के चुनाव प्रचार का अग्रिम दस्ता बना हुआ था। शाहीन बाग़ उसके निशाने पर था और अनुराग ठाकुर, प्रवेश वर्मा, अमित शाह आदि के सांप्रदायिक अभियान को

हवा दे रहा था। उसका यह सांप्रदायिक अभियान बीजेपी को चुनाव जिताने में तो नाकाम रहा, मगर इसके परिणाम हमें पूर्वोत्तर दिल्ली के दंगों में देखने को मिले। इन दंगों में भी यह मीडिया बीजेपी प्रेरित दंगाइयों का ही साथ दे रहा था। तब तक दुनिया भर में कोरोना महामारी का शोर बढ़ता जा रहा था, मगर मीडिया ने कान बंद कर रखे थे क्योंकि तब ट्रम्प की अगवानी भी तो उसे करनी थी, उनके चुनाव प्रचार के लिए महामना मोदी ने जो आयोजन अहमदाबाद में किया था, उसका महिमागान करना था। ट्रम्प की विदाई के बाद सत्ताधारियों का राजनीतिक अभियान मध्यप्रदेश में सरकार उलटने में लगा था और भला वह इसमें ख़लल कैसे डाल सकता था। इसलिए देश में कोरोना फैलता रहा और मीडिया साहेब की ख़िदमत में लगा रहा। जब मोदी जी को अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति से फ़ुरसत मिली और कोरोना उनके एजेंडे पर आया तो मीडिया ने भी कमर कस ली। मगर तब भी उसकी मुस्तैदी कोरोना से लड़ाई के लिए नहीं, मोदी सरकार की हर पहल को सलामी देने के लिए थी। इसीलिए प्रधानमंत्री के आदेश पर उसने खुद भी दिये जलाये, थालियां पीटीं और लोगों से भी ऐसा करने के लिए कहा। वह कोरोना का उत्सव मनाने में जोत दिया गया था। उसे सरकार की लापरवाही और मूर्खताओं पर कोई गुस्सा या ऐतराज़ नहीं था। जनता के स्वास्थ्य से मुंह फेरकर वह तो सरकार की छवि चमकाना चाहता था, उसकी मदद करना चाहता था। इससे भी आगे जाकर वह सरकार प्रदत्त 'टूल किट' के तहत उसकी सांप्रदायिक विचारधारा के प्रचार-प्रसार के लिए भी तैयार था। इसीलिए उसने तबलीग़ी जमात के बहाने मुसलमानों को निशाना बनाया, कोरोना जिहाद का एक ज़हरीला जुमला गढ़ा और नफ़रत तथा हिंसा का वातावरण तैयार किया। इसी का नतीजा था कि देश भर में पुलिस ने तबलीग़ी जमात में हिस्सा लेने आये मुसलमानों को जेल में ठूंसना शुरू कर दिया। जगह-जगह हिंदुत्ववादी गुंडे सड़कों पर निकल आये और मुसलमानों को सबक़ सिखाने में जुट गये। मुसलमान दुकानदारों का बहिष्कार किया जाने लगा। ज़ी न्यूज़ और रिपब्लिक टीवी ने इसकी अगुआई की, मगर कोई चैनल और अख़बार इससे बचा नहीं। सबने मुसलमानों को जाहिल बताना शुरू कर दिया। तबलीग़ी जमात से शुरू करके उन्होंने देश भर के मुसलमानों को कठघरे में खड़ा कर दिया, उन्हें गुनहगार बना दिया। उनका यह काम कितना शर्मनाक था इसका अंदाज़ा, बॉम्बे, मद्रास, दिल्ली हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट की टिप्पणियों से समझा जा सकता है।

इसी दौरान उसने अपनी अमानवीयता का एक और परिचय दिया, जब अचानक घोषित किये गये लॉक डाउन के बाद लाखों मज़दूरों की पीड़ा को उसने न केवल नज़रअंदाज़ किया बल्कि जिन्होंने उसे दिखाया उन पर वह निर्ममता से टूट पड़ा। मज़दूरों के पलायन को उसने विपक्षी दलों की साज़िश बताया और अपने आक़ाओं की अक्षमताओं पर एक सवाल भी नहीं खड़ा किया। उसने जन आक्रोश को सत्ताधीशों की तरफ़ केंद्रित होने से रोकने के लिए डायवर्ज़न की हर चाल चली। इसीलिए , इधर देश की जनता पलायन, बेरोज़गारी, भुखमरी, चिकित्सा के अभाव से हाहाकार कर रही थी, पहले से बरबाद अर्थव्यवस्था और ख़राब हो रही थी, उधर हमारा मीडिया सुशांत राजपूत की मौत के ग़म में डूब गया। बल्कि ग़म में ही नहीं डूबा, सत्ता की मदद से साज़िशों का अंबार भी उसने लगा दिया। बिहार चुनाव में बीजेपी को मदद पहुंचाने और बीजेपी को गच्चा देकर एनसीपी, कांग्रेस के साथ मिलकर बनी उद्धव सरकार को गिराने का एजेंडा लेकर वह हायपर एक्टिव हो गया। सरकार द्वारा रिया चक्रवर्ती को ज़बरन फंसाया गया, सीबीआई और दूसरी जांच एजंसियों को लगाया गया और मीडिया इन सब क़दमों का न केवल समर्थन करता रहा, बल्कि उसने रिया चक्रवर्ती और उसके

परिवार का चरित्र हनन करने में कोई कसर बाक़ी नहीं रखी। मीडिया ट्रायल की यह, हाल के समय की सबसे बड़ी मिसाल थी। इसमें टीआरपी के लिए चैनलों की आपसी होड़ भी शामिल थी, मगर मुख्य तो सरकारी एजेंडा ही था। बाद में इस मामले में भी अदालतों ने मीडिया की जमकर खिंचाई की और अंत में तो यह भी साबित हो गया कि मीडिया की तथाकथित इन्वेस्टीगेटिव रिपोर्टिंग का सच क्या था।

हिंदुत्व का वायरस पिछले सात साल में तेज़ी से पूरे देश में फैला है, मगर कोरोना काल में इसका एक नया वेरियंट आ गया, जो और भी घातक निकला। इसे आप हिंदुत्व-सी (कोविड) कह सकते हैं। ये मीडिया के ज़रिये बड़ी तेज़ी से फैला और न केवल तबलीग़ी मामले में बल्कि और भी कई मामलों में दिखा। पालघर में एक हिंदू साधु की हत्या को सांप्रदायिक रंग दिया गया और इसमें भी सत्ता-मीडिया का खुला गठबंधन देखा गया। मगर पांच राज्यों के चुनाव में और ख़ास तौर पर बंगाल के चुनाव में यह वायरस जमकर फैलाया गया। लोगों के दिमाग़ में घुसकर हिंदू-मुसलमानों में विभाजन पैदा करने वाले इस वायरस ने बीजेपी को बंगाल में विजयी भले ही न बनाया हो, मगर उसे मुख्य विपक्षी दल बना दिया और प्रगतिशील पार्टियों को राजनीतिक परिदृश्य से साफ़ कर दिया।

लेकिन हिंदुत्व, टीआरपी और सत्ता की चाटुकारिता के वायरसों से ग्रस्त मीडिया का विराट रूप इसके बाद कोरोना की दूसरी लहर के दौरान भी दिखता रहा, बल्कि उससे भी ज़्यादा दिखा। इसी दूसरी लहर में यह साबित हुआ कि मोदी सरकार दिमाग़िया तौर पर दिवालिया है और गवर्नेंस के मामले में उसका डिब्बा गोल है। दिसंबर से ही दूसरी लहर की चेतावनियां विशेषज्ञ दे रहे थे कि यह और भी घातक होगी। पूर्व तैयारी के लिए भी सुझाव दिये गये थे, जिसमें ऑक्सीजन का प्रबंध भी शामिल था। मगर मोदी तो सत्ता के मद में चूर थे। वे दुनिया को बता रहे थे कि उन्होंने कैसे कोरोना महामारी पर विजय पा ली है और दुनिया को भी एक बड़े ख़तरे से बचा लिया है। लिहाज़ा उन्होंने दूसरी लहर से देश को बचाने के लिए कोई तैयारी नहीं की। इसके विपरीत वे चुनाव प्रचार में लगे रहे, बड़ी-बड़ी रैलियां देखकर खुश होते रहे। वही नहीं, उनकी पार्टी के तमाम नेता यही करते रहे और वायरस को फैलने में भरपूर मदद दी। इधर, उत्तराखंड सरकार ने केंद्र सरकार के आशीर्वाद से हरिद्वार में कुंभ आयोजित करके हिंदू वोटों की पुण्याई लूट लेने की योजना बना डाली। इस कुंभ में क़रीब एक करोड़ लोगों ने शिरकत की। इन श्रद्धालुओं के कोरोना टेस्ट के लिए जो व्यवस्था की गयी वह एक बड़ा घोटाला साबित हुई।

वास्तव में मीडिया ने इस पूरे कोरोना काल में मुस्लिम विरोधी और हिंदुत्ववादी भूमिका निभायी है। उसे कुंभ के आयोजन से कोरोना फैलता नहीं दिखा, उसने श्रद्धालुओं को जाहिल नहीं कहा। कुंभ ही क्यों कर्नाटक, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, मध्यप्रदेश आदि में धार्मिक आयोजनों में लाखों की भीड़ जुटती रही, मगर उसने उनको लेकर वैसा हल्ला नहीं बोला जैसा कि तबलीग़ी जमात पर बोला था। साफ़ था कि हिंदुत्ववादियों की घृणा उसके अंदर भी उसी अनुपात में बैठी हुई थी, इसलिए उसका नज़रिया भी वही था। वह हर चीज़ को बीजेपी और उसकी सरकार के नफ़ा-नुक़सान के चश्मे से देख और परोस रहा था।

अब दिसंबर से लेकर मई तक की इस पूरी अवधि में मीडिया की भूमिका को देखिए। सरकार की तरह वह भी सोया रहा। उसने न तो ख़तरे की घंटी बजायी और न ही सुनी। वह वही

दोहराता रहा जो सत्ता प्रतिष्ठान उसे बताता रहा। उसने सरकार की लापरवाही से ध्यान हटाने के लिए हर तरह के प्रपंच रचे, झूठ बोला, सच छिपाया। लेकिन वैकल्पिक मीडिया था जो सरकार को और उसे भी लगातार बेनक़ाब करता रहा। ऑक्सीजन की कमी और उससे मरने वालों की ख़बरें उसने इस पैमाने पर दिखायीं कि केंचुआ मीडिया भी धर्मसंकट में फंस गया कि करें तो क्या करें, क्या छिपायें कितना छिपायें। अंत में बेशर्मी से वह ऑपरेशन कवरअप पर लगा रहा। कोरोना से हो रही मौतों को भी वह छिपाता या कम करके ही बताता रहा। जब गंगा में लाशें तैरने लगीं, रेत में दफ़नायी जाने लगीं और श्मशानों और क़ब्रिस्तानों में लाइनें लगने लगीं, तब भी वह छिपाने में ही लगा रहा। इसकी तमाम ख़बरें वैकल्पिक मीडिया के हवाले से ही आयीं। हां, द *टेलीग्राफ़* और *दैनिक भास्कर* जैसे कुछ एक अख़बारों ने हिम्मत दिखायी और सही आंकड़े पेश करने शुरू किये तो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सरकार की थू-थू होने लगी, मगर मीडिया का रवैया नहीं बदला। वह सरकार की चाकरी करता रहा।

सरकारपरस्ती का एक नमूना रामदेव के फ्रॉड को प्रचारित करना भी था। कोरोना की फ़र्ज़ी दवाई 'कोरोनिल' पर सवाल खड़े करने के बजाय वह उसे भारत की खोज बताता रहा, क्योंकि *पतंजलि* उसे भरपूर विज्ञापन देता है। अपने आर्थिक हित के लिए उसने जन स्वास्थ्य से खिलवाड़ किया। इस खेल में सरकार भी शामिल थी इसलिए उस पर भी सवाल नहीं खड़े किये। रामदेव के विज्ञानविरोधी बयानों पर आईएमए टूट पड़ा, मगर उसने अपनी वफ़ादारी नहीं छोड़ी। रामदेव के झूठ और अंधविश्वास को वह बिना पलक झपकाये अपने दर्शकों के दिमाग़ों में रोपता रहा।

मीडिया की अंधभक्ति की पराकाष्ठा तो तब देखने को मिली जब टीके के उत्पादन और उपलब्धता के मामले में सरकार पूरी तरह घिर गयी और वह उसके झूठों के साथ डटकर खड़ा रहा। सरकार ने टीकों के उत्पादन और वितरण की कोई व्यवस्था नहीं की थी, बल्कि इसकी योजना तक उसके पास नहीं थी। जब टीकाकरण का मौक़ा आया तो सरकार सफ़ेद झूठ बोलने पर उतर आयी। उसने झूठे दावे करने शुरू कर दिये और फिर राज्यों पर दोष मढ़ना शुरू कर दिया। सुप्रीम कोर्ट ने उसकी टीका नीति की बखिया उधेड़ कर रख दी और उसे विवश कर दिया कि वह उसके हिसाब से काम करे। इसके बाद में प्रधानमंत्री और उनकी सरकार की ओर से झूठी घोषणाओं का सिलसिला जारी रहा। दुनिया भर का मीडिया इन झूठों और सरकार के निकम्मेपन का पर्दाफ़ाश करता रहा, मगर मुख्यधारा का मीडिया लोकतंत्र के पहरेदार की भूमिका अदा करने के बजाय चोरों के गिरोह को बचाने में लगा रहा। वह बताता रहा कि सरकार से कहीं कोई चूक नही हुई है। मगर टीकाकरण की स्थिति बताती है कि असलियत क्या है। इस लेख को लिखे जाने तक केवल 12.9 फ़ीसदी लोगों को ही टीके की दोनों ख़ुराक़ लगी है जबकि एक ख़ुराक़ वाले लोगों की तादाद है 41.2 फ़ीसदी। इस साल के अंत तक सबको टीके दिये जाने की संभावना दूर-दूर तक नहीं है।

कुल मिलाकर ऐसे संकटकाल में जब मीडिया की ज़िम्मेदारी बनती थी कि वह सरकार को जवाबदेह बनाता और देश को सावधान करता, उसने अवाम को गुमराह किया, अपराधी का बचाव किया। वास्तव में उसके हाथ ख़ून से रंगे हुए हैं। इस ख़ून में उन सैकड़ों पत्रकारों का ख़ून भी शामिल है जो इस महामारी की भेंट चढ़ गये। सच तो यह है कि कोरोना महामारी के साथ हमने एक ऐसा मीडिया देखा जो खुद चाटुकारिता, स्वार्थपरता और आपराधिक लापरवाही की महामारी से ग्रस्त था।

मो.9811818858

लाशों और आपराधिक अकर्मण्यता ने घेरा, मोदी का झूठ बेनक़ाब

भाषा सिंह

...बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों में निरंतर कह रहा
वह कोठरी में किस तरह
अपना गणित करता रहा
औ' मर गया...
वह सघन झाड़ी के कंटीले
तम-विवर में
मरे पक्षी-सा
विदा ही हो गया
वह ज्योति अनजानी सदा को सो गयी
यह क्यों हुआ!
क्यों यह हुआ!!
मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य,
उसकी वेदना का स्रोत
संगत पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुंचा सकूं।
---'ब्रह्मराक्षस', मुक्तिबोध

'वेदना का स्रोत, संगत पूर्ण निष्कर्षों तलक' पहुंचाना... आज के संदर्भों में मुक्तिबोध की यै पंक्तियां कोविड लॉकडाउन के बाद लाचार अपने घरों-गांवों की तरफ़ निकल पड़े एक करोड़ से अधिक भारतीय नागरिकों के क़दमों, सड़कों पर चकनाचूर पड़े उनके सपनों, उनके लहू से सने हुक्मरानों के हाथों, भारतीय लोकतंत्र की व्यथा से जुड़ जाती हैं।

चूंकि लाशें झूठ नहीं बोलतीं। भारतीय लोकतंत्र किस हद तक क्रूरता की सीमा को पार कर चुका है, इसकी सबसे बड़ी डरावनी तस्वीर (हॉन्टिंग) गंगा तट पर दफ़नायी गयी भारतीय नागरिकों की लाशों की हैं। कोरोना में सरकार ने किस तरह से नागरिकों को मरने पर छोड़ दिया था— इसकी दिल दहलाने वाली तस्वीरें थीं लाशों की भीड़ के एक साथ अंतिम संस्कार होने की। इन तस्वीरों ने वह काम किया जो हज़ारों शब्द नहीं कर सकते थे। देश-विदेश के मीडिया ने इसे छापा। *न्यूयॉर्क टाइम्स* से लेकर

वाशिंगटन पोस्ट, *गार्डियन*- कमोबेश एक भी अंतर्राष्ट्रीय मीडिया नहीं था, जिसने इस बर्बरता और ट्रेजेडी को अपने यहां जगह नहीं दी हो। ये सारी तस्वीरें सिर्फ़ और सिर्फ़ एक ही बात कह रही थीं कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और उनकी सरकार कोरोना में स्थिति को संभालने को लेकर झूठ बोल रही है। इस क्रम में *रायटर्स* के फ़ोटो जर्नलिस्ट दानिश सिद्दीक़ी की लाशों के सामूहिक दहन की हृदयविदारक फ़ोटो, चील के पंजों की तरह हमारी चेतना को सदा कोंचती रहेगी।

आज इस बात को याद रखना बेहद ज़रूरी है कि तानाशाह बेपर्दा उस दौर में हुआ, जब वह मान कर चल रहा था कि जैसे उसने पहली कोरोना लहर में थाली बजवाकर, दीये जलवा कर लोगों का दिमाग़ भ्रमित किया था, वैसा ही दूसरा खेल (गिमिक) वह अब कर लेगा। वरना पहले कोरोना काल में करोड़ों (संसद में दिये गये सरकारी जवाब के मुताबिक़ 1 करोड़, 14 लाख 30 हज़ार 968 लोग अपने गांव, ठौर-ठिकाने वापस गये, असल संख्या तो इसका कई गुना होगी) भारतीय नागरिकों ने कोरोना लॉकडाउन की वजह से माइग्रेशन की भीषण त्रासदी झेली थी। इस भीषण तबाही ने बेहिसाब भारतीय नागरिकों की जान ली, लाखों नवजातों ने पथरीली सड़कों पर जन्म लिया, मौतें हुईं, लेकिन मोदी सरकार के झूठ की चादर का ताना-बाना ध्वस्त नहीं हुआ। इसके लिए मोदी सरकार ने प्रचार-प्रसार की अपनी मशीनरी को उतार दिया, और इसमें हमने देखा कि व्हाट्सएप्प यूनिवर्सिटीज़ ने सरकार के ख़िलाफ़ गुस्से को नियति में तब्दील करने की कवायद की।

अगर हम मीडिया की भूमिका को देखें, तो कॉरपोरेट मीडिया ने इस माइग्रेशन को नकारात्मक रोशनी में दिखाया, इन मज़दूरों को कोरोना वाहक बताया गया। अपने पूरे तंत्र के ज़रिये मोदी सरकार यह अवधारणा बनाने में कुछ हद तक सफल हुई कि इसमें 'बेचारे मोदी जी क्या कर सकते थे, अमेरिका जैसा शक्तिशाली देश भी तबाह हो गया...' आदि-इत्यादि। इस तरह की बातें चारों तरफ़ फैलायी गयीं और इसने सैंकड़ों किलोमीटर सफ़र करने पर मजबूर हुए ग़रीब मज़दूरों-छात्रों का गुस्सा ठंडा किया। लेकिन यह दूसरी लहर के दौरान नहीं हो पाया।

क्या इसकी वजह यह थी कि काठ की हांडी बार-बार नहीं चढ़ती? या इस बार कोरोना प्रबंधन में की गयी आपराधिक लापरवाही की क़ीमत सिर्फ़ ग़रीबों को नहीं, अच्छे-ख़ासे, खाते-पीते, संपन्न तबक़े को भी अपनी जान से चुकानी पड़ी। जितने भी सुरक्षा कवच थे, वे सब भरभरा कर ऐसे गिर गये जैसे ताश के पत्तों का महल हों। वरना क्या कभी यह कल्पना की जा सकती थी कि देश की राजधानी दिल्ली का चमचमाता महंगा सर गंगाराम अस्पताल अपने मरीज़ को ऑक्सीजन की कमी की वजह से मरने दे। एक दौर ऐसा था जब आप कितने ही रसूख़ वाले क्यों न हो, कितनी ही धन-दौलत आपके पास क्यों न हो, अस्पताल में दाख़िला होना क़िस्मत की बात हो गयी। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के संसदीय क्षेत्र बनारस के शास्त्रीय गायक, पद्म विभूषण छन्नू लाल मिश्रा की बेटी और पत्नी का कोविड में मारा जाना एक बड़ा राजनीतिक प्रश्नचिन्ह बना, क्योंकि वे तो लोकसभा चुनावों में प्रधानमंत्री के प्रस्तावक थे। उनकी गुहार भी मोदी जी ने नहीं सुनी।

इस तरह के हज़ारों वाक़ये हर शहर की ज़ुबान पर थे। तक़रीबन हर घर में किसी अपने के खोने का ग़म तारी था, चाहे जाने वाला सगा हो या दूर का। ये सारे ऐसे जीते-जागते नासूर थे, जिन्हें किसी भी झूठ-आडंबर के भीतर छुपाया नहीं जा सकता था। हुआ भी ऐसा ही। चारों तरफ़ हाहाकार

था।

दूसरी लहर में मोदी सरकार के कुशासन की पोल हर क़दम पर खुल रही थी। सड़कों पर ऑक्सीजन की कमी से तड़पते हुए लोगों की तस्वीरें, अस्पतालों में भर्ती के लिए बेदम होते मरीज़ का हजूम, शमशान घाट का वह ख़ौफ़नाक दृश्य, जहां चिता की अग्नि की आग बुझने का नाम ही नहीं लेती, लाशों को जलाने के लिए कई किलोमीटर लंबी लाइनें, दवाइयों की कालाबाज़ारी, क्रोसिन जैसी बुख़ार की साधारण दवा का ग़ायब हो जाना- ये सब लंबे समय तक आपदा में अवसर ढूंढने वाली मोदी सरकार की आपराधिक चुप्पी, आपराधिक अकर्मण्यता को साबित करने वाले साक्ष्य के तौर पर दर्ज रहेंगे।

मोदी सरकार हो या योगी सरकार- देश के इस अभूतपूर्व संकट के समय दोनों पूरी तरह से नदारद थीं। कोरोना की दूसरी लहर ने मोदी सरकार द्वारा चढ़ायी गयी भ्रम की मोटी परत को पूरी तरह से उतार फेंका। ऑक्सीजन के अभाव में मरते भारतवासियों की तस्वीरें-वीडियोज़ अंतर्राष्ट्रीय जगत तक पहुंचे और संभवतः 2014 के बाद पहली बार मोदी सरकार का झूठ उतने बड़े पैमाने पर कैमरे के ज़रिये राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय जगत पर विकास के तमाम दावों को चीरता हुआ सामने आया।

देश और दुनिया ने तथ्यों के साथ देखा कि किस तरह से प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के कोविड-19 टास्क फ़ोर्स की कई महीनों से बैठक ही नहीं हुई, जबकि जनवरी 2021 में दुनिया के नेताओं के सामने प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने बढ़ा-चढ़ा कर अपना गुणगान किया था कि किस तरह से 'भारत ने कोरोना को प्रभावशाली ढंग से रोक कर, दुनिया और मानवता को बड़े विनाश से बचाने का काम किया।' उनके स्वास्थ्य मंत्री ने तो यह घोषणा तक कर दी कि भारत ने कोरोना को परास्त कर दिया है। एक तरफ़ ये झूठे वादे करके, भारत ने सारे सेफ़गार्ड्स नीचे कर दिये, वहीं दूसरी तरफ़ जब दुनिया के बाक़ी देश वैक्सीन ख़रीदने में लगे थे, ताकि अपनी आबादी को कोरोना की दूसरी लहर से बचा सकें, तब भारत इसका उलट कर रहा था। मौत का संकट देश की आबादी पर मंडरा रहा था और मोदी सरकार ने भारतीयों को वैक्सीन लगाने के बजाय, 6 करोड़ वैक्सीन विदेश भेज दी। इसकी क़ीमत हमारे जनगण ने चुकायी। रोज़ाना 4 लाख तक कोरोना के नये मामले आने लगे, वैक्सीन ख़त्म हो गयी, अस्पतालों में बस अड्डों से भी ज़्यादा भीड़ नज़र आने लगी... लाशों और असहाय पुकारों से देश अट गया।

उस समय भी सरकार नहीं उतरी मदद करने बल्कि एक नागरिक ही दूसरे नागरिक को बचाने की कोशिश कर रहा था। गुरुद्वारों ने ऑक्सीजन लंगर शुरू कर दिये, लेकिन सरकार विदेशों से आयी मदद तक को एयरपोर्ट से कई दिनों तक बाहर नहीं निकाल पायी। जब हम कहते हैं मोदी सरकार का झूठ, तो इसका सीधा संबंध भयावह स्थिति और मौतों और मरीज़ के आंकड़ों को कम करके बताने से भी है। चूंकि 2021 में ही पश्चिम बंगाल, असम, केरल, तमिलनाडु और पुदुचेरी विधानसभाओं के चुनाव होने थे, लिहाजा मोदी सरकार ने अपनी पूरी मशीनरी को चुनावों को जीतने में लगा रखा था। दूसरी लहर की भयावहता को भांपने के बावजूद विशाल रैलियां आयोजित की जाती रहीं। इन चुनावों के प्रचार की कमान भी सीधे-सीधे प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी, गृह मंत्री अमित शाह के साथ-साथ उनके स्टार प्रचारक उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ ने संभाल रखी थी। हज़ारों की भीड़ रैलियों

के लिए जुटायी जाती रही, हर क़दम पर कोरोना संबंधी तमाम सावधानियों की धज्जियां उड़ायी गयीं। न नेता मास्क पहने थे और न ही रैलियों में जुटने वाली जनता। फ़िजीकल डिस्टेंसिंग- शारीरिक दूरी बनाये रखने की जगह एक-दूसरे को धक्का मारती भीड़ की तस्वीरें केरल को छोड़कर बाक़ी सभी चुनावी राज्यों से सामने आयीं।

कोरोना संकट बढ़ने पर जहां कांग्रेस सहित तमाम विपक्षी दलों ने चुनावी सभाओं पर लगाम लगायी तो दूसरी तरफ़ मोदी के नेतृत्व में भाजपा का चुनाव प्रचार ऐसे चल रहा था, मानो कहीं कोरोना हो ही ना। इसकी क़ीमत जान दे कर, भारतीय नागरिकों को चुकानी पड़ी। चूंकि केंद्र सरकार और उसका नेतृत्व चुनावी मूड में था, लिहाजा कोरोना से लड़ने की तैयारी की पूरी तरह से अनदेखी की गयी। जबकि सिर्फ़ देश ही नहीं दुनिया भर के डॉक्टर चेता रहे थे कि कोरोना की दूसरी लहर, इसकी नयी नस्ल - जिसका नाम 'डेल्टा वेरियंट' था, ज़्यादा घातक है और इससे बचाव के लिए बड़े पैमाने पर तैयारी करनी चाहिए। उसके लिए ऑक्सीजन प्लांट, अस्पतालों, मेडिकल-हेल्थ सिस्टम के चाक-चौबंद होने की ज़रूरत थी। तमाम देश जब मेडिकल इमरजेंसी के ख़तरे को भांपते हुए, उससे जूझने के लिए तैयारी कर रहे थे, भारत के हुक्मरान सिर्फ़ जुमले फेंक रहे थे। तब तक टेस्टिंग की प्रक्रिया भी बहुत ही धीमी गति से चल रही थी। आख़िर हम कोरोना की कड़ी गिरफ़्त में आ गये।

कोरोना संकट ने देश की स्वास्थ्य सेवाओं पर गंभीर सवाल उठाये। यह सहज ज्ञान ही बता सकता है कि जब बड़े-बड़े शहरों में अस्पताल, दवाइयों का ऐसा संकट था, तो ग्रामीण भारत में क्या स्थिति रही होगी। सेंटर फ़ॉर साइंस (सीएसई) की रिपोर्ट बताती है कि ग्रामीण भारत में सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों में 76 फ़ीसदी ज़्यादा डॉक्टरों की ज़रूरत थी। यह अकारण ही नहीं था कि कोरोना की दूसरी लहर में 50 फ़ीसदी से अधिक मौतें ग्रामीण भारत में हुई हैं।

सीएसई के अध्ययन के मुताबिक़ देश में कोरोना के 53 फ़ीसदी नये केस और 52 फ़ीसदी मौतें ग्रामीण जिलों में हुई हैं। मई 2021 में देश में 94.12 लाख कोरोना वायरस संक्रमण के मामले और 1.23 लाख मौतें दर्ज की गयी हैं। अप्रैल में, भारत में 64.81 लाख संक्रमण और 45,862 मौतें दर्ज की गयीं। इसकी तुलना में मई में संक्रमण से 43 फ़ीसदी और मौतों में 163 फ़ीसदी की बढ़ोतरी दर्ज की गयी। महामारी का ग्रामीण ज़िलों में फैलने का मतलब है कि देश को ठीक होने में अधिक समय लगेगा। इसका देश के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) पर सीधा असर पड़ेगा।

अब यहां इस बात पर ध्यान देना बेहद ज़रूरी है कि कोरोना की दूसरी लहर से तबाह देश पर सकारात्मकता का लेप चढ़ाने की कोशिश किस तरह से अपनी पब्लिक रिलेशंस (पीआर) कवायद के ज़रिये मोदी सरकार ने करनी शुरू की, और इसमें सबसे पहले बैटिंग करने उतरा राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ (आरएसएस)। आरएसएस प्रमुख मोहन भागवत ने मुहिम की पंचलाइन दी- जो मर गये, वे मुक्त हो गये। इस तरह से मरने वालों को 'मोक्ष दिलाकर' देश और दुनिया में भीषण आलोचना से घिरी मोदी सरकार की छवि को दोबारा चमकाने के लिए अभियान शुरू किया गया, और इसका नाम रखा गया 'सकारात्मक सोचिए' अभियान।

जितना बर्बर था, मरते हुए भारतीय नागरिकों को राम भरोसे छोड़ना, उससे कम क्रूर नहीं था, मौतों पर सकारात्मक सोचने का कैम्पेन चलाना। इसका मक़सद बताया गया कि बुरी ख़बरों से लोगों में

नकारात्मकता बढ़ गयी है, उसे कम करने के लिए यह अभियान शुरू किया गया।

इसकी क्रोनोलॉजी देखिएः कोविड-19 रिस्पॉन्स टीम के संयोजक लेफ़्टिनेंट जनरल (रिटायर्ड) गुरमीत सिंह ने कमान संभाली। फिर, 'पॉज़िटिविटी अनलिमिटेड- हम जीतेंगे' नाम से इस मुहिम की शुरुआत अप्रैल, 2021 में एक ज़ूम मीटिंग से हुई। इस बैठक में शामिल लोगों ने चारों तरह सरकार की आलोचना को सोखने की रणनीति बनायी, मीडिया घराने इसका अभिन्न हिस्सा बने। सैकड़ों लेक्चर दिलाये गये, देने वालों में संघ के मोहन भागवत, बिजनेसमैन अज़ीम प्रेमजी और खुद को आध्यात्मिक गुरु कहने वाले रविशंकर भी शामिल थे। एक बात बहुत साफ़ थी कि डेमैज कंट्रोल करने के मक़सद से शुरू किये गये इस सकारात्मक सोच अभियान का मक़सद था लोगों की स्मृति से उनके साथ हुई नाइंसाफ़ी को मिटाना। यह प्रोपोगैंडा मैनेजमेंट की मोदी सरकार की आजमायी हुई रणनीति है।

दरअसल, यह उदाहरण है कि लोकतंत्र में अकूत बहुमत किस तरह से लोकतांत्रिक भावना के खिलाफ़ काम करने लगता है, उसकी बुनियाद को हिलाने लगता है, और जिस लोक की बदौलत चुनकर आया होता है, उसके हितों को ही धता बताने लगता है। अकूत बहुमत की कमान जब दक्षिणपंथी विचारधारा के पास होती है, तो देश का चक्र उल्टा चलने लगता है। लोकतंत्र की बुनियादी प्रस्थापनाओं- बराबरी, समता, समानता, बंधुत्व को उलट कर मनुवादी ग़ैर-बराबरी पर आधारित व्यवस्था को स्थापित करना नया नॉर्मल (New Normal) बन जाता है। इसकी मिसाल है साल 2014 में सत्ता में अकूत बहुमत के साथ क़ाबिज़ हुए प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का शासनकाल। पहली बार सत्ता तक पहुंचने के लिए मुख्य तौर पर दो जुमलों का इस्तेमाल किया गया- अच्छे दिन और हर व्यक्ति को 15 लाख रुपये देना। इन नारों ने भारतीय वोटरों के मानस को बहुत गहरे तक प्रभावित किया और धीरे-धीरे यह स्थिति बनने लग गयी कि मोदी सरकार को विकल्पहीन-'मोदी नहीं तो कौन' के तौर पर बेहद सुनियोजित ढंग से प्रचारित प्रसारित किया गया।

ऐसे में कोरोना की दूसरी लहर ने प्रोपोगेंडा मैंनजमेंट और हर चीज़ को नये नॉर्मल में तब्दील करने की कोशिशों को ब्रेक लगाया। अभी उनके पास सबसे बड़ा हथियार है विस्मृति- लोगों की याद्दाश्त से यह खौफ़नाक दौर मिटा देना, ताकि उनके द्वारा किये गये अपराध मिट जायें।

वरिष्ठ कवि व लेखक अजय सिंह की कविता, 'यह स्मृति को बचाने का वक़्त है' की कुछ पंक्तियां ऐसे में ज़हन में चमकती हैं :

यही वो वक़्त है
जब स्मृति को बचाने के लिए
हमें हमालवर होना चाहिए
हमें कहना चाहिए
हत्यारों जनसंहार रचाने वालो
स्मृति का ध्वंस करने वालो
भारत छोड़ो

मो.9818755922

‘न्यू विस्टा प्रोजेक्ट’ :
भारत की सांस्कृतिक विरासत पर हमला

अनीश कपूर

(अनीश कपूर भारतीय मूल के एक ब्रिटिश शिल्पकार हैं। उन्होंने द *गार्जियन* नामक अंग्रेज़ी वेब अख़बार में यह लेख जून 2021 में लिखा था, जो पहले लिखे गये एक लेख का संशोधित रूप है, इस पर भारी विवाद उठ खड़ा हुआ। असहिष्णु अंध भक्तों ने इस कलाकार को जी भर कर कोसा। हम इसका अनुवाद यहां पेश कर रहे हैं जिससे विरासत के सवाल पर एक अलग नज़रिया भी उजागर हो— सं.)

भारत की राजधानी नयी दिल्ली के हृदय प्रदेश में मुग़ल वास्तु कला से प्रभावित एक स्मारक है, जिसमें भारतीय संसद स्थित है। 1911 और 1931 के बीच ब्रिटिश वास्तुकार एडविन लुटियंस ने संसद भवन, भव्य सड़क मार्ग एवं जलवाहिकाओं को ईरान के इस्लामी शासकों की उस स्थापत्य शैली में बनाया था, जिसका विस्तार समरकंद की इस्लामी सल्तनत और भारत के मुग़ल शासकों द्वारा किया गया था।

लुटियंस ने संभवत: इस्लामी कला से प्रेरित आधुनिक समय की सबसे महत्वपूर्ण इमारत को डिज़ाइन किया था। ये इमारतें हिंदू मंदिरों और महलों के स्थापत्य प्रतीकों को भी प्रदर्शित करती हैं, लेकिन मूल योजना मुग़ल-इस्लामी डिज़ाइन का अनुसरण करती है, जिसमें रोमन विजय के कुछ संकेत हैं। मेरे विचार से, दुनिया में कहीं भी सरकारी इमारतों की ऐसी महानतम शृंखला नहीं है।

इसमें आश्चर्य नहीं कि इन इमारतों की इस्लामी उत्पत्ति दिल्ली की मौजूदा सियासत को अपमानित करती है। इसीलिए तानाशाह मोदी और उनके वफ़ादार समर्थक इस इलाक़े को तबाह करने पर तुले हैं। जैसा कि मैं लिखता हूं, परिसर के भीतर अनेक इमारतों को नष्ट किया जा रहा है। हालांकि इन इमारतों में से किसी को भी लुटियंस द्वारा डिज़ाइन नहीं किया गया था, लेकिन अंतत: विश्वस्तरीय स्मारक का विनाश हो रहा है। हैरानी की बात है कि संयुक्त राष्ट्र विरासत मंच चुप है और विश्व धरोहर की हिफ़ाज़त करने वाली संस्थाओं ने भी अपने मुंह पर पट्टी लगा रखी है। क्या वे मोदी से भयभीत हैं, या उन्हें परवाह नहीं है कि भारत में क्या हो रहा है?

मोदी ने बिमल पटेल के रूप में तीसरे दर्जे के वास्तुकार को इसका ज़िम्मा सौंपा है। अल्बर्ट स्पीयर के नक्शेक़दम पर पटेल इस नये भवन को डिज़ाइन करेंगे, लेकिन निश्चित रूप से पटेल के पास स्पीयर जैसी प्रतिभा नहीं है।

वैचारिक दुराग्रह और नफ़रत से प्रेरित, यह विनाश 1992 के अयोध्या के बाबरी मस्जिद-विध्वंस और पूरे भारत में इस्लामी और मुग़ल स्मारकों के साथ की गयी बर्बरता का विस्तार है। ऐसा

प्रतीत होता है जैसे मोदी भारत के तमाम इस्लामी स्मारकों का विनाश और 20 करोड़ भारतीय मुसलमानों से मुक्ति चाहते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वे पहले ही लाखों भारतीय मुसलमानों से उनकी भारतीय नागरिकता ज़बरन छीन चुके हैं। उन्हें राज्यविहीन करने के अपराध के लिए उन्हें दंडित नहीं किया गया है, बावजूद इसके कि भारत संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकार घोषणा पत्र का एक हस्ताक्षरकर्ता है, जिसमें नागरिकता एक केंद्रीय सिद्धांत है।

संसद में जगह की कमी का कारण बताकर इस भव्य स्मारक के विनाश को उचित ठहराना महज़ एक ढोंग है। भारत का राष्ट्रीय संग्रहालय, ध्वस्त होने वाली कई इमारतों में से एक में स्थित है। इसे एक ऐसे भवन में ले जाया गया है, जहां अपर्याप्त स्थान है। ऐसे में नाज़ुक और बेशक़ीमती कलाकृतियां ख़तरे में हैं। मोदी के कार्यकाल की समाप्ति से पहले निर्माण ख़त्म हो जाये इसके लिए काफ़ी तेज़ गति से काम किया जायेगा। इस मूर्खतापूर्ण योजना को चुपचाप स्वीकार करने के लिए भारतीय अदालतों पर दबाव डालने के साथ-साथ पत्रकारों और अन्य टिप्पणीकारों को धमकाया भी गया है।

कितने दु:ख की बात है कि जहां कोविड-19 ने पूरे देश को तबाह कर दिया है, एक असंवेदनशील विचारधारा यह सुनिश्चित करती है कि केंद्रीय विस्टा परियोजना के लिए $ 2 बिलियन का वित्तपोषण हो जाये। ऐसा उस समय है, जब भारत के करोड़ों ग़रीब और बेघर लोगों को खुद के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है। लोग लाखों की संख्या में मर रहे हैं । इससे बढ़कर विडंबना क्या होगी कि अदृश्य और अज्ञात नागरिकों की लाशों पर मोदी अपने लिए एक घटिया स्मारक बनवा रहे हैं।

मैं यहां मुग़ल बादशाह औरंगज़ेब से उनकी तुलना करना चाहूंगा, जिसने 17वीं शताब्दी में पूरे भारत में हिंदू स्मारकों और मंदिरों को धार्मिक घृणा के कारण नष्ट कर दिया था। मोदी हमारे समय के औरंगज़ेब हैं। उनके शासन की तुलना अफ़ग़ानिस्तानी तालिबान से की जा सकती है, जो इसी तरह वैचारिक उन्माद के साथ शासन करने का प्रयास करते हैं।

सांस्कृतिक स्वीकार्यता और वर्चस्व स्थापित करने के लिए मोदी के हिंदू तालिबान को स्मारकों की ज़रूरत है। फ़ासीवाद के समर्थक अन्य नेताओं की तरह मोदी भी आशा करते हैं कि राष्ट्र के केंद्र में बसी छवियों को नियंत्रित करके वे अपने भारत की एक नयी संकल्पना बनायेंगे, जो उन्हें महात्मा गांधी और वल्लभभाई पटेल जैसे महापुरुषों की क़तार में खड़ा कर देगी।

अनुवाद : नलिन विकास
मो. 9717367329

सीख मिली है कोविड की :
बीजेपी को वोट नहीं - नो वोट टू बीजेपी

लाल्टू

पिछले डेढ़ साल से समूची धरती पर जो कहर बरपा है, उससे शायद ही कोई अछूता रह पाया है। हर किसी ने परिवार में या अपने परिचितों में किसी न किसी को खोया या गंभीर रूप से बीमार पाया है। लॉक डाउन और सामाजिक दूरी के बीच जीते हुए मानसिक थकान और अवसाद में हर कोई जाने-अनजाने आतंक के साये से घिर गया है। यह महामारी सचमुच इतना बड़ा आतंक नहीं है, जितना कि हमें लगता है। जो मौतें हुई हैं, वे धरती पर इंसान की पूरी तादाद के सामने नगण्य हैं। घरों में बंद रहने से सड़कों पर ट्रैफ़िक कम हुआ है, शहरी हवा में प्रदूषण कम हुआ है, और ऐसी वजहों से सामान्य हाल में जो मृत्यु-दर होती है, उससे कोई ज़्यादा इस दौर में नहीं है। निकम्मी सरकार की वजह से हुई बेवजह मौतें और सनसनी फैला कर रोटी कमाने वाली मीडिया की मिलीभगत से आतंक का माहौल बढ़ा है।

आतंक न भी हो, फिर भी कोविड महामारी के बड़े प्रभाव होने चाहिए। इससे पहले जब भी महामारी आयी है, वह छोटी अवधियों में यानी महीनों तक भौगोलिक रूप से सीमित रही है। जब बड़े पैमाने पर महामारी फैली भी और बड़ी तादाद में मौतें हुईं भी तो इसे क़ुदरती आपदा की तरह समझा गया। यह पहली बार है कि इंसानी हरकत की वजह से महामारी होने को लेकर हर कोई संजीदगी से सोच रहा है, हालांकि यह कहना मुश्किल है कि इस सोच के साथ हम भविष्य में सावधानी बरतेंगे और सतही समझ से आगे बढ़कर सामूहिक ज़िम्मेदारी के साथ ऐसे संकटों को रोकने की कोशिश करेंगे। महामारी की व्यापकता के संकेतों पर पहले से एकाधिक बार चेतावनी दी गयी थी, जिन पर ध्यान नहीं दिया गया। पिछली एक सदी में आलमी पैमाने पर हुई एक दर्जन महामारियों में 10 लाख से ज़्यादा मौतें हुई हैं। पर उनकी भयावहता सार्वजनिक स्मृति में नहीं है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के महानिदेशक, अदनोम गेब्रिसस ने 2018 में दुनिया को चेतावनी दी थी, 'किसी भी देश में किसी भी समय विनाशकारी महामारी शुरू हो सकती है और लाखों लोगों को मार सकती है।' भारत में तो आम लोगों को इसकी कोई जानकारी तक नहीं थी। महामारी में एक साल से अधिक गुज़ार चुकने के बाद भी भारत जैसे कई मुल्क कोविड की दूसरी लहर के लिए तैयार नहीं थे। बहरहाल कोविड कहां से आया, क्या वह चमगादड़ों से किसी और स्तनपायी जानवर के ज़रिये रूप बदलते हुए इंसान पर हमला कर पाया या इसे किसी प्रयोगशाला में तैयार किया गया जहां से निकल कर बड़ी तादाद में फैल गया, इस पर बहस-मशविरे चलते रहेंगे, पर यह बात साफ़ है कि इंसान ने जिस तरह क़ुदरत के साथ छेड़छाड़ की है, उसकी वजह से ही आज हम इस संकट की स्थिति में हैं। पर क्या इस छेड़छाड़ के लिए हर कोई ज़िम्मेदार है? सतही तौर पर इस सवाल का जवाब यही है कि हर इंसान क़ुदरत से फ़ायदा उठाने की

कोशिश करता है और इस तरह हर कोई ज़िम्मेदार ठहराया जायेगा। पर विस्तार से सोचने पर हम पायेंगे कि आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्थाएं और निहित स्वार्थों ने इंसानियत की बहुतायत को इस तरह मजबूर किया हुआ है कि इंसान और क़ुदरत में परस्पर मुठभेड़ का रिश्ता बन गया है।

क़ुदरत के बारे में अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक पिछली एक सौ सोलह सदियों या तक़रीबन साढ़े ग्यारह हज़ार साल तक की अवधि को होलोसीन या अभिनव युग कहते हैं। पिछली एक सदी को छोड़कर इस पूरी अवधि में वायुमंडल और धरती की सतह में रासायनिक संतुलन तक़रीबन एक सा बना रहा। हाल की सदियों में औद्योगिक क्रांति के बाद से यह संतुलन बिगड़ने लगा और 1950 के आसपास बड़े बदलाव नज़र आने लगे। ख़ासतौर पर धरती की सतह पर और वायुमंडल में औसत तापमान में बढ़त दिखने लगी। पिछले छ: दशकों में हालात इतने बिगड़ गये कि वैज्ञानिक यह मानने लगे कि अब हम होलोसीन से निकल कर नये युग में आ गये हैं। यह साफ़ था कि ये बड़े बदलाव क़ुदरत के संतुलित निज़ाम में इंसानी घुसपैठ से हुए हैं, इसलिए नये युग का नाम ऐंथ्रोपोसीन रखा गया। ऐंथ्रोपोस का मतलब इंसान से जुड़ा है, जैसे ऐंथ्रोपोलोजी मानव-शास्त्र को कहते हैं। धीरे-धीरे यह स्कूली स्तर की बातें हो गयीं कि वायुमंडल में ओज़ोन की छतरी में छेद हो गया है, जिसकी वजह से सूरज की पराबैंगनी किरणें पहले से कहीं ज़्यादा मात्रा में धरती की सतह तक पहुंच रही हैं और इस वजह से इंसान की ज़िंदगी ख़तरे में है; कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की परत बनते जाने से धरती से ताप अंतरिक्ष में निकल नहीं पा रहा और धरती का तापमान बढ़ रहा है; समुद्रों में पानी का सतह ऊंचा हो रहा है और इससे तटीय इलाक़े समंदर में डूब जायेंगे। आम तौर पर इन दो बातों पर ही चर्चा होती है, पर इनके अलावा और कई ऐसी बातें हैं, जो धरती और धरती पर इंसान की ज़िंदगी के लिए ख़तरा बन रही हैं। मसलन बड़े पैमाने पर कृत्रिम खाद के उत्पाद और इस्तेमाल से मिट्टी में नाइट्रोजन और फ़ॉस्फ़ोरस का संतुलन बिगड़ गया है। इंसान की जनसंख्या बढ़ने से और कीटनाशकों के व्यापक इस्तेमाल से कई पशु-पक्षी-वनज विलुप्त हो रहे हैं। हमारी पीढ़ी ने अपनी आंखों के सामने गौरैया, कौवा, तोता जैसे पंछी ग़ायब या तादाद में कम होते देखा है। इसका सीधा प्रभाव पर्यावरण और ईको- या पारिस्थितिकी-संतुलन पर पड़ा है। पीने के पानी का संकट गहराता जा रहा है। इन संकटों में कुछ तो ऐसी स्थिति में हैं कि अब उनसे उबरा नहीं जा सकता। पर ज़्यादातर अब भी नियंत्रण लायक़ हैं।

क़ुदरत की इस बर्बादी से किसका फ़ायदा हुआऔर किसका नुक़सान, यह हिसाब ज़रूरी है। इसमें कोई शक नहीं कि पिछली सदियों में इंसानी ज़िंदगी में कुछ बेहतरी हुई दिखती है। आधुनिक दवाओं के चमत्कार से औसत आयु बढ़ी है। विकसित मुल्कों में अस्सी और हमारे यहां पैंसठ तक पहुंच गयी है। तालीम और जानकारी में बढ़त हुई है। पर इसके साथ ही जीवन में तनाव और बेचैनी लगातार बढ़ती रही है। किसी भी वक़्त सारी दुनिया में दर्जनों जंगें चल रही हैं। जंगों में एकमुश्त मौतें और जानमाल का नुक़सान होता है। यह जंग-लड़ाई जहां अक़सरीयत के लिए पीर का समंदर है, वहीं कुछेक लोगों के लिए यही भौतिक सुखों का स्रोत है। जहां जंगें नहीं भी हो रही हैं, वहां पूंजीवाद और बाज़ार के हाथों हर कोई और हर कुछ बिक रहा है। तालीम, सेहत, घरबार, हर खित्ते में अमीर-ग़रीब की खाई बढ़ती ही जाती है। क्यूबा जैसे जिन मुल्कों ने अपनी सरहदों के अंदर इस ग़ैर-बराबरी को रोका है, उन्हें अंतर्राष्ट्रीय सौदागर और उनकी सरकारें बचे रहने नहीं दे रही हैं।

सेहत पर ध्यान दें तो कोविड-संकट के कुछ पहलुओं की बात कर सकते हैं। जनवरी 2020 में कोविड-19महामारी फैलने के बाद, भारत में रिपोर्ट किये गये केस लोड में धीरे-धीरे बढ़त हुई और पहली लहर सितंबर 2020 तक प्रति दिन 1 लाख नये मामलों के नीचे पहुंच गयी, फिर फ़रवरी 2021 तक धीरे-धीरे घटकर 10% हो गयी। भारत सरकार ने मान लिया कि सबसे बुरा वक़्त ख़त्म हो गया है।

फ़रवरी 2021 के अंतिम सप्ताह में, संक्रमण विस्फोटक रूप से बढ़ गया। मई की शुरुआत तक, हर दिन 4 लाख से अधिक नये मामले सामने आये और 4,000 से अधिक मौतें हुईं, यानी दो महीने पहले की तुलना में 40 गुना अधिक। हर कोई जानता है कि संख्याएं बहुत कम रिपोर्ट की गयी हैं, और वास्तविक केस लोड 10-20 गुना अधिक हो सकता है। पहली लहर के दौरान लॉकडाउन में प्रवासी मज़दूरों के साथ जो हुआ और चरमराती सेहत व्यवस्था की जो छवि दिखी, दूसरी लहर में उससे कहीं ज़्यादा आतंक ऑक्सीजन की कमी, दवाओं की कालाबाज़ारी और मौतों में लगातार इज़ाफ़े से बढ़ा। ऑक्सीजन की कमी उत्पादन क्षमता की कमी के कारण नहीं है, बल्कि अपर्याप्त परिवहन और भंडारण के बुनियादी ढांचे में खामियां हैं। राजधानी दिल्ली जैसे शहर में लोग गुरुद्वारों के आसरे जी रहे दिख रहे थे। दुनिया भर में लोग देख रहे थे कि भारत की स्थिति कितनी ख़राब है और एक के बाद सभी अंतर्राष्ट्रीय प्रिंट और दृश्य मीडिया में भारत सरकार के निकम्मेपन पर टिप्पणियां छप रही थीं। मेडिकल विज्ञान की नामी शोध पत्रिका, *लांसेट* में भी मोदी सरकार के ख़िलाफ़ रिपोर्ट आयी।

सरकार की भूमिका क्या रही? भारत में फ़िरकापरस्त और फ़ासीवादी विचार के केंद्र राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की पार्टी की सरकार और उसके मुखिया मोदी और शाह से लोगों के भले के लिए कोई क़दम सोचना नादानी और नासमझी है। फिर भी चूंकि सरकार उनकी है और कहने को लोकतांत्रिक ढांचा है, इसलिए ये प्रसंग चर्चा में रहते हैं। लगातार झूठ बोलते रहना और मक्कारी को वैचारिक आधार बनाकर चलने वाली संघ की मशीनरी ने कोविड की पहली लहर की शुरुआत में दिल्ली में तबलीगी जमात के सम्मेलन पर दोष मढ़कर सबको समझाने की कोशिश की कि देश में महामारी का फैलना मुसलमानों की वजह से है। पिछली सदी में इतालवी फ़ासीवाद और जर्मन नात्सी विचारधारा के मुताबिक़ फ़िरक़ापरस्त हिंसक 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' और पूंजीवाद को खुली छूट के घोल की नीतियों पर चलने वाले संघ के मुखिया ने हाल के इतिहास में सबसे बेवकूफ़ नस्लवादी घटिया रुचि के अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रंप और उसके साथ आये कई सैकड़े लोगों की आवभगत में अहमदाबाद में बहुत बड़ा आयोजन किया। ये लोग सीधे अमेरिका से आये थे जहां कोविड फैल चुका था। भारत के हवाई अड्डों पर भी विदेशों से आ रहे लोगों में कोविड का संक्रमण पाया जा रहा था। ऐसा माना जाता है कि संक्रमण का बड़ा स्रोत अहमदाबाद का यह आयोजन रहा, हालांकि इस पर कोई शोध नहीं किया गया। इसके तुरंत बाद जब अचानक लॉकडाउन की घोषणा हुई तो प्रवासी मज़दूरों का जो हाल दुनिया ने देखा, वैसी नृशंसता आज के वक़्त दुनिया में और कहीं मुमकिन नहीं है। महीनों तक भूखे-प्यासे ग़रीब बच्चों के साथ अपनी पोटलियां ढोते सैंकड़ों-हज़ारों किलोमीटर पैदल चलते रहे। कहीं क़िस्मत से कोई बस मिली तो पैसे देने के बावजूद भेड़-बकरियों की तरह लादे गये। सैकड़ों इसी तरह चलते-चलाते मारे गये। आख़िर संघ के लोगों में ऐसी अमानवीय प्रवृत्ति कहां से आयी? ज़मीनी स्तर पर अक्सर समाज सेवा के भ्रम में कई किशोर और युवा संघ के कार्यकर्ता बन

जाते हैं, फिर वर्षों तक उनके ज़हन में ज़हर डाला जाता है। पर सब एक जैसे तो नहीं हो सकते। जो भले लोग हैं, उन सबने ऐसी बेरहमी को मान कैसे लिया?

दरअसल इतालवी-जर्मन फ़ासीवाद को बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यूरोप-अमेरिका के पूंजीवादियों यानी तत्कालीन बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने मदद पहुंचायी थी, जिनमें उन दिनों लगातार बढ़ रही खनिज तेल उत्पाद कर रहीं कंपनियां शामिल हैं। उसी तरह आज हिंदुस्तान में देशी-विदेशी पूंजी का फ़िरक़ापरस्त हत्यारों के साथ संगठित गठजोड़ है। नब्बे के दशक के शुरुआत से जब से तथाकथित वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण और नवछूटवादी (आम तौर पर ग़लत तर्जुमे में नवउदारवादी) माली निज़ाम चल पड़ा है, यह गठजोड़ बढ़ता रहा है। पहले पूंजीवादियों ने वैचारिक बिखराव और पूरी तरह दक्षिणपंथी रुख़ न रख केंद्र की राजनीति का साथ दिया, पर चूंकि हर तरह की ग़ैरबराबरी से लदे लोकतांत्रिक ढांचे में शोषण के स्थाई तरीक़े मुमकिन हो नहीं रहे थे, इसलिए गुजराती अडाणी-अंबानी द्वय से शुरू होकर धीरे-धीरे सारे पूंजीवादी घराने जघन्य सांप्रदायिक नफ़रत की राजनीति का साथ देने लग गये। यही असल गुजरात मॉडल है, जिसके तहत सार्वजनिक क्षेत्र से सारा निवेश धीरे-धीरे ख़त्म कर निजी कंपनियों को बेचा जा रहा है। मक्कार चरित्र के साथ संगति रखते हुए राष्ट्रवाद का नारा देकर सुरक्षा के खित्ते तक को निजी निवेश के लिए खोला जा रहा है। महामारी की आपदा का फ़ायदा उठाकर किसानों-मज़दूरों के हितों के ख़िलाफ़ क़ानून लाये जा रहे हैं। ख़ासतौर पर सेहत और तालीम के खित्तों में निवेश को लगातार कम किया जा रहा है। इन खित्तों में पहले से ही ज़रूरत से कहीं कम पैसा लगाया जा रहा था। मसलन सब-सहारन अफ्रीका के बहुत ही ग़रीब मुल्कों की तुलना में भी हमारे यहां सेहत और तालीम पर कम पैसा लगाया जाता है। सेहत में सकल घरेलू उत्पाद का तक़रीबन साढ़े चार प्रतिशत और राष्ट्रीय बजट का तक़रीबन बारह प्रतिशत ही ख़र्च होता है, जबकि फ़ौज और अर्द्ध-फ़ौजी बलों और असलाह की ख़रीद आदि के लिए राष्ट्रीय बजट का तक़रीबन चौदह-पंद्रह प्रतिशत घोषित रूप से ख़र्च होता है। ऐसे में तालीम और सेहत के इदारे लगातार चरमराते वजूद लिए मौजूद हैं। इसलिए जब महामारी आयी तो देश को उस पर क़ाबू पाने में नाकामयाब होना ही था।

भारत में कोविड-19 की कुल मौतों की घोषित संख्या अब 4 लाख से ऊपर है। 1918 के स्पेनिश फ़्लू के बाद एक ही आपदा में हुई मौतों की यह सबसे बड़ी संख्या है, जिसमें पूरे दक्षिण एशिया में 1करोड़ 80 लाख लोग मारे गये थे। जब दुनिया के सभी देश अपने नागरिकों को जल्द-से-जल्द टीका लगाने में जुट गये, भारत में टीका का भयंकर अभाव है। सबको मुफ़्त टीकाकरण का झूठ हर कोई देख रहा है। आलमी स्तर पर फ़ार्मा दिग्गज माने जाने वाले भारत की स्थिति ऐसी गंभीर कैसे हो गयी, जब दुनिया भर की सैकड़ों बीमारियों के लिए बनने वाली टीकाओं का तक़रीबन 60% यहां बनता है? भारत के नागरिक यह वाजिब सवाल पूछेंगे ही।

इसका जवाब यह है कि इस साल की शुरुआत में खुद को स्वघोषित विश्वगुरू मानने वाले फ़ासिस्टों ने देश में बनी टीकाओं का तक़रीबन सारा ही कहीं बेच दिया और कहीं वैसे ही बांट दिया, क्योंकि अपनी दमनकारी सियासत के लिए दुनिया के दीगर देशों से चुप्पी ख़रीदनी थी। जब दूसरी लहर आयी और बंगाल के चुनावों में लाखों लोगों को पैसे देकर शोहदों जैसी घटिया बातें सुनाने वाली रैलियों में बुलाकर कोविड संक्रमण फैलाने में पूरा ज़ोर लगा दिया। अपनी सहूलियत के लिए चुनाव

आयोग के ज़रिये आठ चरणों में चुनाव करवाये गये, जिसकी वजह से हिंसा की घटनाएं भी बढ़ती रहीं। संघ के हज़ारों कार्यकर्ताओं को दूसरे राज्यों से लाया गया था। वे सब आते-जाते कोविड फैलाते रहे। नतीजतन मार्च के अंत तक भयावह दूसरी लहर हर ओर थी। दिल्ली में ऑक्सीजन के अभाव से लोग अस्पतालों के बाहर सड़कों पर मारे जा रहे थे। पर फ़ासिस्ट तब भी चुनाव अभियान में लगे रहे। और अव्वल तो लगाने के लिए टीके ही कम थे और इसका प्रचार न होने के कारण लोगों में टीका पर शंकाएं भी थीं। मध्यवर्ग के लोगों को पहली बार यह एहसास हुआ कि संकट के वक़्त सरकारी अस्पताल ही सबसे बेहतर हैं और पहले से ही कम बजट में साल-दर-साल लगातार हुई कटौती से इनका हाल ख़स्ता है। भारत की सेहत व्यवस्था को यों चरमराते देख कर सारी दुनिया अचंभित थी। सीना पीट कर खुद को विश्वगुरू कहता यह मुल्क दरअसल इतना पिछड़ा हुआ हो सकता है, किसी को यह ख़याल तक नहीं था। दूसरे कई देशों में कोविड की दूसरी लहर ने कहर बरपाया, पर कहीं भी भारत जैसे संकट का सामना नहीं करना पड़ा, क्योंकि उन्होंने भारत की तुलना में सार्वजनिक स्वास्थ्य देखभाल में अधिक निवेश किया था। जॉर्डन, ईरान, ब्राज़ील, कोलंबिया, चिले, उरुग्वे, बहामास जैसे देशों ने स्वास्थ्य देखभाल पर भारत के 4.7% की तुलना में अपने सकल घरेलू उत्पाद का 7-8% निवेश किया। जहां भारत में प्रति दस हज़ार जनसंख्या पर अस्पतालों में 5.3 ही बिस्तर थे, उन देशों में तीन से छ: गुना बिस्तर ज़्यादा थे, और भारत के 9.3 डॉक्टरों की तुलना में प्रति दस हज़ार लोगों के लिए डॉक्टरों की संख्या डेढ़ से 5 गुना ज़्यादा थी।

कोविड त्रासदी पर बहुतों ने बहुत कुछ लिखा है। पर जैसा कि मार्क्स ने कहा था, 'दार्शनिकों ने कई तरीक़ों से दुनिया को समझने की कोशिश की है। सवाल इसको बदलने का है।' तो हम क्या करें। सबसे पहली बात तो यह कि बड़ी जल्दी बहुत बड़ा बदलाव कहीं आता नहीं दिखता। पिछली सदियों में समाज में ग़ैरबराबरी के ख़िलाफ़ जद्दोजहद से दुनिया भर में इंसानी रिश्तों और जीवन-स्तर में जो थोड़ी सी बेहतरी दिखने लगी थी, नवछूटवादी अर्थ-व्यवस्था ने उस पर रोक लगा दी है। हर कहीं ज़ालिम शोषक ताक़तें मज़हब, राष्ट्र, आदि तरह-तरह के हथकंडों से लोगों में फूट डालकर न केवल ग़ैरबराबरी को बनाये रखने में बल्कि उसे और बढ़ाने में कामयाब हुई हैं। तो क्या मज़हब, राष्ट्र, आदि के ख़िलाफ़ लड़ें? यह ज़रूरी नहीं है कि हर कोई नास्तिक हो या राष्ट्र की सीमाओं को न माने। ज़रूरत है कि हम हर संस्कृति, हर मज़हब, हर राष्ट्र का सम्मान करें। संस्कृति-वाद, मज़हब-वाद और राष्ट्र-वाद से बचें। ज़ाहिर है यहां सरलीकरण हो रहा है, विस्तार से इन बातों में जाने के लिए लंबी चर्चाओं की ज़रूरत है। संक्षेप में, एक शब्द 'विविधता' को संजोये रखना है। अगर इंसानी इल्म और क़ाबिलियत से हमें कुछ अच्छा मिला है तो उसमें सबसे अहम विविधता को बचाये रखने की क्षमता है। जैविक विविधता, इंसानी विविधता, हर स्तर पर विविधता को बचाना है। बड़ी लड़ाइयां, जैसे हमारे ग्रह, धरती को बचाने की लड़ाई, चलती रहेंगी, पर कुछ छोटी लड़ाइयां तुरंत लड़नी हैं, और पूरी ताक़त के साथ लड़नी हैं। ख़ासतौर पर राष्ट्रवाद के घिनौने स्वरूप के ख़िलाफ़ आलमी पैमाने पर लड़ना है। दक्षिण एशिया में, ख़ासतौर पर भारत में पड़ोसी देशों को अब दुश्मन ही माना जाता है। हुकूमतें दुश्मन हैं, पर आम इंसान दुश्मन नहीं हैं और होना भी नहीं चाहते। हर कोई प्यार-मोहब्बत की ज़िंदगी बिताते सुख चैन से अपना घर-परिवार संभालना चाहता है। बच्चों को अच्छी सेहत के साथ बेहतर तालीम देना

चाहता है। इसलिए हर किसी को टेक्नोलोजी का पूरा फ़ायदा उठाते हुए सरहदों के पार दोस्तियां क़ायम करनी हैं। प्यार बढ़ाना है। हुक्काम हमारे संसाधनों को अपने निहित स्वार्थों के लिए तबाह कर रहे हैं। सेहत, तालीम जैसे खित्तों में से पैसा निकाल कर लाखों-करोड़ों फ़ौज-पुलिस और असलाह की ख़रीद में फेंक देते हैं। इसके ख़िलाफ़ हर मुल्क में भले इंसान शिद्दत से लामबंद हैं। हमें उनके साथ जुड़ना है और सरकारों को मजबूर करना है कि वे हमें अम्न-व-चैन से जीने दें। इस प्रसंग में हमें अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन का यह नारा भूलना नहीं चाहिए कि 'ऐनदर वर्ल्ड इज़ पॉसिबल (एक और दुनिया मुमकिन है)'। नयी-छूट-वादी व्यवस्था और अमेरिका-ब्रिटेन-फ्रांस के बरक्स क्यूबा जैसे छोटे पर जुझारू मुल्क को हमें अपना आदर्श बनाना चाहिए।

शासन-तंत्र पर फ़ासिस्टों के क़ाबिज़ होने के पहले से ही विविधता पर ख़तरा मंडराता रहा है। जंगलों में रहने वाले लोगों और उनके लिए आवाज़ उठाने वालों पर ज़ुल्म लंबे अरसे से हो रहे हैं। नयी -छूटवादी अर्थ-व्यवस्था लागू होने के बाद से राजनीतिक-सामाजिक हालात लगातार बदतर हुए हैं। महंगाई और बेरोज़गारी बढ़ती रही है। फ़ासिस्टों के सत्तासीन होने के बाद से अर्थव्यवस्था भी बदहाली की ओर लुढ़क गयी और जीडीपी की वृद्धि दर का आंकड़ा न्यूनतम स्तर पर पहुंच गया। भुखमरी के आंकड़ों में भारत की स्थिति में गिरावट आयी, जब कॉरपोरेट घरानों ने मुनाफ़े में अभूतपूर्व छलांगें लगायीं। पहले कुछ हद तक विरोध की जगह थी। अब वह जगह ख़त्म होती जा रही है। लोकतांत्रिक मूल्यों, संसदीय परंपराओं और चुनाव आयोग और जांच ब्यूरो जैसी संवैधानिक संस्थाओं का पतन हुआ है। न्यायपालिका तक में आर एस एस की घुसपैठ दिखती है।

जर्मनी में नात्सी पार्टी के उभार के दौरान साम्यवादियों और समाजवादियों में जैसा बिखराव था, और उसका फ़ायदा हिटलर को मिला, बदक़िस्मती से हमारे यहां वाम ताक़तों ने उस इतिहास से कोई सीख नहीं ली है। जैसे बंगाल के चुनावों में वाम दलों में इस बारे में मतभेद रहा कि पहला दुश्मन कौन है, नफ़रत की सियासत करने वाले या माफ़िया और सिंडिकेट के ज़रिये भ्रष्ट शासन करने वाले। लोगों ने खुद ख़तरे को पहचाना, बड़े फ़ासिस्ट नेताओं को शोहदों की तरह रैलियों में स्त्रियों का अपमान करते देखा और तमाम सवालों के बावजूद लोकतांत्रिक विरोध की ज़मीन बचाये रखने के पक्ष में मतदान किया। चुनावों से पहले इस बात को न समझ पाने की अपनी ग़लती को सीपीएम ने भी अब स्वीकार किया है। इसलिए फ़िलहाल ज़रूरी है कि बंगाल में आम नागरिकों और बुद्धिजीवियों ने जो 'नो वोट टू बीजेपी' आंदोलन खड़ा किया है, उसे देश भर में फैलाया जाये। ख़ासतौर पर उत्तर प्रदेश में अगले साल आने वाले चुनावों को लेकर हर तरह की तैयारी में पहला नारा यही होना चाहिए कि बीजेपी को वोट नहीं, नफ़रत की राजनीति करने वाले फ़ासिस्टों को वोट नहीं।

'बीजेपी को वोट नहीं' कहते हुए हमें उन सभी सवालों को लोगों के सामने रखना होगा जो हमारे सवाल हैं। कोविड त्रासदी और मोदी-शाह-योगी झूठ-तंत्र का भंडाफोड़ करते हुए हमें लोगों को समझाना होगा कि किस तरह अपने 'आपदा में फ़ायदा' सिद्धांत को अपनाते हुए त्रासदी के दौरान किसान-मज़दूर विरोधी क़ानून लागू किये गये, तालीम में ग़ैरबराबरी बढ़ाने वाली नयी शिक्षा नीति लायी गयी और दमनकारी यू ए पी ए क़ानून लगाकर युवा छात्रों तक को बेवजह झूठे इल्ज़ाम लगाकर क़ैद किया गया। फ़ासिस्ट शासन ने मुख्यधारा के मुहावरे को इतना अधिक दक्षिण की ओर धकेल

दिया है कि फ़ौज-पुलिस पर बढ़ते ख़र्च के ख़िलाफ़ कोई आवाज़ तक उठाने से डरता है। यह मान लिया गया है कि 'जय श्री राम' जैसे धार्मिक नारों का इस्तेमाल हमला करने और हत्याएं करने के लिए करना कोई अपराध नहीं है। सरकार में होते हुए सार्वजनिक रूप से विरोधियों को ग़द्दार कहकर उनको गोली से मार देने को कहना आम बात मान ली गयी है। प्रधान मंत्री द्वारा ओहदे का ग़लत इस्तेमाल करते हुए लोगों में थाली पीटकर कोरोना भगाने जैसे अंधविश्वास फैलाये गये और लोग सम्मोहित से भेड़चाल में शामिल हुए। इसके साथ ही ख़ास पूंजीपतियों के व्यापारिक मुनाफ़े में बेइंतहा बढ़त पर आंखें मूंद लेना, सारे मीडिया को ख़रीद कर अपनी जेब में कर लेना और संविधान की धज्जियां उड़ाते हुए देश के संघीय ढांचे को लगातार कमज़ोर करना, यह सब धड़ल्ले से चल रहा है। लोग मानो यह मान चुके हैं कि उनकी भलाई की कोई ज़िम्मेदारी सरकार की नहीं है। ऐसे हाल में क़ुदरत और इंसान के रिश्ते पर बात करना अब जैसे दूर की बात लगती है। इसलिए फ़िलहाल लड़ाई साफ़ है, हमें अपने सारे संसाधन फ़ासिस्टों को हराने में लगाने हैं। ज़ाहिर है कि दूसरे राजनीतिक दलों में ईमानदार नेताओं और कार्यकर्ताओं की कमी है और आर एस एस की पूरी ताक़त उनको ख़रीद कर अपने साथ कर लेने में लग जायेगी। इसलिए सभी लोकपक्षी, साम्यवादी-समाजवादी वाम युवा, किसान-मज़दूर संगठन यह तय कर लें कि यह उनके लिए जीने-मरने की लड़ाई है। उत्तर प्रदेश में चुनावों को अब कुछ ही महीने रह गये हैं, पर ज़मीनी स्तर पर विपक्ष में काफ़ी बिखराव है। पार्टी नेता अपने हिसाब-किताब में लगे रहेंगे, वाम में भी पुराने झगड़े कभी ख़त्म नहीं होंगे। इसलिए युवाओं को आगे आकर 'बीजेपी को वोट नहीं' आंदोलन खड़ा करना होगा। बंगाल के तजुर्बे से सीखकर, वहां के साथियों को मुहिम में शामिल कर लड़ाई लड़नी होगी। आपदाएं अभी और आनी हैं, जैसे एक के बाद एक साइक्लोन अब आने लगे हैं, भविष्य में ख़तरे कम नहीं है। इसलिए संगठित विद्रोह की ज़मीन बनाये रखने के लिए हर कोई हर वक़्त कहे – 'नो वोट टू बीजेपी, भाजपा को वोट नहीं'।

मो. 9966878063

कोरोना संकटः आपदा में अवसर

मुशर्रफ़ अली

Only a crisis—real or perceived—produces real change.
--Milton Friedman

कोरोना काल में जब देश की जनता एक भयंकर प्राकृतिक आपदा की चपेट में थी तब भारत के प्रधानमंत्री का यह कहना कि हमको 'आपदा में अवसर' तलाशना चाहिए, कोई उनका मौलिक विचार नहीं था, बल्कि वे मुक्त बाज़ार समर्थक अर्थशास्त्री के लिखे विचारों को ही दोहरा रहे थे। यह बात अमरीकी अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रिडमेन ने अपनी किताब, *कैपीटलिज़्म एंड फ्रीडम* में कुछ इस तरह से लिखी, 'जैसे ही बाज़ार दुनिया के पथभ्रष्ट नीति-निर्माताओं से मुक्त होगा वह अपने आप 'मांग और पूर्ति' में संतुलन क़ायम कर लेगा। हमें बाज़ार को उसके स्वाभाविक स्वास्थ्य की अवस्था में ले जाना होगा। अर्थव्यवस्था में मानव हस्तक्षेप विकृत सांचों का निर्माण करते हैं, हम जैसे ही बाज़ार को इन विकृत सांचों से मुक्त करते हैं उसकी 'शुद्ध पूंजीवाद' की ओर वापसी हो जाती है।' इस 'प्योर कैपिटलिज़्म' की अवस्था को हासिल करने के लिए 'सभी तरह के व्यवधानों, सरकारी नियंत्रण, व्यापार बाधाओं और निहित स्वार्थों को समाप्त करना होगा। राज्य विकृतियों से मुक्त होकर शुद्धता की अवस्था हासिल कर सके इसके लिए एक ही रास्ता है कि पीड़ादायक 'शॉक-थैरेपी' का इस्तेमाल किया जाये।'

मिल्टन फ्रिडमेन ने विपत्ति में पड़े देशों के राजनेताओं को 'शॉक-थैरेपी' बतौर पद्धति, अपनाने का सुझाव दिया। इस पीड़ादायक 'शॉक-थैरेपी' के तहत तीन काम करने पड़ते हैं।

1. मुनाफ़ा एक्त्रित करने में जो भी नियम व विनियम रुकावट डालते हैं उन्हें समाप्त करना चाहिए।

2. सभी सरकारी स्वामित्व वाली 'संपत्तियों का निजीकरण कर देना चाहिए और उन्हें निजी निगमों द्वारा मुनाफ़े के लिए चलाना चाहिए।

3. नाटकीय तरीक़े से सामाजिक कार्यक्रमों की आर्थिक सहायता राशि में कटौती कर देनी चाहिए।

भारत में जो आज हो रहा है उसका वैचारिक आधार आप उपर्युक्त विचारों को पढ़कर जान सकते हैं। जैसाकि मिल्टन फ्रिडमेन ने लिखा है कि आपदा चाहे प्राकृतिक हो या मानव निर्मित यह मुक्त बाज़ारवादी नीतियों को व्यवहार में उतारने का अवसर प्रदान करती है। जनता आपदा में इस तरह उलझी होती है कि जो आर्थिक परिवर्तन किये जाते हैं वह उनको समझ नहीं पाती इसलिए उनके

विरोध के लिए संगठित भी नहीं हो पाती। अभी कुछ दिनों पहले नीति आयोग के चेयरमैन अमिताभ कांत ने कहा कि भारत में कुछ ज़्यादा ही लोकतंत्र है जिसके कारण आर्थिक सुधार गति नहीं पकड़ पा रहे। यह बात भी अमिताभ कांत की कोई अपनी मौलिक बात नहीं है बल्कि वह भी एक दूसरे मुक्तबाज़ारवादी अर्थशास्त्री आस्ट्रीयन स्कूल ऑफ़ एकोनोमिक्स के प्रोफ़ेसर फ्रेडरिक अगस्त वॉन हायेक ने 1960 में लिखी अपनी किताब, *द कांस्टीटयूशन ऑफ़ लिबर्टी* में लिखी कि 'लोकतांत्रिक राज्य व्यवस्था कोई त्रुटिहीन व्यवस्था नहीं है, इसके बजाय एक ग़ैरलोकतांत्रिक सरकार को प्राथमिकता देने से इस बात की गारंटी होती है कि वह बाज़ार की स्वयंस्फूर्त व्यवस्था को बनाये रखेगी।' उसी किताब में हायेक ने आगे लिखा,

> सरकार को समाप्त करो, उद्योगों का निजीकरण करो, बेरोज़गारी समाप्त करने के लिए चलाये जा रहे कार्यक्रमों में कमी लाओ, सब्सिडी को समाप्त करो, सामाजिक सुरक्षा पर ख़र्च घटाओ, ट्रेड-यूनियनों की ताक़त सीमित करो।

इस तरह आप उपर्युक्त अर्थशास्त्रियों के विचारों की रौशनी में देखेंगे कि भारत 1991 से पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों के शब्दों में आर्थिक सुधारों के दौर से गुज़र रहा है बस उनको लागू करने वाली पद्धति का अंतर है। जो भारत में हो रहा है यह दुनिया के उन सब देशों में हुआ या हो रहा है जहां केंद्रीय योजना बनाकर अर्थव्यवस्था चलायी जाती है यानी जहां प्लांड या कमांड इकॉनोमीहै। जब प्लांड या कमांड इकॉनोमीको फ्री मार्केट इकॉनोमी में बदला जाता है तब दो तरीक़े इस्तेमाल किये जाते हैं :

1. ग्रेजुअल यानी धीरे-धीरे प्लांड इकॉनोमीको मार्केट इकॉनोमीमें बदलना
2. शॉक थैरेपी या परिवर्तन का बिगबैंग तरीक़ा अपनाना।

1991 के बाद कांग्रेस ने नरसिंहा राव व मनमोहन सिंह के नेतृत्व में पहला वाला तरीक़ा अपनाया, यानी धीरे-धीरे प्लांड इकॉनोमी को मार्केट इकॉनोमी में बदलने का काम किया, लेकिन नरेंद्र मोदी ने बिग बैंग या शॉक थैरेपी की पद्धति का इस्तेमाल किया। मनमोहन सिंह का तरीक़ा मेंढक को ठंडे पानी में डालकर उस पानी को धीरे धीरे गर्म करने का था जिससे मेंढक को गर्मी का अहसास नहीं हो पाता, जबकि नरेंद्र मोदी ने मेंढक को खौलते पानी में डाल दिया जिससे वह उछल पड़ा। साढ़े तीन लाख से ज़्यादा किसानों द्वारा आत्महत्या करना और आबादी के लगभग 80 प्रतिशत हिस्से का 20 रुपये प्रतिदिन से भी कम आमदनी पर पंहुच जाना और भारत का दुनिया के अति भूखे लोगों की सूची में आ जाना इन्ही नीतियों का नतीजा है जो 1991 से जारी हैं बस इनकी गति 2014 से बेहद तीव्र हो गयी है। आज आप जो भी जनता में असंतोष देख रहे हैं वह इसी पद्धति का नतीजा है क्योंकि प्लांड इकॉनोमीकी धुरी योजना आयोग होता है इसलिए सबसे पहले मोदी सरकार ने उस पर प्रहार करके उसे समाप्त किया। इसके बाद मोदी सरकार ने 1991 के बाद के सारे रुके हुये सुधारों को आनन-फ़ानन में पूरा करना शुरू कर दिया। चाहे वह कृषि के लिए बनाये गये क़ानून हों, जीएसटी हो या श्रम सुधार के नाम पर पूर्व के 44 श्रमक़ानूनों को चार कोड में बदला जाना और सरकारी उद्योगों का युद्धस्तर पर निजीकरण किया जाना हो। कृषि क़ानून भारतीय कृषि को बाज़ार कृषि या निगमी कृषि में बदले जाने का प्रयास था जिसे किसानों के जुझारू संघर्ष के कारण आने वाले चुनाव के मद्दे नज़र सरकार ने फ़िल्हाल वापस ले लिया है। जैसे ही हालात सरकार के अनुकूल होंगे इन्हे फिर से लागू करने की

कोशिश की जायेगी।

मोदी सरकार जिस शॉक थैरेपी नामक पद्धति का इस्तेमाल कर रही है, यह वैश्विक स्तर पर आज़मायी जाने वाली एक प्रसिद्ध पद्धति है। इसको सबसे पहले लैटिन अमरीकी देश चिली में इस्तेमाल किया गया फिर इसी को 1979 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री मारग्रेट थेचर ने इस्तेमाल किया। 1991 में सोवियत संघ के बिखर जाने पर गोर्बाचोव व येल्तसिन द्वारा रूस में तथा पूर्वी यूरोप के देशों में इसको अमल में लाया गया। इसके बारे में जानने के लिए आप एनसीइआरटी की इंटर की राजनीतिक विज्ञान की किताब के दूसरे अध्याय को जब खोलेंगे तो उसमें शॉक थैरेपी के नाम से एक लेख मिलेगा जिसमें इस पर प्रकाश डाला गया है। इसमें बताया गया है कि इस पद्धति को अमल में लाने के लिए मुख्य तौर पर तीन काम करने पड़ते हैं :

1. सभी तरह के मूल्य नियंत्रण को समाप्त करना
2. सभी सरकारी उद्योगों को कौड़ियों के दाम निजी क्षेत्र को बेचा जाना
3. सभी तरह की सब्सिडी समाप्त करना और सरकार को कल्याणकारी राज्य की अपनी भूमिका को त्याग देना।

आप देखेंगे कि मोदी सरकार ने आते ही अधिकांश वस्तुओं पर से मूल्य नियंत्रण हटा दिया। पेट्रोल, डीज़ल और रसोई गैस को नियंत्रणमुक्त किया जाना इसी सिलसिले की कड़ी है। इस थैरेपी में चुन चुनकर सामाजिक सुरक्षा से संबधित उपायों को ख़त्म किया जाता है। मूल्य तय करने का काम बाज़ार को सौंप दिया जाता है। इसी का नतीजा है कि तेल क़पनियां रोज़ाना क़ीमतें निकालती हैं। मंहगाई आसमान छू रही है, खाद्य तेल की क़ीमतें अपने पिछले तमाम रिकार्ड तोड़ चुकी हैं लेकिन सरकार क़ीमतों पर नियंत्रण करने की कोई कोशिश नहीं कर रही। इसके अलावा सरकार ने नाटकीय ढंग से कल्याणकारी योजनाओं पर ख़र्च की जाने वाली राशि में भारी कटौती कर दी है। सरकार स्वास्थय बजट में कटौती करके स्वास्थय क्षेत्र को बीमा कंपनियों के हवाले कर रही है। रेलवे और रक्षा तक निजी क्षेत्र के हवाले कर रही है। शॉक थैरेपी में कल्याणकारी राज्य के अवशेषों की तलाश में अर्थशास्त्रियों को लगाया जाता है और उनको किस तरह समाप्त करना है इस काम को बहुत ही महारत से अंजाम दिया जाता है। सब्सिडी को समाप्त करने का एक नया तरीक़ा निकाला गया है जिसे डीबीटी यानी डायरेक्ट बैंक ट्रांस्फ़र नाम दिया गया है जिसके तहत पहले बड़े पैमाने पर जनता के बैंक ख़ाते खोले जाते हैं और उनमें नक़दी डाली जाती है फिर उस नक़दी की मात्रा कम करते जाते हैं और धीरे-धीरे सब्सिडी को समाप्त कर दिया जाता है इससे लोगों को समाप्त होने का अहसास नहीं होता। इस पद्धति को लागू करने के दौरान पुराने आर्थिक ढांचे को बेरहमी से तोड़ दिया जाता है और जो कुछ भी सार्वजनिक संपत्ति पिछली व्यवस्था में निर्मित और एकत्र हो चुकी होती है उसे निजी क्षेत्र, मुफ़्त अथवा कौड़ियों के दाम लूट लेता है। सार्वजनिक उपक्रमों की ऐसी बिक्री को 'गैरेज सेल' कहा जाता है। यह 1991 में सोवियत संघ के बिखर जाने और उसके परिणामस्वरुप पूर्वी यूरोप के देशों का उसकी अर्थव्यवस्था से मुक्त हो जाने पर हुआ। चिली, बोलीविया, वेनेज़ुऐला, पोलेंड, चैकोस्लावाकिया, हंगरी, रूस में इसका प्रयोग किया गया। जिस तरह इन देशों की प्लांड अर्थव्यवस्था को बाज़ार अर्थव्यवस्था में बदलने का काम विश्व बैंक व अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष ने किया वैसे ही यह जोड़ी भारत में

इस काम को अपनी देखरेख में मोदी सरकार से करा रही है।

यहां यह सवाल पैदा होता है कि प्लांड इकॉनोमीको मार्केट इकॉनोमीमें परिवर्तित करने से जो तकलीफ़ें जनता को झेलनी पड़ रही हैं उसको जनता सहन क्यों कर रही है? जो राजनीतिक पार्टी यह काम कर रही है जनता बार-बार उसको ही अपना मत देकर विजयी क्यों बना रही है? जो राजनीतिक पार्टियां, जनता को तकलीफ़ पहुंचाने वाली नीतियों का विरोध कर रही हैं और प्लांड इकॉनोमीव कल्याणकारी राज्य की पक्षधर हैं जनता उनको अपना क्यों नहीं मान रही? इन बेहद अहम सवालों को हम लेख के अगले भाग में समझने की कोशिश करेंगे।

दुनिया भर में मुक्त बाज़ारवादी आर्थिक नीति को लागू कराने का काम अमरीकी नेतृत्व में किया जाता है। इस काम में माध्यम विश्वबैंक-मुद्राकोष जोड़ी व सहयोगी की भूमिका यूरोप और जापान निभाते हैं। जिस देश की प्लांड इकॉनोमीको मार्केट इकॉनोमीमें बदलना होता है उसकी तैयारी का काम इन देशों के थिंक टैंक करते हैं। सबसे पहले वे उस देश की जनता का गहरा मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हैं। वहां के समाज में मौजूद अंतर्विरोधों की पहचान करते हैं और फिर उनको तीव्र करते जाते हैं। इस बात को इज़राइल में स्थित हिब्रू यूनीवर्सिटी के इतिहास के प्रोफ़ेसर युवल नोहा हरारी ने अपनी मशहूर किताब, *सेपियंस* में पेश किया है। वे लिखते हैं कि 'भारत पर चंद ब्रिटिश गोरों द्वारा डेढ़ सौ साल हुकूमत करना इसलिए मुमकिन हुआ कि उन्होंने पहले पूरी तरह से भारत की संस्कृति को समझा। जब वे भारत आये तो अपने साथ हर इल्म के विशेषज्ञ को साथ लाये जिसमें रसायन शास्त्री, बनस्पति विज्ञानी, जीवविज्ञानी, मनोविज्ञानी, दर्शनशास्त्र के ज्ञाता शामिल थे। इन विशेषज्ञों की मदद से वे भारत में शरीरिक, मानसिक और ज़मीनी हक़ीक़त से वाक़िफ़ रहे और इस तरह वे चंद ब्रिटिश लोग, हिंदुस्तानियों को उनसे भी बेहतर जानने लगे।' उन्होने भारतीय समाज में मौजूद दो प्रमुख अंतर्विरोध - जाति और धर्म - को तीव्र करके लोगों को आपस में लड़ाया और अपने राज्य को सुरक्षित बनाये रखा।

भारत में भी हम प्लांड इकॉनोमीसे मार्केट इकॉनोमीमें बदले जाने के दौर में धार्मिक व जातीय अंतर्विरोधों को तीव्र होता 80 के दशक से ही देख रहे हैं। यह साम्राज्यवादी ताक़तें इस काम में ऐसी देशी ताक़तों का सहयोग लेती हैं जो उनके आर्थिक सिद्धांत से सहमति रखती हैं। वे अपने यहां शिक्षा ग्रहण करने आने वाले युवाओं का ब्रेनवॉश करके मार्केट इकॉनोमीका समर्थक बनाती हैं और फिर यह युवा वापस अपने देश आकर अर्थव्यवस्था व उच्च शिक्षा के प्रमुख पदों पर बैठकर अपनी आर्थिक विचारधारा के अनुरुप काम करने लगते हैं। ऐसा ही 60-70 के दशक में लैटिन अमरीकी देश चिली में किया गया और वहां की यूनीवर्सिटियों से 100 छात्रों को शिकागो स्कूल ऑफ़ एकानोमी ले जाया गया जहां से वे मार्केट इकॉनोमीके समर्थक बनकर वापस लौटे और चिली की अर्थव्यवस्था को बाज़ार के अनुरूप आकार देने लगे। यह शिकागों बॉय के नाम से मशहूर हुए। भारत में भी प्रोफ़ेसर जगदीश भगवती, मोन्टेक सिंह अहलूवालिया, अरविंद पनगड़िया, रघुराम राजन, बिबेक देबरॉय, सुरजीत भल्ला, अमिताभ कांत, अरविंद सुब्रमण्यम, गीता गोपीनाथ, कृष्णामूर्ति सुब्रमण्यम, शेखर गुप्ता आदि शिकागो बॉय जैसे ही हैं। भारत में आज़ादी के बाद से ही कांग्रेस के अंदर व बाहर मार्केट इकॉनोमीके समर्थक देखे जा सकते हैं। कांग्रेस के अंदर राजगोपालाचार्य उर्फ़ राजा जी, मीनू मसानी, के एम मुंशी, डा. राजेंद्र प्रसाद, मोरारजी देसाई और लगभग पूरा सिंडीकेट मार्केट इकॉनोमीका समर्थक

था। कांग्रेस के बाहर हिंदू महासभा, जनसंघ और आज बीजेपी उसी आर्थिक नीति की समर्थक पार्टियां हैं। कांग्रेस के अंदर नेहरू, कृष्णा मेनन, के. डी. मालवीय, वी वी गिरि, इंदिरा गांधी आदि व बाहर कम्युनिस्ट पार्टी, प्लांड या कमांड इकॉनोमीकी समर्थक थी। आज़ादी के बाद से ही हम इन्ही विचारधाराओं के बीच सत्ता संघर्ष पाते हैं। 1991 तक कांग्रेस पर प्लांड इकॉनोमीके समर्थकों का वर्चस्व रहता है लेकिन इंदिरा व राजीव गांधी की हत्या के बाद कांग्रेस पर मार्केट इकॉनोमीके समर्थकों का क़ब्ज़ा हो जाता है। जैसे ही कांग्रेस पर मार्केट इकॉनोमीके समर्थकों का क़ब्ज़ा होता है उसके बाद से ही कांग्रेस कमज़ोर होना शुरू होती है और जनता में अपना समर्थन खो बैठती है। वर्तमान में जो कांग्रेस का ग्रुप 23 है वह वही पुराना सिंडीकेट है जो मुक्त बाज़ार का समर्थक है और प्लांड इकॉनोमीसमर्थक नेहरू परिवार को नेतृत्व से हटाकर बाज़ार को अपनी वफ़ादारी का भरोसा दिलाना चाहता है।

कमांड इकॉनोमीऔर कल्याणकारी राज्य की समर्थक वामपंथी पार्टियां क्यों एक के बाद एक अपना राज्य भी गंवाती चली गयीं? उनके नेता पहले की तरह अब राष्ट्रीय राजनीति में कोई नुमाया किरदार नहीं निभा पा रहे हैं इन सवालों का जवाब तलाशना होगा। किस तरह मुसलमानों और दलितों को हाशिये पर ढकेल दिया गया है? किस तरह लोकतंत्र के प्रमुख स्तंभ, संस्थाएं निष्प्रभावी हो चुकी हैं? क्यों कुछ दिनों पहले तक न्यायपालिका पीड़ित जनता में अपना भरोसा गंवा बैठी थी? इन सारे सवालों का जवाब पाना बेहद ज़रूरी है।

इन जवाबों को पाने के लिए हमकों इटली के वामपंथी विचारक एंटोनियो ग्राम्शी की विश्लेषण पद्धति को अपनाना होगा। कार्ल मार्क्स का मानना था कि जिस देश में बहुसंख्यक मेहनतकश जनता का शोषण चरम सीमा पर पंहुच जायेगा तब वर्ग संघर्ष के परिणामस्वरुप वहां क्रांति होगी और पुरानी व्यवस्था बदल जायेगी लेकिन रूस में 1917 में क्रांति होने के पश्चात जब यूरोप के देशों में मेहनतकश वर्ग के शोषण के बावजूद कोई क्रांति नहीं हुई और जनता अपना शोषण करने वाली शासक पार्टियों को ही चुनकर सत्ता पर बिठाती रही तब ग्राम्शी ने इस पर ग़ौर किया और पाया कि शासक वर्ग प्रचार के द्वारा मेहनतकश जनता के दिमाग़ पर अधिपत्य जमा लेता है और जनता उसको ही अपना मुक्तिदाता मानकर स्वयं सत्ता सौंप देती है। शासक वर्ग द्वारा अपनायी जाने वाली इस प्रक्रिया को उसने 'कल्चरल हेजेमोनी' यानी सांस्कृतिक वर्चस्व नाम दिया। उसने बताया कि समाज में एक तो राजनीतिक संस्थाएं व दूसरी ओर नागरिक संस्थाएं यानी सिविल सोसायटी होती है। इन संस्थाओं के माध्यम से शासक वर्ग, जनता के मस्तिष्क में अपने प्रति अच्छी भावनाएं भरता रहता हैं। भारत में भी कम्युनिस्ट सिकुड़ रहे हैं उनका प्रभाव क्षेत्र घट रहा है। लोग परेशान हैं, तकलीफ़ें झेल रहे हैं लेकिन फिर भी वोट उसी सरकार को दे रहे हैं जो उनका शोषण कर रही है। तो इसका कारण यह है कि सरकार ने सिविल सोसायटी के माध्यम से जनता के दिमाग़ पर अपना वर्चस्व क़ायम कर लिया है जबकि कम्युनिस्ट इसलिए अपना प्रभाव खो रहे हैं कि वे वैचारिक स्तर पर अपना वर्चस्व क़ायम नहीं रख पा रहे हैं। उनकी शब्दावली जनता की समझ के अनुकूल नहीं है तथा उनकी प्रस्तुति भी रोचक नहीं है या उसमें कोई नयापन नहीं है। ग्राम्शी ने फ़ासिज़्म से लड़ने के लिए संयुक्त मोर्चे का आवाहन किया और कहा कि अपने भेदभाव भुलाकर फिलहाल इस साझा दुश्मन को परास्त करो। जो आपसी मतभेद हैं

उन्हें बाद के लिए छोड़ दो।

ग्राम्शी ने लिखा कि प्रमुख रूप से समाज की चार संस्थाएं हैं जिनका इस्तेमाल दिमाग़ पर वर्चस्व क़ायम करने के लिए किया जाता है। ये हैं परिवार, शिक्षा, धर्म और मीडिया। अब हम इस बात पर ग़ौर करें कि इन चारों संस्थाओं में से किस पर कम्युनिस्ट अपना वैचारिक वर्चस्व क़ायम कर पाये हैं। सबसे पहले परिवार को लेते हैं। तो परिवार पर पुरोहित वर्ग या जाति-धर्म पर आधारित संस्थाओं का प्रभाव है। कम्युनिस्टों का इस संस्था पर कोई काम नहीं है और न ही कम्युनिस्ट पार्टियां इस संस्था के लिए कोई कार्यक्रम बनाती हैं। इसलिए यह क्षेत्र उनके सांस्कृतिक वर्चस्व से बाहर रह जाता है जबकि बीजेपी अपने सांस्कृतिक संगठनों के माध्यम से परिवार से लगातार जुड़ी रहती है। अब शिक्षा का क्षेत्र आता है तो स्कूली शिक्षा के बड़े क्षेत्र पर बीजेपी के सांस्कृतिक संगठन का क़ब्ज़ा है जहां वह कई पीढ़ियां के मस्तिष्क पर अपना वैचारिक प्रभाव क़ायम करने में सफल हुआ है। कम्युनिस्टों द्वारा इस क्षेत्र के प्रति बरती जाने वाली उदासीनता ने उनके प्रभाव को सीमित किया जबकि आरएसएस द्वारा इस क्षेत्र पर अपना वैचारिक वर्चस्व क़ायम कर लिया गया। हां, उच्च शिक्षा के क्षेत्र पर अपनी योग्यता के कारण कम्युनिस्टों का वैचारिक वर्चस्व दशकों क़ायम रहा जिसको अब आकर बीजेपी ने चुनौती दी और बौद्धिक वर्चस्व को तोड़ना शुरू किया। तीसरी संस्था धर्म की है तो इसके ख़िलाफ़ तो कम्युनिस्टों ने नास्तिकता के हथियार से लगातार लड़ाई जारी रखी। इस लड़ाई के नतीजों पर उन्होंने कभी कोई विचार विमर्श करने की ज़रूरत महसूस नहीं की। इस क्षेत्र पर वैचारिक वर्चस्व की क्या कोई योजना बनायी जा सकती है इस पर सोचना तो उनकी कल्पना के बाहर की चीज़ है। इस क्षेत्र के प्रति उपेक्षा का नतीजा यह निकला कि पूरा क्षेत्र दक्षिणपंथियों का आखेट स्थल बन गया। अब हम मीडिया पर आते हैं। तो दक्षिण पंथ ने कम्युनिस्ट विरोधी बीसियों यू टयूब चैनल खोल रखे हैं लेकिन वाम ने अब आकर छिटपुट चैनल खोले हैं। जो वाम चैनल काम भी कर रहे हैं तो उनपर सामग्री की प्रस्तुति बेहद नीरस है। सोशल मीडिया वह मंच है जो विचार नहीं उसकी प्रस्तुति के बल पर अपना प्रभाव क्षेत्र यानी सब्सक्राइवर और व्यू की संख्या में वृद्धि करता है। आप कितने भी उच्च स्तर के मौलिक विचार या साहित्य रचते हैं, अगर आपकी प्रस्तुति नीरस है तो आपके दर्शकों का दायरा बहुत सीमित रहेगा। नुमायां तौर पर अगर किसी प्रयास को सराहा जा सकता है तो वह 'न्यूज़क्लिक' है बाक़ी वाम की सोशल मीडिया पर उपस्थिति अराजक और न के बराबर है, जबकि दक्षिणपंथ ने पचासियों इन्फ्लूएन्शर पैदा कर दिये हैं जो दक्षिणपंथी विचारों के प्रसार का काम कर रहे हैं। सोशल मीडिया के मंच को हम कैसे अपने वैचारिक युद्ध का मैदान बनायें, इस पर कभी कोई वर्कशाप का आयोजन होते नहीं देखा। यही कारण है कि जब श्री विभूति नारायण राय को जयपुर डॉयलोग वालों ने अपने चैनल पर आमंत्रित करके वामपंथ को अपमानित करने की कोशिश की तो उनके पक्ष में उस चैनल पर कमेंट करने वाला एक भी मौजूद नहीं था, वरना इस तरह के चैनलों पर कमेंट का इस्तेमाल भी हम एक वैचारिक युद्ध की तरह कर सकते हैं।

सामंती और दक्षिपंथी विचारधारा के पोषकों द्वारा सांस्कृतिक वर्चस्व क़ायम करने की राह में सबसे बड़ी रुकावट क्योंकि वाम है चाहे वह किसी पार्टी से जुड़ा है या नहीं, इसलिए उस रुकावट को हटाने के लिए ही उन्होंने वाम पर न केवल वैचारिक बल्कि भौतिक हमले भी शुरू कर दिये। कलबुर्गी,

नरेंद्र दाभोलकर, कामरेड गोविंद पानसरे और गौरी लंकेश की हत्या उसी योजना का हिस्सा है और कोरेगांव मामले में कम्प्यूटर हैक करके झूठी सूचना डालने के बाद फ़र्ज़ी मुक़दमों में वाम बुद्धिजीवियों को जेल की सलाखों के पीछे डालना भी ऐसा ही है जैसे इटली में ऐंटोनियो ग्राम्शी के साथ किया गया था। जज ने ग्राम्शी को सज़ा देते समय कहा था कि हम जेल में डाल कर इस दिमाग़ को बीस साल के लिए काम करने से रोक देना चाहते हैं। ग्राम्शी ने जिस सिविल सोसायटी की बात की थी उसमें आज दक्षिण और वाम दोनों तरह की ताक़तों के बीच सांस्कृतिक वर्चस्व की लड़ाई जारी है। सत्ता उनके पास होने के कारण इस लड़ाई में आज दक्षिणपंथी ताक़तें आगे बढ़ती दिखायी पड़ रही है, इसलिए ज़रूरी है कि इस क्षेत्र में पूरी ताक़त और बौद्धिक क्षमता के साथ हस्तक्षेप किया जाये और सांस्कृतिक वर्चस्व क़ायम करने के लिए अल्प एवं दीर्घकालिक योजनाएं बनाकर उस पर काम किया जाये। साहित्य से जुड़े हुए लोग सोशल मीडिया पर अपने विचारों की रोचक प्रस्तुति के लिए नयी विधाओं को सीखने, ईजाद करने की कोशिश करें।

मो. 9897023750

स्मृति लेख : बिछुड़े बारी- बारी

स्मृति शेष : प्रभु जोशी, विजेंद्र, दिवाकर भट्ट

आज के बिछुड़े, न जाने...

नमिता सिंह

हम एक ऐसे कालखंड में जी रहे हैं जहां हमारी स्मृतियां आने वाली पीढ़ियों को शायद लंबे समय तक आवेशित करेंगी, शिक्षित करेंगी और ऐतिहासिक बनायेंगी। पिछली शताब्दियों के पन्ने पलटते हुए मैं कभी-कभी सोचती हूं कि इतिहास की कुछेक डायनासॉरी घटनाओं में जो लोग गवाह रहे होंगे उन्होंने क्या और कैसा महसूस किया होगा, कितने काल-कवलित हुए, जो बचे रहे तो कैसे आगे बढ़े, ढेरों सवाल। 1820 की महामारी हो,1918-20 का स्पैनिश फ़्लू हो, बड़ी संख्या में ज़िंदगियों को लील जाने वाला प्लेग हो, बंगाल का दुर्भिक्ष और सड़कों पर गिरते लोग, यह तो मात्र दो सौ साल पुरानी कुछ यादें हैं।

हमारी आंखों में बसे दृश्य, अनुभव भी इतिहास का हिस्सा बनेंगे? दवा-इलाज के लिए भटकते लोग, ऑक्सीजन के लिए टूटती सांसें, फुटपाथों पर बिछे लोग, जगह-जगह श्मशान बने रास्ते, जलती चिताएं। 'शववाहिनी गंगा' अनगिनत शरीरों को समेट लिया अपनी गोदी में। हतप्रभ प्रकृति, हतप्रभ समाज, प्रस्तर व्यवस्था। -- सब कुछ क्या लिखा जायेगा, दस्तावेज़ बनेगा? कौन लिखेगा यह इतिहास? शोर-शराबे के बीच दब रहीं आवाज़ें, कराहटें सुनी जायेंगी, कल-परसों? हम नहीं होंगे लेकिन समय गवाही देगा।

कभी-कभी लगता है ऐसा दुःस्वप्न फिर हमें अपनी गिरफ़्त में न ले ले। ऐसा दुःस्वप्न जहां रोज़ सवेरे आंख खोलते डर लगता कि आज कौन? अब किसकी बारी? हमारे संगी-साथी? वरिष्ठ? साथ के लोग? मानो क़तार में खड़े, इतिहास बनते, स्मृतियों में जगह घेरते।

आज यह स्मृति-लेख लिखते समय कितने ही साथी याद आ रहे हैं। उनके रचनाकर्म, साहित्य पर चर्चा होती रही है, आगे भी होगी लेकिन आज सिर्फ़ स्मरण। एक व्यक्ति, साथी, सहयात्री का स्मरण-स्मृतियां। इन बिछुड़ कर जाने वाले साथियों को कोई पूर्वाभास था क्या? जाते-जाते जैसे याद दिला गये कि हम भी हैं, यहां हैं, तुम कहां हो?

एक दिन मोबाइल के व्हाट्स एप पर एक नया लिंक देखा। डी पी देखी। परिचित चेहरा, एक पोस्ट थी - हताशा भरी। व्याप्त व्यवस्था के प्रति, वातावरण के प्रति घोर निराशा.... जैसे अब कुछ नहीं हो सकता। मैंने जवाब दिया था, कि हम अपनी जगह पर जमे हैं... विश्वास रखें कि सुबह होगी...अंधेरा यूं ही नहीं रहेगा... हां, कुछ ऐसा ही भाव था मेरी पोस्ट का। उसका जवाब आया, एक कविता के रूप में। एक बार फिर डी पी की तस्वीर देखी तो पहचाना, अरे! ये तो प्रभु जोशी हैं। फिर एक दिन फ़ोन आया। *सारिका* के दिनों की याद। *सारिका* में प्रभु जोशी भी निरंतर छपते रहते थे। उनके चित्र भी। मेरी भी अधिकतर कहानियां उन दिनों *सारिका* में ही छपती थीं। सुखद आश्चर्य हुआ। यह संकट काल कहां-कहां से खोये-बिछुड़े साथियों से मिला रहा है।

फिर तो रोज़ व्हाट्स एप पर उनकी लंबी टिप्पणियां, कभी कविताएं - दोस्तों की प्रतिक्रियाएं - एक ख़ास मंच बन गया विचार विमर्श का - अपने समय को देखता हुआ, बेचैनियों को पढ़ता हुआ।

दो-तीन महीने की लगातार सक्रियता के बाद अचानक सब बंद। समझ में नहीं आया बात क्या है। पोस्ट का जवाब नहीं। बातचीत भी नहीं। यह 'अचानक' का भाव ही डरावना होता है और फिर जलेस के व्हाट्स एप पर सूचना... प्रभु जोशी नहीं रहे। जैसे किसी ने पीठ पर ज़ोर से मुक्का मारा हो... विश्वास ही नहीं हुआ। प्रभु जोशी-बेहतरीन चित्रकार। संवेदनशील लेखक। अनेक मोर्चों पर सक्रिय। क्या उन्हें कोई पूर्वाभास था कि जाने से पहले एक बार समस्त ऊर्जा समेट कर सबको संवेदित कर गये - स्मृतियां ताज़ा कर गये।

ऐसा ही कुछ शायद कवि विजेंद्र जी के साथ हुआ। क्या वे भी जाने से पहले अपने संबंधों को याद कर लेना चाहते थे? एक दिन, यहां भी 'अचानक', उनका फोन आया, 'नमिता जी बोल रहीं हैं - मैं विजेंद्र बोल रहा हूं...। कौन? मैं सोच नहीं पायी... फिर उनकी आवाज़ - बोलने का धीमा और बेहद शालीन अंदाज़। फिर, समझ में तो आ गया लेकिन विश्वास नहीं हुआ। वे फिर बोले – 'मैं विजेंद्र ...'। अरे बाप रे... 'कवि विजेंद्र जी - नमस्ते, नमस्ते।' मैं बेहद उत्साहित थी। वैसे भी हाल-फ़िलहाल कोरोना के चंगुल से निकल कर आयी थी । मैं तो जिस दिन हॉस्पिटल जा रही थी, पूरा भरोसा था कि वापिस नहीं लौटूंगी। लेकिन फिर! लौट आयी। ठीक भी हुई और अब सेहत ठीक कर रही थी। ऐसे में पुराने परिचित, मेरे दोस्त, कुंवरपाल के दोस्त, उनके साथ बातचीत मानो मानसिक स्वास्थ्य लाभ के लिए ज़रूरी भी थे।

लगभग एक दशक तो हो गया था विजेंद्र जी से सीधा संपर्क नहीं रहा। वे बोले – 'उद्*भावना* से आपका नंबर मिला...' याद आया। उद्*भावना* में विभूतिनारायण राय की किताब, *हाशिमपुरा-1985* पर मेरा लंबा समीक्षा-लेख छपा था। अब पत्र-पत्रिकाओं में लेखकों के पते नहीं छपते। पत्र लिखने की परंपरा ख़त्म ही हो गयी है। विजेंद्र जी लंबी बातचीत करते रहे लेकिन जैसे ही मैंने उनसे पूछा - 'आप कहां हैं आजकल... कैसे हैं आप...'उन्होंने फ़ौरन फ़ोन काट दिया मानो अपने बारे में बात करना नहीं चाहते हों। मैंने फिर फ़ोन लगाया तो बंद आने लगा। अजीब सा लगा। उनके बारे में तो कुछ बात ही नहीं हो पायी। फिर महीने भर बाद ही, उनके जाने का समाचार मिला। बहुत धक्का लगा। शादी के बाद कुंवरपाल के जिन मित्रों से पहले पहल मेरा परिचय हुआ, विजेंद्र जी उनमें थे। एक बार सपरिवार कुछ समय के लिए अलीगढ़ भी रहे। उनकी बड़ी बेटी तब आठ दस वर्ष की थी। उसकी आंखों का इलाज होना था। कुंवरपाल ने इलाज की व्यवस्था अलीगढ़ के 'आई हॉस्पिटल' में करायी थी। उस समय 'डॉ. हमीदा सईदुज्ज़फ़र विभागाध्यक्ष थीं। सुप्रसिद्ध लेखिका और राजनीतिक कार्यकर्ता, डॉ. रशीद जहां उनकी भाभी थीं। यह बात उन्होंने विजेंद्र जी को भी बतायी। जब उन्हें पता चला कि विजेंद्र जी भी प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े हैं। अलीगढ़ में विजेंद्र जी रहे तो रोज़ ही मिलना होता। कविता पर बातचीत... वामपंथी आंदोलन पर... अनेक लंबी बहसें होतीं। वे बहुत इत्मीनान से, शांतिपूर्वक अपनी बात रखते। कभी मैंने उन्हें ज़ोर से बोलते नहीं देखा। बाद में कुंवरपाल ने नये सशक्त कवियों की पूरी शृंखला, *कृति ओर* में प्रस्तुत की थी और केशव तिवारी, सुरेश कुमार सहित ढेर सारे युवा कवि उसमें शामिल थे। सव्यसाची की तरह विजेंद्र जी भी सारी बहस पोस्टकार्ड से ही कर लिया करते थे।

कभी-कभी दो पोस्टकार्ड एक साथ आते। हमारे घर में जब कभी उन पर बात चलती तो उन्हें 'कवि विजेंद्र' के नाम से ही संबोधित किया जाता। बाद में जब हम लोग *वर्तमान साहित्य* का संपादन-प्रकाशन कर रहे थे, उन्होंने अपने कुछ चित्र भी मुखपृष्ठ के लिए भेजे थे।

आज यह सब लिखते हुए पिछले पचास सालों की आवाजाही जीवंत हो उठी है... अनंत कथाएं, अनंत स्मृतियां।

इन सबके बाद अभी एक और बड़ा धक्का इंतज़ार कर रहा था। प्रखर पत्रकार, लेखक, संपादक दिवाकर भट्ट भी अचानक चले गये। काम करते-करते यों ही उठ कर चल दिये जैसे कह गये हों कि - अभी आता हूं...। अभी तो पूरी उम्र पड़ी थी। बहुत काम करना था।

1 अगस्त 1963 को पाताडुंगरी, अल्मोड़ा (उत्तराखंड) में जन्मे दिवाकर जी ने अपने कैरियर की शुरुआत बैंक की नौकरी से की। दिल और दिमाग में साहित्य था, पत्रकारिता का जज़्बा था सो नौकरी छोड़कर अख़बारों से जुड़ गये। *अमर उजाला* में 25 वर्षों तक वरिष्ठ संपादकीय पदों पर काम किया। *दैनिक जागरण* तथा कुछ अन्य समाचार पत्रों से और पी.टी.आई. से भी समय-समय पर जुड़े। बेहद सजग लेखक और साथ ही पर्वतीय संस्कृति से भी गहरा जुड़ाव था। कुमाऊं रेजीमेंट का इतिहास और उत्तराखंड की संस्कृति पर पुस्तकों के लिए चर्चित हुए। पहचान बनी *आधार शिला* पत्रिका जिसका संपादन, प्रकाशन पिछले सैंतीस वर्षों से कर रहे थे। उनकी साहित्यिक और सामाजिक अंतर्दृष्टि और संवेदनशीलता *आधार शिला* के अंकों, विशेष रूप से विशेषांकों के माध्यम से दिखायी देती है। प्रसिद्ध लेखक-चित्रकार हरिपाल त्यागी पर केंद्रित *आधार शिला* का अंक बेहद चर्चित हुआ जो बाद में पुस्तकाकार रूप में भी छपा। इसके अलावा प्रतिष्ठित कवि वीरेन डंगवाल के व्यक्तिव्य और कविकर्म पर अंक भी उल्लेखनीय था। अपने निधन से लगभग दो महीने पहले प्रकाशित *आधार शिला* के अंक में एक और बड़े कवि मंगलेश डबराल के कविकर्म और यादों को संजोया गया था।

आधार शिला दिवाकर भट्ट की जीवन रेखा थी जो पत्रिका के रूप में केवल साहित्यिक आयोजन भर नहीं था बल्कि पूरे देश के हिंदी लेखकों को जोड़ने का प्रयास था। हल्द्वानी जैसी छोटी जगह से दिवाकर भट्ट पूरे हिंदी जगत को आवेशित किये हुए थे और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी को स्थापित करने का भगीरथ प्रयास भी कर रहे थे। हिंदी के प्रति उनका यह जुनून इसी से ज़ाहिर होता है कि वे निरंतर यात्रा पर रहते थे। देश में अलग-अलग शहरों में जाकर पत्रिका के अंकों का विमोचन और स्थानीय लेखकों के साथ भागीदारी। विदेशों में बसे हिंदी प्रेमियों और रचनाकारों के बीच उनकी पहुंच और सक्रियता अद्भुत थी। इसी संकल्प के साथ उन्होंने योरोप, स्विट्ज़रलैंड, हॉलैंड, ऑस्ट्रेलिया, श्रीलंका, ब्रिटेन, सिंगापुर समेत तीस से अधिक देशों की यात्राएं कीं और अंतर्राष्ट्रीय स्तर के हिंदी सम्मेलनों का आयोजन किया। सन 2010 से वे हर साल मॉरीशस में हिंदी सम्मेलन कर रहे थे। 2011 के सम्मेलन के दौरान मॉरीशस सरकार के साथ चार साल का अनुबंध हुआ और मेमोरेंडम ऑफ़ अंडरस्टैंडिंग पर हस्ताक्षर हुए। 2016 में अनुबंध का पुन: नवीनीकरण हुआ। भारत और मॉरीशस दोनों ही उनके हिंदी के प्रचार-प्रसार के केंद्र बन गये। उनकी इन वृहद गतिविधियों का एक बड़ा उद्देश्य हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्वीकृत भाषा के रूप में मान्यता दिलाना था।

आधार शिला पत्रिका का संपादन-प्रकाशन वे सैंतीस सालों से अपने बलबूते पर कर रहे थे, यह अपने आप में अद्भुत है। आज बिना किसी आर्थिक सहारे के पत्रिका निकालना घाटे का सौदा है यह हम अच्छी तरह समझते हैं। दस साल हमने भी *वर्तमान साहित्य* का संपादन-प्रकाशन अलीगढ़ से किया तो हमें यह बात समझ में आती है। तन-मन-धन का समर्पण और चौबीसों घंटे का घेराव। हमारे पास तो पेंशन के रूप में थोड़ी बहुत आमदनी थी सो पत्रिका में लगा पाते थे। कुंवरपाल का कहना था कि - 'हम भूखे नहीं मर रहे.... खाने भर को है.....। इसीलिए दिवाकर जी के संघर्ष को समझा जा सकता है। एक बार उन्होंने मुझसे कहा-'आप हमारी पत्रिका को कम न समझें... दूर-दूर तक पहुंचती है हमारी *आधार शिला।*

मुझसे उन्होंने आग्रह किया था कि मैं अपना एक कहानी संग्रह तैयार करके दूं। नया संग्रह न होने की स्थिति में वे *प्रतिनिधि कहानियां* के रूप में चाहते थे। मेरा इस बीच अलीगढ़ जाना हुआ तो मैं अपने सभी संग्रह नॉयडा ले आयी। कहानियों का चयन कर ही रही थी कि मुझे कोरोना हो गया। विलंब होने पर फिर उनका फ़ोन आया तो मैंने बताया कि अभी तो मैं बिस्तर पर हूं। ख़ैर, मैं कोरोना मुक्त हुई। कहानियों की फ़ोटोकॉपी कराना शुरू किया... लेकिन फिर उनसे संपर्क नहीं हो पाया। *आधार शिला* के फ़रवरी अंक से उन्होंने मेरे संस्मरणों की शृंखला प्रकाशित करनी शुरू की। यह अंक एक महीना विलंब से आया। दूसरी किश्त उन्हें भेज चुकी थी, लेकिन सब कुछ जैसे ठहर गया। अगला अंक अप्रैल तक नहीं आया। मैंने दो तीन बार फ़ोन किया। किसी ने नहीं उठाया। मुझे लगा कि शायद व्यस्तता के कारण नहीं उठा पाये। लेकिन वे तो अस्पताल में दूसरी ही जंग लड़ रहे थे। बाद में पता चला कि वे 21 दिन आई सी यू में रहे। उसके बाद ठीक भी हो गये लेकिन फिर तबीयत बिगड़ी तो दुबारा अस्पताल की शरण में गये। उनके दोनों फेफड़े संक्रमित हो गये थे और 17 मई को सभी साहित्य प्रेमियों, हिंदी अभियान को अलविदा कह गये।

आज उनके घर में नौकरी की तलाश में बेटी, ग्रेजुएशन कर चुका बेटा और अकेली रह गयी पत्नी हैं। घाटे का सौदा करने वाले लेखक-संपादक दिवाकर भट्ट का परिवार आर्थिक संकट से जूझ रहा है। बेटी ने बहुत दर्द के साथ बताया कि *आधार शिला* से जुड़े कितने ही नाम थे लेकिन किसी ने हालचाल तक नहीं पूछा। हां, कुछेक लोगों के फ़ोन आये। वे जानना चाहते थे कि अब *आधार शिला* पत्रिका तो निकलेगी नहीं... उनकी सदस्यता की राशि क्या वापस मिलेगी!

यह संवेदहीनता का दौर है... समाज हो या साहित्य.... कोई अछूता नहीं।

मो. 9412272762

स्मृति शेष : विजेंद्र

उड़ गया घना का पांखी

राघवेंद्र रावत

उनतीस अप्रैल, 21 को मैंने फ़ेसबुक खोला तो कवि मित्र कैलाश मनहर की पोस्ट सामने आयी। उनकी पोस्ट पढ़ कर एक बार तो मैं सकते में आ गया। जल्दी जल्दी फिर से पूरी पोस्ट पढ़ी, यक़ीन ही नहीं हो रहा था कि विजेंद्र नहीं रहे। मैंने तुरंत कैलाश मनहर को फ़ोन किया तो पता चला कि कल यानी अठ्ठाईस अप्रैल को उनकी कोरोना संक्रमण से ऑक्सीजन के अभाव में मृत्यु हो गयी । पिछले कुछ वर्षों से वे अपने बेटे राहुल नील मणि के पास गुरुग्राम में रह रहे थे। कोरोना महामारी का कहर जब दिल्ली और राजधानी क्षेत्र में बरपा तो विजेंद्र, उनकी पत्नी और राहुल तीनों संक्रमित हो गये। अस्पतालों में जगह नहीं मिल रही थी, अतः घर पर ही इलाज चल रहा था। 27 अप्रैल, 2021 को उनकी पत्नी का देहांत कोरोना संक्रमण से हो गया। उसके बाद उनकी भी तबीयत इतनी बिगड़ी कि उन्हें आक्सीजन सिलेंडर की ज़रूरत पड़ी। कहते हैं रवीश कुमार ने सोशल मीडिया पर आक्सीजन के लिए अपील की, लेकिन जब तक कोई मदद कर पाता, वे 28 अप्रैल, 2021 को शांत हो गये। स्वयं राहुल नील मणि की हालत ऐसी थी कि वे अपने माता-पिता, दोनों के अंतिम संस्कार में शामिल नहीं हो सके। विजेंद्र की पत्नी का अंतिम संस्कार उनकी पुत्रवधू वसुधा ने संपन्न कराया और विजेंद्र का अंतिम संस्कार राहुल के दोस्तों ने संपन्न कराया। अपने पिता का अंतिम संस्कार न कर पाने का दुख जीवन भर उनके बेटे को सालता रहेगा। यह वही वसुधा है जिसकी तारीफ़ करते वे थकते नहीं थे। जब वे जयपुर छोड़ कर गये, तो लगभग 77 वर्ष के रहे होंगे। वर्षों से जहां रह रहे थे वह जगह छोड़ कर उम्र के इस पड़ाव पर कहीं और जाना, मुझे अच्छा नहीं लगा क्योंकि मैंने अपने पिता को अपने शहर से अलग बहुत उदास और पीड़ा में देखा था। मैंने यह बात जब विजेंद्र से साझा की, तब उनका एक ही जवाब था, 'राघवेंद्र, राहुल हमारा बहुत ख़याल रखते हैं और उससे भी ज़्यादा वसुधा रखती है ,हमें यहां कोई तकलीफ़ नहीं है।'

विजेंद्र का जन्म उत्तर प्रदेश के बदायूं ज़िले के धामपुर गांव में 10 जनवरी 1935 को हुआ। उनकी उच्च शिक्षा काशी हिंदू विश्व विद्यालय में हुई। उसके बाद वे राजस्थान में कालेज शिक्षा में प्राध्यापन करते हुए 1993 में नोहर (राजस्थान) से सेवानिवृत्त हुए। राजस्थान आने के बाद उनकी कर्मस्थली भरतपुर रही। प्राचार्य के पद पर पदोन्नत होने तक तीस बत्तीस वर्ष तक भरतपुर में ही अंग्रेज़ी पढ़ाते रहे और इधर अपनी काव्य प्रतिभा और चिंतन के कारण हिंदी साहित्य में देश के महत्वपूर्ण कवियों में शुमार हो रहे थे ।

अगर सांस्कृतिक परिदृश्य का इतिहासपरक अवलोकन करें तो भरतपुर की पहचान रांगेय राघव से या श्री हिंदी साहित्य समिति से होती थी। इसकी प्रतिष्ठा का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि यहां सरोजनी नायडू, रवींद्रनाथ टैगोर, मदन मोहन मालवीय, काका कालेलकर, सत्य भक्त, हरिवंश राय बच्चन, जैनेंद्र कुमार, मुराई नोविस्ता (जापान), नाटककार अली अहमद

(पाकिस्तान), डॉ.. बारान्निकोब (रूस) तथा डॉ. राम मनोहर लोहिया और रांगेय राघव तक यहां कार्यक्रमों में हिस्सा ले चुके हैं।

यूं तो भरतपुर राज्य अपनी वीरता और घना पक्षी अभयारण्य के कारण विश्वविख्यात है, लेकिन किसी भी शहर की असल पहचान वहां के लेखन, चित्रकारी, लोक कलाएं, रंगकर्म आदि से ही बनती है। रांगेय राघव के बाद हिंदी साहित्य में जिन साहित्यकारों ने पहचान बनायी, वे थे कवि विजेंद्र और उपन्यासकार पानुखोलिया। इन दोनों में समानता यह थी कि उन्होंने मूलतः भरतपुर के न होकर भी भरतपुर को अपनी कर्मस्थली बनाया और भरतपुर को ही अपने सृजन कर्म में प्रस्तुत किया। वे दोनों ही अठठाईस वर्ष तक कालेज के पास आमने-सामने सरकारी आवास में रहे लेकिन दोनों के बीच कोई संवाद न था। उनमें एक ठसक थी जो जीवन पर्यंत बनी रही। भले ही कविता में अनुभूतियों की सघनता और अभिव्यक्ति की कलात्मकता के पक्षधर रहे हों, लेकिन बोलने में वे खरा बोलते थे। उन्हें लाग-लपेट पसंद नहीं थी। 1988 में एक बार ओम थानवी ने *इतवारी पत्रिका* के लिए साक्षात्कार लिया। भोपाल गैस त्रासदी और बेंजामिन मोलाइस की हत्या, ये दोनों घटनाएं हो चुकी थीं, इस संदर्भ में उन्होंने विजेंद्र से पूछा था कि 'आपने भोपाल गैस त्रासदी पर कोई कविता नहीं लिखी जबकि आप मोलाइस पर दो कविताएं लिख चुके हैं।' तब उन्होंने कहा था, 'हां, मुझे इस घटना ने प्रभावित किया लेकिन मैं उसे उपयुक्त शिल्प में नहीं ढाल पाया, शिल्प और कथ्य एक दूसरे के पूरक हैं, हो सकता है अनुभूति पक रही हो, हो सकता है कुछ समय बाद लिख पाऊं।'

उनकी कविताएं छठे दशक से विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में छपने लगी थीं। सन1956 में उनकी कविता, 'फांसोगे गीत' कलकत्ता से निकलने वाली *ज्ञानोदय* में तब छपी थी जब वे बी. एच. यू में थे। विजेंद्र ही बताते हैं कि 1956 में ही 'विदा के फूल' तो त्रिलोचन द्वारा संशोधित की गयी। इससे यह संकेत भी मिलता है कि वे त्रिलोचन का कितना आदर करते थे और त्रिलोचन उन्हें एक कवि के रूप में कितना पसंद करते थे। उस कविता का एक अंश देखिए :

साथी,
तुम मुझे ये फूल मत दो
ये मुर्झा जायेंगे
तिमिर के बोल जब मंडरायेंगे
खोये कहीं होंगे
ये विदा के फूल
ऐसे ही विदा हो जायेंगे
तुम मुझे ये फूल मत दो
दर्द अपना भी
मुझे दे जायेंगे।

मेरे द्वारा *मधुमती* पत्रिका के लिए दिये साक्षात्कार में उन्होंने बताया था कि 'सन 1956 में काशी हिंदू विश्व विद्यालय में स्नातक का छात्र था। उस वक़्त काशी का माहौल बहुत रचनात्मक और प्रेरक था। नामवर सिंह और रामदरश मिश्र उनके गुरु थे और त्रिलोचन और केदारनाथ सिंह आदि कई लेखकों के संपर्क में वे आये और लिखने का सिलसिला शुरू हुआ। '

इससे पहले उनके दो कविता संग्रह, *त्रास*(1966) और *ये आकृतियां तुम्हारी* प्रकाशित हो

चुके थे। आठवें दशक में निराला, त्रिलोचन, नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल जैसे प्रगतिशील कवियों की परंपरा को आगे बढाने वाले कवियों की अग्रिम पंक्ति में विजेंद्र शामिल थे और अंतिम सांस तक उसका निर्वहन करते रहे। विजेंद्र अपने प्रिय कवियों में वाल्मीकि, तुलसी, सूर, निराला को मानते थे और संस्कृत में उन्हें भवभूति प्रिय थे। विदेशी कवियों में उन्हें पाब्लो नेरुदा प्रिय थे। त्रिलोचन के विजेंद्र प्रिय रचनाकार रहे हैं। लेकिन आलोचना में रामचंद्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाद वे रामविलास शर्मा की स्थापनाओं से ज़्यादा मुतासिर रहे। नामवर सिंह की, *कविता के नये प्रतिमान* और *दूसरी परंपरा की खोज* सदा उनके निशाने पर रहीं । नवें दशक में वे डॉ. कर्ण सिंह चौहान की पुस्तक, *आलोचना के मान* की स्थापनाओं को ज़्यादा तरजीह देते थे, यह अलग बात है कि पिछले दिनों उन्हीं कर्ण सिंह चौहान से सोशल मीडिया पर उनका लंबा विवाद वायरल हुआ। इस विवाद का कारण यही था कि विजेंद्र ने अपनी मान्यताओं को नहीं बदला, वे अंत तक अपने चिंतन के प्रति दृढ़ रहे लेकिन कर्ण सिंह चौहान की सोच में समय के साथ काफ़ी परिवर्तन हो चुका है। उन दिनों विजेंद्र प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े हुए थे ।

विजेंद्र कविता में विचार का निषेध नहीं करते किंतु उससे अधिक अनुभूति, भाव तथा रचनात्मक कल्पनाओं को महत्त्व प्रारंभ से ही देते थे। बाद के दिनों में वैचारिक प्रतिबद्धता मुखर होकर हमारे सामने कविता में आती है। उनकी कविताओं में मनुष्य और प्रकृति के अंत:संबंध सहजता के साथ आते हैं। उनकी कविताओं की भाषा को लेकर बहुत बार विवाद हुआ है। उनकी कविताओं में लोक भाषा के देशज शब्दों का इस्तेमाल देखने को मिलता है। वे कविता में उक्ति वैचित्र्य के ख़िलाफ़ रहे, जबकि हिंदी साहित्य में इसका प्रयोग बहुत हुआ और लोकप्रियता भी हासिल की गयी। लेकिन वे उन रचनाकारों में से थे जिन्हें लोकप्रियता की भूख नहीं थी, इसीलिए वे अपने आसपास प्रशंसकों का समूह कभी नहीं इकट्ठा कर पाये। वे रचना के क्षेत्र में लघु पत्रिकाओं की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका मानते थे, इसीलिए उन्होंने *ओर* पत्रिका का संपादन किया जो बाद में *कृति ओर* नाम से भी वर्षों तक प्रकाशित हुई। इसमें मेरे जैसे देश के बहुतेरे नये रचनाकारों को उन्होंने छापा ।

मेरी मुलाक़ात विजेंद्र से 1985 में भरतपुर में ही हुई। तब तक उनके दो काव्य संग्रह, *चैत की लाल टहनी* (1982), तथा *उठे गूमड़े नीले*(1983) भी प्रकाशित हो चुके थे । राजाराम भादू तब एम. ए (अंग्रेज़ी साहित्य) से कर चुके थे। उनके साथ ही मैं विजेंद्र के एम. एस. जे. कॉलेज के पास स्थित आवास पर एक शाम गया। जब राजाराम ने मेरे बारे में बताया कि मैं इंजीनियर हूं और कविताएं लिखता हूं, तो वे बहुत ख़ुश हुए। कविता में मूल्यों के बारे में बहुत देर तक समझाते रहे। मेरे लिए उनकी बहुत सी बातें समझ पाना संभव न था, लेकिन फिर भी उनके प्रगतिशील और जनवादी विचार मुझे प्रेरित कर रहे थे। उन्होंने मुझसे कहा कि 'अगर लेखन करना चाहते हो तो साहित्य पढ़ो, हिंदी साहित्य के साथ-साथ अंग्रेज़ी साहित्य भी पढ़ो, उससे तुम्हारा विज़न बनेगा ।' उन्हीं की प्रेरणा से अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ना शुरू किया, जो आज तक जारी है। विजेंद्र हमेशा अज्ञेयवादी और कलावादियों के विरुद्ध जनवादी मूल्यों के पक्षधर कवियों में शामिल रहे। आलोचक जीवन सिंह उनकी रचना के काव्य तत्वों और उनके काव्य चिंतन के साथ खड़े थे।

चैत की लाल टहनी की कविताओं को लेकर मार्क्सवादी आलोचकों ने उन पर कलावादी होने का आरोप भी लगाया, लेकिन उन्होंने इसका प्रति उत्तर अपनी जनवादी कविताओं से दिया। इस

संग्रह में उनकी प्रेम कविताएं हैं। उनके यहां प्रेम के प्रतीक भी अलग तरह के हैं और अभिव्यक्ति भी अलहदा है। 'चैत की लाल टहनी' कविता का एक अंश देखिए जिसमें प्रेम प्रकृति के बिंबों में किस तरह व्यक्त हुआ है :

मैं
स्वीकारता हूं
पकती फ़सल में ऐंड़ता दाना सिडौल
तुम्हारे गठे जिस्म की तरह
स्वीकारता हूं
खेलते बच्चों की इधर-उधर झूलती काली लटें

विजेंद्र के परिवार में दो बेटियां रोचना विश्वकीर्ति और अनामिका और एक बेटा राहुल नीलमणि था। यूं तो तीनों बच्चों ने साहित्य की तालीम ली, लेकिन रोचना ने हिंदी भाषा में कविताएं लिखना शुरू किया और अच्छी कविताएं लिखीं। मुझे याद है कि 1985 के आसपास उसकी कविताएं *इतवारी* में छप चुकी थीं। रोचना को कविता की समझ भले ही विरासत में मिली हो लेकिन स्त्री अस्मिता और स्त्री स्वतंत्रता के प्रति चेतना उन्होंने स्वयं अर्जित की थीं। रोचना की प्रतिभा से वे बहुत ख़ुश थे। वह *कृति ओर* के संपादन में भी उनका हाथ बंटाती थी।

साहित्य की ललक के कारण मैं अब विजेंद्र से जल्दी-जल्दी मिलने लगा था। हर बार कुछ न कुछ नया सीखने को मिल रहा था। नौ दिसंबर1985 को उन्होंने मुझे *समकालीन भारतीय साहित्य* का अंक पढ़ने को दिया जिसमें चंद्रकांत देवताले और राजकमल चौधरी की कविताएं थीं और शैलेश मटियानी का लेख भी था। उसके बाद मैं स्वयं *समकालीन भारतीय साहित्य* मंगाने लगा था। यह वह समय था जब विजेंद्र मुझे और मैं उन्हें समझने में लगा था। जीवन सिंह गाहे-ब गाहे भरतपुर में होने वाले साहित्यिक कार्यक्रमों में आते रहते थे। अगस्त '86 में जयपुर से प्रकाशित होने वाले *पोस्ट* अख़बार में विजेंद्र की कुछ कविताएं पढ़ने को मिलीं तो अगले दिन मैं विजेंद्र से मिला और दो कविता संग्रह, *उठे गूमड़े नीले* और *चैत की लाल टहनी* लेकर पढ़े। पढ़ने के बाद मैंने विजेंद्र और जीवन सिंह से उनकी कविताओं पर चर्चा की। कुछ कविताओं के प्रतीक और शब्द प्रयोग को लेकर तीखी बहस भी हुई। यह विजेंद्र की सदाशयता थी कि उन्होंने उस आलोचना को अन्यथा नहीं लिया बल्कि उनका स्नेह मेरे प्रति और बढ़ गया। फिर आये दिन किसी न किसी विषय पर उनसे चर्चा होने लगी। ऐसी ही एक चर्चा 28 अगस्त '86 को 'लंबी कविता' पर हुई। निराला की 'कुकुरमुत्ता' से बात शुरू होकर नरेंद्र मोहन, मुक्तिबोध व उनकी लंबी कविता 'जनशक्ति' तक पर चर्चा हुई। 'जनशक्ति' में सर्वहारा का संघर्ष और उसका श्रम पूरी शिद्दत के साथ विजेंद्र ने व्यक्त किया है। उन दिनों लंबी कविता लिखने की होड चल पड़ी थी।

उनका अपना मकान आगरा में था। वहीं से उन्होंने अनामिका (बड़ी बेटी)की शादी बिना किसी तामझाम के, बहुत ही सादा ढंग से की बाद में उन्होंने वहां की संपति को बेच दी। विजेंद्र अच्छे आचरण पर बहुत बल देते थे। ज़्यादातर उन्हें सफ़ेद कुरते पायजामा पहने देखा जा सकता था। भरतपुर की सड़कें तो वे पैदल ही नाप लिया करते थे, लेकिन में दूरियां अधिक होने से वे ऑटो का इस्तेमाल किया करते थे। उन्हें कवियों का शराब पीना कभी नहीं सुहाता था। वे कहते थे कि शराब आपकी संवेदना को नष्ट करती है। सन1989 की सर्दियों में राजस्थान साहित्य अकादमी के तत्वाधान में एक

कविता शिविर का आयोजन अलवर,धाजस्थान में हुआ जिसमें त्रिलोचन, ऋतुराज, जीवन सिंह, गोविंद माथुर, सवाई सिंह शेखावत, शैलेंद्र चौहान, विनोद पदरज और हितेश व्यास से मुलाक़ात हुई। वहां काव्य गोष्ठी के बाद कुछ मित्रों ने 'रसरंजन' करने के बाद कुछ हल्की टिप्पणियां कर दी थीं, तो विजेंद्र बहुत नाराज़ हुए।

मैं 1990 में जयपुर स्थानांतरित होकर आ गया और वे पदोन्नति पर प्राचार्य बन कर नौहर चले गये। इस दौरान उनसे मिलना नहीं हुआ लेकिन अनामिका से उनके हाल चाल पता चल जाते थे। नौहर से सेवानिवृत्त होने के बाद उन्होंने वैशाली नगर, जयपुर में एक मकान ख़रीद लिया। उसके बाद उनसे मिलने का सिलसिला फिर शुरू हुआ।

रोचना का विवाह एक सामंती राजपूत परिवार में हुआ जहां वे ख़ुश नहीं रह पायीं और बहुत कम उम्र में 2013 में चल बसीं। इस तरह एक प्रतिभाशाली रचनाकार की दुखद मौत हो गयी। उन दिनों वे राहुल के पास फ़रीदाबाद (हरियाणा) में रह रहे थे। तभी एक दिन उनके नवासे लोकवर्धन ने रोचना द्वारा आत्महत्या किये जाने की सूचना फ़ोन पर दी। यह विजेंद्र के लिए बेटी की मौत के साथ साथ एक सपने की मौत थी। रोचना की मौत ने उन्हें भीतर से तोड़ कर रख दिया था। 2019 में जब राजस्थान की समकालीन कविता की पुस्तक का संपादन मैं कर रहा था, तब उनसे मैंने उनकी कविताएं मांगी तो उनमें रोचना पर लिखी एक लंबी कविता, 'चित्र देखता तेरा' भी शामिल थी जिसमें एक कवि पिता की पीड़ा से भरी सघन अनुभूतियां व्यक्त हुई हैं। एक पिता का प्रेम, उसकी लाचारी और दुख के भाव इस कविता में प्रकट हुए हैं। यद्यपि उक्त कविता हम पुस्तक में शामिल नहीं कर पाये क्योंकि हम उनकी कई कविताएं छापना चाहते थे। रोचना की मृत्यु की वेदना की सघनता का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने शीर्षक के साथ कोष्ठक में अंकित किया है, 'अपने जीवन की सबसे त्रासद दुखद कविता'। वह वेदना कविता में कुछ इस तरह व्यक्त हुई है :

जाने कितने इसी तरह
दुख सह कर जीवन जीते हैं
जीवन एक त्रासदी है गहरी
हर क्षण अग्नि परीक्षा देनी है
हमको, इसी तरह
रोकर, हंसकर, खीज-खीज कर
अब तक दिन बीते हैं
पराजय से मन के उत्स
नहीं रीते हैं।

विजेंद्र बहुत संवेदनशील और एकांत प्रिय कवि थे। उन्हें समारोहों और बड़े आयोजनों में ज़्यादा दिलचस्पी नहीं थी। जयपुर में भी आयोजनों से दूरी बना कर रखते हुए सृजन में लगे रहते थे। वे काव्यमय जीवन जी रहे थे। उन्हें प्रकृति का सानिध्य पसंद था। वे घंटों घना पक्षी विहार में विचरण करते रहते थे। वहां वनस्पति और पक्षियों के बीच रहना उन्हें रुचिकर लगता था। यहीं से उनको *घना पांखी* काव्य संग्रह के लिए ऊर्जा मिली। जीवन को क़रीब से देखने की ललक उनमें थी। श्रम के प्रति उनकी निष्ठा का प्रमाण उनकी कविताएं और सौंदर्यशास्त्र पर उनकी पुस्तक हमें देती हैं। भरतपुर में वे

जहां रहते थे, वहां पुलिस कोतवाली के सामने एक लोहार की भट्टी थी। वे उस लोहार की भट्टी पर घंटों बैठ कर उसे काम करते हुए देखते थे। 'मुर्दा सीने वाला' कविता लिखने से पहले वे मोर्चरी में घंटों कविता के चरित्र को देखते रहे थे।

विजेंद्र अपने समय में हो रहे परिवर्तनों पर न केवल पैनी नज़र रखते थे बल्कि रचनाकारों को उन ख़तरों से आगाह करते चलते थे, जो साफ़-साफ़ दिखायी नहीं दे रहे थे, लेकिन थे, या आने वाले थे। तभी वे कविता में अपने शत्रु को पहचानने की बात कहते हैं। इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में अपने संपादकीय के माध्यम से उदारतावाद के नाम पर अनेक मार्क्सवादी और तथाकथित मार्क्सवादी समीक्षकों द्वारा अमरीकी नव्य आलोचना के उपकरणों को लागू करने के प्रयासों के प्रति भी वे आगाह कर रहे थे जिसका प्रभाव काव्य सृजन और चिंतन पर पड़ा। वे कहते थे, 'कि मार्क्सवाद का बुनियादी विरोध उदारतावाद से होता है, यह अवसरवाद का ही मोहने वाला रूप है।' वे हमेशा जन पक्षधरता के हामी रहे। वे कहते थे कि हम अंग्रेज़ी के कवि मिल्टन से प्रेरणा ले सकते हैं,जो संसद के पक्ष में नृप तंत्र का विरोध करते रहे और दूसरी ओर शेक्सपीयर सामंतों के बीच रह कर उनके त्रासद पतन को दिखा रहे थे। सन 2002 में कर्मेंदु शिशिर के संपादन में जब समकालीन कविता के परिदृश्य को रखा गया तो उसमें विजेंद्र को भी शामिल किया गया। इस संकलन में प्रकाशित उनकी कविता की पंक्तियों से उनके काव्य तेवर समझे जा सकते हैं :

लकड़बग्घों को
हमारी सेहत की फ़िक्र है
बूचड़ख़ाने से नैतिक संहिता बोली –
हमें तुम्हारे रोयों की फ़िक्र है
तुम निर्भय सोओ
इस वन में हमारा पहरा है
जब तक
हमारे नाख़ून तुम्हारी गर्दन पर रहे
तुम जानो
कोई ख़तरा नहीं है।

वर्ष 2008 में लीलाधर मंडलोई और अनिल जनविजय के संपादन में प्रकाशित, *सदी की कविता* के 'कवि एकादश' में भी यही रेखांकित किया गया कि विजेंद्र उसी आलोक में कविता कह रहे हैं जिसको त्रिलोचन ने प्रदीप्त किया,जब वे कहते हैं : 'कविता के लिए मुझे हर चीज़ दांव पर लगाने को तैयार रहना चाहिए।' वे कहते हैं कि इसके मूल में इस दुनिया और समाज पर बढ़ते आसन्न ख़तरे हैं, जो मनुष्यता को क्षतिग्रस्त करने के हैं। वे कहते हैं कि 'कवि एकादश' के कवियों में नैतिक बल है। विजेंद्र कहते हैं :

बचा कर रख लेनी चाहिए हवा
एक साबुत घड़े में शुद्ध हवा लानी चाहिए
शाम को थके हारे मेहनत-मजूरी से लौटने के बाद
अपने बच्चों-पत्नी के साथ
सांस रोक कर
घर से दूर भागने का अभ्यास करना चाहिए

2012 के जाड़े के दिनों की एक दोपहर को जब मैं अपना दूसरा काव्य संग्रह उन्हें भेंट करने गया तब वे छत पर धूप में लेटे हुए थे । सर्दियों की धूप वैसे भी सुहाती ही है। उन्हें किताब का आवरण बिल्कुल पसंद नहीं आया। उन्होंने उस चित्र की कई ख़ामियां मुझे बता दीं और नीचे जाकर अपनी कई पेंटिंगें मुझे लाकर दीं। उन्होंने बताया कि लीना मल्होत्रा की किताब पर भी उन्हीं की पेंटिंग है। मैं अपराधबोध से ग्रस्त बस उन्हें सुनता रहा। बहुत हिम्मत जुटा कर जब मैंने उसके लोकार्पण का ज़िक्र किया तो उन्होंने कहा, 'हर किताब के लोकार्पण का आयोजन ज़रूरी नहीं है।' फिर वह लोकार्पण कभी हुआ भी नही । उनका मंतव्य यही था कि लोकार्पण के समय प्रायः झूठी तारीफ़ करने का चलन हो गया है और झूठी तारीफों से रचनाकार का कोई हित नहीं होता।

सौंदर्यशास्त्र के नये क्षितिज पुस्तक में वे जनवादी सौंदर्यशास्त्र तथा संस्कृति के निर्माण के लिए तीन प्रमुख बातें बताते हैं। सर्वप्रथम वे आक्रामक होते साम्राज्यवाद तथा इजारेदार द्वारा रची जा रही पतनशील संस्कृति का सामूहिक प्रतिरोध का आव्हान करते हैं। साथ ही वे चाहते हैं कि प्रतिरोध के केंद्र में सर्वहारा हो। तीसरे वे चाहते थे कि भारत में सदियों से चली या रही जात-बिरादरी, संप्रदायवाद तथा धर्मोन्माद के विरुद्ध संघर्ष हो। विजेंद्र के इस आव्हान से कौन प्रगतिशील इत्तिफ़ाक़ नहीं रखता। विजेंद्र को समकालीन कविता के परिदृश्य से लाख धकियाने की कोशिश की गयी हो लेकिन वे अपने सृजन से बराबर हिंदी साहित्य में उपस्थिति दर्ज कराते रहे। सच तो यह है कि भले विजेंद्र के सृजन कर्म की कितनी ही उपेक्षा की जाये लेकिन अगर ईमानदारी से प्रगतिशील-जनवादी कविता की पड़ताल की जायेगी तो विजेंद्र को छोड़ना नामुमकिन है ।

विजेंद्र ने कई विधाओं में रचना की। उनके चौबीस कविता संग्रह, दो काव्य नाटक -- *अग्नि पुरुष* और *क्रोंचवध* -- प्रकाशित हुए *आधी रात के रंग(मिड नाइट कलर्स)* बहुरंगीय चित्रों पर अंग्रेज़ी और हिंदी में प्रकाशित हुई । पांच भागों में डायरी, *कवि की आत्मकथा, कविता और मेरा समय* (आलोचनात्मक लेखों का संग्रह) और सौंदर्यशास्त्र पर दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उन्होंने कविता में शिल्पगत प्रयोग करते हुए सॉनेट और लंबी कविता की भी रचना की।

इतना कुछ करते हुए भी वे सोशल मीडिया पर भी सक्रिय थे । मार्क्सवाद में उनकी गहरी आस्था बनी रही और जनवादी मूल्यों के लिए अपने रचनात्मक आंदोलन को निरंतर जारी रखा। प्रायः अपने प्रिय लेखकों को अपने बनाये चित्र मैसेंजर के जरिये भेजते थे। मेरी कविताओं पर सकारात्मक टिप्पणी करते रहते थे। उन्हें इस बात का संतोष था कि मैं आज भी लिख रहा हूं और पथ से डिगा नहीं हूं। वे अपने आख़िरी समय में नितांत अकेले थे। उनके साथ चलने वाले बहुत से साथी समय के साथ क़दमताल करने के लिए उन्हें एक एक करके अकेला छोड़ गये। बिडंबना देखिए कि अंतिम समय में उनकी बड़ी बेटी अनामिका जो स्वयं कोरोना से संक्रमित थी, उनके पार्थिव शरीर के दर्शन भी नहीं कर पायी। हिंदी आलोचना की स्थिति पर चर्चा करते हुए उन्होंने मुझसे कहा था कि ' हिंदी में प्रायः लेखक की मृत्यु के बाद उसका सही मूल्यांकन होता है,जैसा कि मुक्तिबोध के साथ हुआ।' उम्मीद करता हूं कि अब जब घना का पांखी अनंत उड़ान पर चला गया है, हिंदी के इस विरले सेवक का शायद अब कोई सही मूल्यांकन करे। न जाने क्यों लगता है अभी फ़ोन की घंटी घनघना उठेगी और उधर से विजेंद्र कहेंगे – अरे राघवेंद्र ! तुमने मैसेंजर पर मेरी पेंटिंग देखी क्या?

मो. 9829809988

‘प्रमाणित करो कि मैं नहीं हूं’ : शंख घोष

निशांत

‘न्याय अन्याय नहीं जानता’ शीर्षक से शंख घोष की एक छोटी सी कविता है, देखें :

तीन राउंड गोली चलती है
तेईस लोग मारे जाते हैं
लोग इतने नीच हो गये हैं!

स्कूल के लड़के जो चौखटे पर ही मारे गये
सच में वे समाज विरोधी थे ?

उधर देखो
धुला हुआ तुलसीपत्ता है
उलट भी नहीं पाया
खाने के लिए भुनी हुई मछली
असहाय पड़ी है

आत्मरक्षा के अलावा
कुछ भी नहीं जानती गोलियां
दार्शनिक आंखें
सिर्फ़ आकाश के तारों को देखती रहती हैं।

पुलिस कभी भी अन्याय नहीं करती
जब तक है वह हमारी पुलिस।

‘हमारी पुलिस’ पर आकर कविता ख़त्म होती है। ‘हमारी’ मतलब यहां लोकतंत्र का ‘मेरी’ या ‘मेरा’ (बांग्ला में ‘आमार’) हो जाता। यह लोकतांत्रिक तानाशाह की भाषा है जो सत्ता के मद में चूर होकर अपनी आलोचना को बग़ावत समझता है और तुरंत फुंफकार कर कहता है : ‘तुमरा नक्सली’ (तुम लोग नक्सलवादी हो)।

यही एक कविता नहीं, शंख घोष की लगभग सारी कविताएं सीधे-सीधे सवाल पूछने में विश्वास रखती हैं, पूछती भी हैं। जनता के सवाल शंख घोष की कविताएं हैं, अधिकतर कविताएं। इसलिए जब बांग्ला के एक और यशस्वी कवि- संपादक अमरेंद्र चक्रवर्ती उनसे पूछते हैं : ‘आज का समय कविता लिखने के लिए अनुकूल है या प्रतिकूल ?’ तो शंख घोष कहते हैं : ‘कोई भी समय कविता लिखने के पक्ष में प्रतिकूल समय नहीं है और यदि ऐसा दिखायी दे कि चारों तरफ़ कविता लिखने से उसमें और ज़्यादा बाधा आयेगी तो वही सही समय होता है कविता लिखने का। समय के

साथ इस संघर्ष से ही कविता अपने लिए संजीवनी शक्ति अर्जित करती है। इस संजीवनी शक्ति के सहारे ही वह फिर से खिल उठती है। खिल उठता है कवि। लेकिन यदि मैं (एक कवि) इस कार्य को नहीं कर पाता हूं तो इससे मेरी अक्षमता का बोध होता है। इसमें समय को कोई दोष नहीं दिया जा सकता।'(*आजकल*, जून-2021,पृष्ठ-20) एक कवि की यह शानदार स्वीकारोक्ति कि वह अपनी अक्षमता को भी दिखला सके, उसे जेनुइन बनाती है। यह जेनुइनपन आता है जनता की आवाज़ को वाणी प्रदान करने से। इसलिए उनके यहां बांग्ला भाषा-भाषी समाज का हर एक वर्ग अपनी करुणा और क्रोध के साथ उपस्थित है। भिखारी, ग़रीब कर्मचारी, ट्राम वाला, बस वाला, खोमचे वाला, बाबू, क्लर्क से लेकर अफ़सर और अपराधी भी। भीड़ के शोर को कविता में तब्दील करते हुए कवि हैं वे। इसलिए उनकी कविता में 'मेरी भी आभा है इसमें' लोग ही नहीं कह सकते, बांग्ला समाज कहता है। वह सिर्फ़ कविता में ही दो-टूक स्पष्टवादी नहीं थे, जीवन में भी थे। जब शंख घोष को 2011 में केंद्र सरकार ने पद्म भूषण पुरस्कार से सम्मानित किया था तब एक प्रतिष्ठित समाचार पत्र के पत्रकार ने इस पर उनकी प्रतिक्रिया जाननी चाही थी। उन्होंने कहा था : 'सरकार ने पुरस्कार दिया, बस बात ख़त्म।' सरकार का न आभार। न प्रशंसा। न कोई कठोर प्रतिक्रिया। बस चुप्पी। एकदम चुप। वे कम बोलते थे, पर अपनी बात पूरी स्पष्टता से उन्हें बोलना आता था। वे जीवन में भी काफ़ी मितभाषी रहे, लेकिन उनकी कविता पूरी ताक़त से बोलती थी। इतनी ताक़त से बोलती थी कि 'सीकरी' के कानों तक वह आवाज़ पहुंच जाती थी।

उस समय की तत्कालीन सरकार के कामकाज पर इससे बड़ी प्रतिक्रिया और क्या होगी? एक कवि सरकार से इतनी बड़ी उपाधि मिलने के बाद भी चुप रह गया। शंख घोष की ही एक कविता की पंक्ति याद हो आयी : 'इतनी ज़्यादा बात क्यों करते हो?'

चुप हो जाओ
शब्दहीन हो जाओ
लिखो उम्र, लिखो उम्र।'('आयु')

'उम्र' के बदले 'समय' शब्द को रख कर देखें या 'उम्र' भी समय को ही संबोधित करता है मानें, तो कविता अपना अर्थ विस्तार करती है। वह धीरे से फैलती है या खुलती है जैसे एक कली के भीतर एक बड़ा सा गुलाब अपना विस्तार छिपाये रहता है। शंख घोष की कविताएं कम शब्दों में बड़ा वितान रचती हैं।

शंख घोष एक छोटी सी जगह चांदपूरा जो बारिशाल जिला जो अब बांग्लादेश में है से आते हैं। 6 फ़रवरी 1932 को मनिंद्र कुमार घोष के घर जन्मे शंख घोष ने प्रेसिडेंसी कॉलेज (अब विश्वविद्यालय) से स्नातक, कोलकाता विश्वविद्यालय से परास्नातक (एम ए) की परीक्षा पास की। उनका असली नाम चित्तप्रिय घोष है। पढ़ाई ख़त्म होने के बाद ही वे बंगवासी कॉलेज, सिटी कॉलेज से जुड़ गये। रिटायर होने से पहले वे दिल्ली विश्वविद्यालय, विश्व भारती विश्वविद्यालय, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ एडवांस्ड स्टडी, शिमला से भी जुड़े, बाद में, 1992 में जादवपुर विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त हुए। बांग्ला साहित्य और संस्कृति में पांच दशकों की सक्रिय उपस्थिति और एक साहित्य साधक की वजह से उन्हें शक्ति चट्टोपाध्याय, सुनील गंगोपाध्याय, विनायक मजूमदार और उत्पल कुमार के साथ 'आधुनिक बांग्ला साहित्य के पांच पांडवों' में गिना जाता था।

अपने लंबे अध्यापकीय जीवन में पढ़ने-पढ़ाने और लिखने के अलावा जो महत्वपूर्ण कार्य उन्होंने किया, वह था प्रतिरोध। प्रतिरोध सिर्फ़ मौखिक ही नहीं, ज़रूरत पड़ने पर जनता के साथ खड़े होकर, उसके क़दम से क़दम मिलाकर आगे और आगे बढ़ते रहे। सक्रिय प्रतिरोध में उनका विश्वास था, मौखिक प्रतिरोध में नहीं। कभी भी उन्होंने जनता की समस्याओं से मुंह नहीं चुराया। चाहे सरकार अपनी पसंद की हो या नापसंद की।

उनकी निगाह सिर्फ़ सत्ता पक्ष और सरकार पर ही नहीं टिकी थी। वे अपने समाज में हो रहे परिवर्तनों पर भी पैनी निगाह रखते थे। इसलिए वे अपने भाई-बंधुओं की भी मुखर आलोचना करने से नहीं हिचकते थे। चिंतित भी होते थे। ख़ासकर बदलते हुए बंगाली जनमानस को लेकर। उसके साहित्य और संस्कृति से दूर, और दूर चले जाने की चिंता उन्हें सताती थी। वही अमरेंद्र चक्रवर्ती से एक आंखों देखी घटना का ज़िक्र करते हुए,अपने समाज में हो रहे सांस्कृतिक पतन की तरफ़ इशारा करते हैं। वे बांग्ला समाज और मानस की अंदरूनी परतें खोलते हुए कहते हैं : 'समाज मानस ? आप किसे बांग्ला समाज या पाठक मानते हैं? बांग्ला का क्या एक ही समाज है, एक ही मन है? अंग्रेज़ी के कोश में लिखा हुआ है। इस देश के कृषक या किसान रवींद्रनाथ के गीतों को गाते-गाते खुले हुए खेत में धान काटते हैं। डब्ल्यू. बी. येट्स भी *गीतांजलि* की भूमिका में इसी तरह के स्वप्न की परिकल्पना करते हैं। अलीक परिकल्पना, अलीक किसान जबकि सच कुछ और ही है। अभी उसी दिन सैलून में बाल बनवाते हुए देखा- रेडियो पर रामप्रसादी(मां काली की भक्ति से भरे हुए गीत जिसके रचनाकार हैं रामप्रसाद) सुन रहे थे कुछ लोग, लेकिन उदघोषक ने जैसे ही कहा, 'आइए अब सुनते हैं रवींद्र संगीत, वैसे ही एक ने उठकर रेडियो का कान मरोड़ दिया। ऐसा ही आज होना था। छिन्न हो रहे इस समाज को पकड़ने का आयोजन कविता से आज स्थगित हो गया है।'(*आजकल*,जून 2021,पृष्ठ-20) अपने समाज के ऐसे ब्यौरों को कहना या लिखना आसान काम नहीं होता। कबीर याद आते हैं। वे कहते हैं लीक छोड़कर चलने वाला ही कवि होता है। और कवि हमेशा 'आंखन देखी कहता है'। वास्तव में वह बेहतर भविष्य के लिए वर्तमान की ग़लतियों की तरफ़ इशारा करता हुआ होता है। इसलिए वह हमेशा विपक्ष में खड़ा होता है। यह विपक्ष बेहतर भविष्य, बेहतर समाज के लिए होता है।

शंख घोष जब कांग्रेस की सरकार थी तब भी उसके विपक्ष में मुखर हुए थे और सीपीएम से लेकर टीएमसी की सरकार तक, वे और उनका रचनात्मक लेखन विपक्ष की भूमिका में खड़े रहे हैं। उनके पहले काव्य संग्रह, 'दिन गुली, रात गुली' (दिन सारा, रात सारी) में एक कविता है 'यमुनावती'। उसकी कुछ पंक्तियां देखें :

बुझ रहे इस चूल्हे में
थोड़ी सी आग दें
और थोड़ा सा ज़िंदा रह जाऊं
जीने के आनंद में।
मां जवाब में कहती है-
हाय तुझे भात दूं, किस तरह भात दूं
हाय तुझे भात दूंगी, किसके साथ भात दूं हाय

और ठीक इसके 56 साल बाद1993 की उनकी एक कविता 'न्याय अन्याय नहीं जानता' का ऊपर

ज़िक्र हो चुका है। कुछ नहीं बदला। आठवें दशक में उनका एक और संग्रह आता है,जिसका शीर्षक है, *पांजरे दाडेर शब्द*। यह पूरा संग्रह ही व्यवस्था विरोध का संग्रह है। वास्तव में पहले संग्रह से लेकर अंतिम संग्रह तक उनका रचनात्मक स्वर विरोध का ही रहा है। वे जानते हैं, 'अन्याय जिधर है, उधर शक्ति'। इसलिए वे 'शक्ति की मौलिक कल्पना' करते हैं। 1956 का समय कुछ और था। भूख, ग़रीबी, असहायता से त्रस्त होकर लोग एक मुट्ठी भात के लिए रो-गिड़गिड़ा रहे थे। पुलिस का, सत्ता और सरकार का दमन तब भी कम नहीं था। 1993 तक आते आते स्थितियां और भयावह हो गयीं। पुलिस सीधे सीधे सत्ता के पक्ष में खड़ी होकर गोलियां दागने लगी। सत्ता से त्रस्त होकर नवारुण भट्टाचार्य को कहना पड़ा था, 'यह मृत्यु उपत्यका देश नहीं है मेरा'। वहां भी मासूम बच्चों का, छात्रों का एनकाउंटर कर दिया गया था। यहां भी अभी बच्चे खा भी नहीं पाये थे, चौके में ही उनका एनकाउंटर कर दिया गया। सरकार का वक्तव्य आता है। पुलिस कभी भी अन्याय नहीं कर सकती। जब तक वह मेरे अधीन है। मेरी है। मेरी सरकार के आदेशों का पालन करती है, वह अन्याय नहीं करती।

वास्तव में दुनिया को बदलने का जो भी स्वप्न देखता है उसे यथास्थितिवाद से लड़ना होता है। कवि, लेखक, कलाकार, सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता जब भी कुछ नया सोचते हैं, उनका विरोध होता है। विरोध के बिना विकास हो ही नहीं सकता। यह जानी हुई बात है। इसलिए यदि किसी चीज़ का विरोध न हो तो समझिए कि वह विकास नहीं कर रहा है। शंख घोष सतत विकासमान धारा के भारतीय कवि है।

उनकी पहली पुस्तक, *दिनगुली, रातगुली*(1956) आने के लगभग 12 साल बाद *निहित पातालछाया*(1967) छपकर आयी। ठीक हिंदी के वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह की तरह। उनकी भी पहली पुस्तक *अभी बिल्कुल अभी* 1960 में आने के 20 साल बाद उनकी दूसरी पुस्तक, *ज़मीन पक रही है* आयी थी। केदारनाथ सिंह शंख घोष से दो साल छोटे भी थे। दोनों एक ही समय के कवि थे, लेकिन केदारनाथ सिंह में जहां भाषा, कविता और अपनी ज़मीन के प्रति रूमानियत का भाव अधिक है, वहीं शंख घोष कविता में यथार्थ की प्रस्तुति पर ज़्यादा ज़ोर दे रहे थे। केदार जी जहां उत्तर भारत को, उसकी संस्कृति को, स्मृति, बिंब को प्रमुखता प्रदान करते हुए हिंदी कविता को नयी दिशा दे रहे थे, वही शंख घोष प्रतिरोध की सशक्त आवाज़ बनकर उभर रहे थे। लेकिन इस आवाज में भी उनका कवि रुमान की तरफ़ नहीं, यथार्थ की तरफ़ बढ़ता है। 'एक कविता' शीर्षक से उनके एक छोटी सी, पांच पंक्तियों की कविता देखें :

गान नहीं कोई अब मेरे शरीर में।
आते हैं लकड़हारे ले जाते काटकर सूखी सब डालें
रखते फिर डाल उन्हें खुले मैदान में पश्चिमी किनारे पर
धूल सने पांव लिये आते हैं लोग दूर-दूर से
करते क्रय-विक्रय।

(*मेघ जैसा मनुष्य*, पृष्ठ-46, राजकमल प्रकाशन, 2017)

पहली पंक्ति के बाद कविता अपना पूरा रूप बदल लेती है और जीवन के एक बड़े सत्य की तरफ़ इशारा करते हुए ख़त्म होती है। कभी हमारे समय को एक ग़ज़लगो के शब्दों में कहूं तो 'जागते लोगों को बस इशारा ही काफ़ी है/ सोने वालों को जो कहना है हिलाकर कहिए' की तर्ज़ पर बयान कर देता

है। शंख घोष इसी इशारे यानी मौन की संवेदना के कवि हैं। यहां कवि कम शब्दों में बड़ी बात कहते नज़र आते हैं। कभी अज्ञेय ने कहा था कि कविता मौन के अंतराल के बीच होती है। उनकी कविता मौन की मुखरता की कविता है। इस मौन के बीच करुणा, भाव-प्रवणता और बुद्धि-वैभव अपने उच्च धरातल पर है। मुक्तिबोध के शब्दों में कवि किस सतह से बोल रहा है, उसकी कविता में उस सतह का पता चलना चाहिए। शंख घोष की सतह का पता उनकी कविताएं बिन मांगे ही दे देती हैं। वास्तव में कवि का सरोकार या उसके विचार की संवाहक उसकी कविताएं होती हैं। कविता से बाहर कवि को ढूंढ़ने से अर्थहीन अर्थछवियां मिलती हैं। कवि के विकासक्रम को ढूंढ़ना है तो उसके कविता के विकासक्रम को देखना होगा।

पहले संग्रह से दूसरे संग्रह के बीच का व्यवधान उनके विकासक्रम का भी व्यवधान है। इन दस सालों में शंख घोष ने कविता की ज़मीन को जानने पहचानने से लेकर उसे नयी उर्वरा शक्ति से लैस करने का कार्य किया है। एक संपूर्ण कवि बनने के लिए जिस तैयारी की ज़रूरत पड़ती है, जिस साधना की ज़रूरत पड़ती है, लगता है शंख घोष ने वह तैयारी इन दस सालों में की है, क्योंकि पहले से दूसरे संग्रह में बड़ा अंतर है। कविताएं पहले से ज़्यादा परिपक्व नज़र आती हैं। पहले से ज़्यादा नुकीली और पहले से ज़्यादा तीखी। दूसरे संग्रह के तुरंत बाद शंख घोष तीन लंबी कविताएं लिखते हैं। 'आरुणि उद्दालक', 'जाबाल- सत्यकाम' और 'भूमध्य सागर। 1967-68 के बीच की ये तीन लंबी और साथ में 'जलस्रोत' कविता-गुच्छ की कविताएं शंख घोष को नये ढंग से आविष्कृत करती हैं। शंख घोष वह उत्साही बालक नहीं रहा जो मन के भाव को कविता में लिखकर मुक्ति पा जाता है। अब वह जान गया था कि 'मुक्ति अकेले में नहीं मिलती'। वह एक सामूहिक कर्म है।

1967 के बाद शंख घोष के लेखन में काफ़ी तेज़ी आयी। 1972, 1974 और 1976 में लगातार *आदिम लतागुल्म मय, मूर्ख बड़ो, सामाजिक नया* और *बाबरेर प्रार्थना* संग्रह छपकर आते हैं। *बाबरेर प्रार्थना* के लिए 1977 में उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिला, जबकि 1970 में सिर्फ़ ढाई संग्रह के बाद ही (बीच में एक फ़र्मे, 16 पृष्ठ की एक काव्य पुस्तिका, *एखन समय नेई* प्रकाशित हो चुकी थी।) उनकी श्रेष्ठ कविताएं (*शंख घोषेर श्रेष्ठ कविता*) 'भारवी' जैसे प्रतिष्ठित प्रकाशक ने छाप डाली थी। इस बीच शंख घोष की काव्य यात्रा में कुछ ख़ास बदलाव नहीं दिखता। हां, इस बीच उनका एक किशोर उपन्यास, *सकालबेलार आलो* (1972), रवींद्रनाथ को लेकर एक आलोचना कृति, *कालेर मात्रा औ रवींद्र नाटक* (1969) तथा विक्टोरिया ऑकम्पे द्वारा रचित मूल स्पेनिश से बांग्ला में अनूदित *ऑकम्पेर रवींद्रनाथ* ने उन्हें रवींद्र मर्मज्ञ के रूप में स्थापित किया। आगे चलकर उन्होंने रवींद्रनाथ पर कई महत्वपूर्ण कार्य किये। इसी बीच 1971 में उनकी आलोचना की दो पुस्तकें, *निशब्देर तर्जनी* और *छड़ेर बरंडा* ने उन्हें आलोचक के रूप में स्थापित किया। *निशब्देर तर्जनी* को तो कवियों का गद्य कहा गया। इस गद्य में कविता की ऐसे रवानी है कि यह गद्य कविता पढ़ने का आनंद देता है। इस गद्य और *छड़ेर बरंडा* में तो छंदों का लालित्यपूर्ण वर्णन है। यह कृति छंदों को आधुनिकता के आईने में देखने-परखने का कार्य करती है। छंदों के प्रति उनमें एक नया मोह आता है। रवींद्रनाथ, जीवनानंद, सुधींद्रनाथ, बुद्धदेव बसु और समर सेन की कविताओं में छंदान्वेषण और स्वयं की कविताओं में प्रयोग करने की इच्छा यहीं से उनमें पनपती है। इसे परंपरा और व्युत्पत्ति कहते हैं। कवि

अपने पूर्ववर्ती कवियों को पढ़ते-गुनते हुए परंपरा से भाषा, शैली, कथ्य को लेकर अपने समकाल को अभिव्यक्त करता है। छोटे या ख़राब कवि नक़ल करते हैं, बड़े और महान कवि परंपरा को आगे की तरफ़ बढ़ाते हैं। शंख घोष कविता की ज़मीन में नया बीज बोते हैं। गद्य की ये पुस्तकें उनके विचारों को मांज देती हैं। उनकी भाषा को चमकीली बनाती हैं और इसी बीच नक्सलवादी आंदोलन और उसकी विचारधारा उन्हें नये ढंग की कविता लिखने के लिए उकसाती है। 'आपातकाल' के बाद और 1980 के शुरुआती दिनों में वे अपने ही काव्य प्रतिमान को तोड़ते हुए एक नये रूप में हमारे सामने आते हैं।

1980 में प्रकाशित उनका काव्य संग्रह, *पांजरे दांड़ेर शब्द* जो कि एक कविता गुच्छ की तरह है का पहला भाग 1976 में प्रणवेंदु दासगुप्ता द्वारा संपादित, *अलिंद* पत्रिका के 'पूजा विशेषांक' में, दूसरा गुच्छ 1977 में *साप्ताहिक अमृत* अख़बार में छपा। इसके बाद दो साल तक टुकड़ों टुकड़ों में 11, 12, 13, 14 शीर्षक से पत्रिकाओं में प्रकाशित होता रहा। ये चार पंक्तियों की कविताएं हैं। हिंदी में इन्हें 'चौपाई' बांग्ला में 'अक्षरवृत्त' कहते हैं। रवींद्रनाथ और जीवनानंद के यहां इसका सफल प्रयोग है। ये एक नये शंख घोष हैं। अपनी कविता को लय के ज़्यादा नज़दीक लाते हुए, पर विद्रोह की आग को बचाये हुए। इस समय कबीर की याद आये तो कुछ ग़लत नहीं होगा। कविता नंबर 41 से एक उदाहरण ही काफ़ी होगा :

फांदते हुए चले आ रहे हैं कितने रक्त बूंद
मेरे सीने के पास, निश्चित हो गिद्ध डैने फड़फड़ाता है
हरी,हरी हो सोयी पड़ी है पृथ्वी अपने प्रकृति रूप में
भीतर बिखरे पड़े हैं नोचे खसोटे हुए हृदय पिंड।

पांजरे दांड़ेर शब्द(1980) से लेकर *छड़ेर भीतर एत अंधकार* (1999) के बीच शंख घोष की कविता शिखर भूमि पर विद्यमान रहती है। इन बीस सालों में नौ काव्य ग्रंथ, पांच गद्य की पुस्तकें, रवींद्रनाथ को केंद्र में रखकर और चार पुस्तकें, एक यात्रा पुस्तक, एक बच्चों के लिए कविता सिखाने की पुस्तक, गिरीश करनाड के *हयवदन* नाटक का और एलियट की एक काव्य पुस्तक का अनुवाद किया। बीस सालों में पचीस पुस्तकें। एक पुस्तक भाषणों का संकलन है।

अस्सी के बाद उनकी कविता जिस भूमि पर खड़ी होती है, वह अद्भुत है। एक नये शंख घोष का प्रादुर्भाव यहां होता है। ज़्यादा रचनात्मक, ज़्यादा आलोचनात्मक। सिर्फ़ संग्रह के नाम देखने से भी कुछ-कुछ चीज़ें स्पष्ट होती हैं। *पांजरे दांड़ेर शब्द*, *प्रहरजोड़ा त्रिताल*(1982), *बंधुरा मती तर्जन्य* (1984), *मुख देके जाए विज्ञापने*(1984), *धूम लेगेछे सृष्टिकमले*(1987), *लाइनेई छिलाम बाबा* (1993), *गंधर्व कविता गुच्छा*(1994), *शवेर ऊपर शामियाना*(1997),और *छंदेर भीतर एतो अंधकार* (1999)। इसके बाद 2004 में *जलाई पाषाण हये आहे* और अन्य कविताओं की किताबें समय समय पर आती रही हैं। 1999 में उन्हें *रक्त कल्याण* के लिए साहित्य अकादमी का अनुवाद पुरस्कार भी मिला है। इन बीस सालों की कविता एक अलग, ज़्यादा अनुभवी, यथार्थ की अलग व्याख्या करने वाली, कलात्मक वरिष्ठता से ज़्यादा सहज और संप्रेषणीय हुई है जबकि आक्रामकता में लेश मात्र भी कमी नहीं हुई है। याद करें, यह वही दौर है जब उदारीकरण का सूर्य सरपट दौड़ा चला आ रहा था। उसकी वल्गा थामने वाला कोई प्रतिरोध नहीं था पूरे देश में। बांग्ला में उसकी वल्गा थामने का महत्ती कार्य शंख घोष ने किया। *मुख ढेके जाए विज्ञापने* में वे लिखते हैं :

अकेला होकर खड़ा हूं
तुम्हारे लिए गली किनारे
सोचता हूं अपना चेहरा दिखाऊं
चेहरा ढक जाता है विज्ञापन से।

याद आते हैं हिंदी के वरिष्ठ कवि लीलाधर जगूड़ी। उनके एक काव्य संग्रह का शीर्षक है, *अख़बार का मुंह विज्ञापन से ढका है*(2009), जबकि शंख घोष का यह संग्रह 1984 में आ गया था। इस दौर में जनता की ज़ुबान पर चढ़ जाने वाली कविताएं या स्मृति में अपना घर बना लेने वाली कविताएं शंख घोष ने ज़्यादा लिखीं। 'चडूईटी(एक पंक्षी) की भाबे मोरेछिल','आमदेर एई तीर्थ आज', 'शेकल बाधार गान','अन्धविलाप', 'शिशुराओ जेने ज्ञाछे', 'यंत्रर सफर थेके', 'टलमल पहाड़', 'सैकत', 'न्याय अन्याय जानेना', 'घातक', 'जलेभाषा खुडकुटे', 'रक्तदोष', 'महापरिनिर्वाण' आदि कविताएं याद रह जाने वाली रचनाएं हैं।

यहां तक आते आते शंख घोष की कविता में आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। शंख घोष अपने को तोड़कर-फोड़कर नये शंख घोष में परिवर्तित होकर हमारे सामने आते हैं।

इस शंख घोष की आक्रामकता में तो कोई कमी नहीं आती है, लेकिन इनका शिल्प काफ़ी चाक-चौबंद हो जाता है। कविता में काव्य की उपस्थिति यहां सबसे ज़्यादा है। वास्तव में होता यह है कि कई बार आप कविता के पास या रचना के अंत में खुद को आश्चर्यचकित पाते हैं। आप अपने आप से प्रश्न करते हैं कि मैं ही था क्या? मैं अर्थात कवि। वास्तव में कभी-कभी रचना, रचनाकार के हाथ से निकल कर अपना स्वयं का अस्तित्व ले लेती है और रचनाकार से दो क़दम आगे जाकर खड़ी हो जाती हैं। हम जैसा जीवन जीना चाहते हैं, जीवन उससे आगे बढ़कर अपना चुनाव कर लेता है।

शंख घोष यहां आकर पाठकों से गपियाते-बतियाते आगे आगे चलते हैं। संवाद करना उन्हें प्रिय है। उनकी कविता की यह एक नयी विशेषता यहां दिखती है। यहां कविता लिखना एक यात्रा पर निकल पड़ना है। हर लेखक अपने कुछ सवालों, जिज्ञासाओं, आत्मा की भूख और सत्य की खोज के लिए कलम हाथ में लिये यात्रा पर निकल पड़ता है। शंख घोष भी यही करते हैं। लेखक कभी कुछ पाता है, कभी नहीं। पाने, न पाने से ज़्यादा यात्रा का आनंद, खोज का वैभव उसे आश्चर्यचकित करता है। पाठक, लेखक की इस यात्रा में सहयात्री बनता है। उतना ही आनंदित होता है।

शंख घोष से एक बार पूछा गया था, 'कविता में आप जिस भाषा में बात करते हैं उसके साथ बोलचाल की भाषा में कोई विरोध आप देख पाते हैं क्या? कविता की भाषा को दैनिक जीवन में बोलचाल की भाषा के समक्ष रखने के क्या आप हिमायती हैं? क्या आप मानते हैं कि कविता की अपनी निज भाषा होनी चाहिए? साधारण आम पाठक जो आरोप लगाते हैं कि कविता की भाषा आम लोगों की भाषा नहीं है?' इतने सारे प्रश्नों के जवाब में शंख घोष ने काफ़ी संक्षिप्त सी, लेकिन बहुत बड़ी बात कही थी। देखें, 'नदी का पानी घड़े में भर देने के बाद क्या वह नदी का ही पानी बना रहता है? नदी क्या उसे अपना बोलकर पहचान पाती है? आधार बदलने से अधिरचना बदल जाती है। बोलचाल की भाषा और कविता की भाषा में यदि कोई भिन्नता न हो तो फिर कविता लिखने की ज़रूरत ही क्या है? बोलचाल की भाषा और कविता की भाषा यदि एकदम ही अलग हो, तब भी कविता लिखने की क्या ज़रूरत है? दोनों के बीच यह भिन्नता-अभिन्नता का द्वंद्व मिलकर ही कविता की भाषा का निर्माण

करते हैं। इसे ही मैं कविता की भाषा कहता हूं। नदी के जल की तरह, साधारण व्यक्ति फिर उस नदी के जल के रूप में पहचान नहीं पाता, जबकि वह उसका ही एक अंग है।' शंख घोष कविता की अपनी विशिष्टता को बचाये रखने के हिमायती थे, पर कविता की सहजता को नष्ट करके नहीं। इसलिए अंत-अंत तक उनकी कविता असाधारण में साधारण बनी रहती है। सहजता ही उनका गुण है, दुर्बोधता नहीं। इसलिए वे जनता की वाणी को कविता में तब्दील कर पाते थे। उम्र के एक ख़ास पड़ाव पर पहुंच जाने के बाद भी उनके काव्य चिंतन में कोई कमी नहीं दिखती।

कभी टी. एस. एलियट ने कहा था, मध्य उम्र में पहुंच जाने वाले कवियों के सामने तीन विकल्प रहते हैं: एक, कविता लिखना बंद कर देना, दो, अधिक शैलीगत दक्षता के साथ अपने को दोहराना और तीन, प्रौढ़ता के साथ संधि करके एक नये रास्ते की खोज करना। शंख घोष ने शुरुआत जिस आक्रामकता के साथ की थी, अपने प्रौढ़काल में उसे नयी दिशा दी। एक नये रास्ते का अन्वेषण किया। यहां पहुचकर वे गुस्सा नहीं, क्रोध करते हैं। विलाप नहीं, हाहाकार करते हैं। ऐसी आवाज़ उनके पास पहले नहीं थी। लगता है हमारे घर के भीतर का ही कोई व्यक्ति हमारी ग़लतियों की तरफ़ चिल्ला-चिल्ला कर हमें दिखला रहा है। हमारे पास उससे बचने का कोई विकल्प नहीं है। इसलिए शंख घोष की ही एक कविता की पंक्ति याद आती है : 'कल जो मैं था प्रमाण करो/ आज भी मैं वही 'मैं' हूं कि नहीं।'

एक कवि अपने होने का प्रमाण सामने वाले से मांगता है। कहता है प्रमाणित करो कि मैं वही हूं, जो कल था। याद आता है बौद्ध दर्शन जो कहता है, जिस पानी में डुबकी लगायी, वह पानी, समय और व्यक्ति सब बदल गये। कुछ भी वही नहीं रहा जो एक क्षण पहले था, बल्कि वह क्षण की परिभाषा को भी नहीं मानता। वह सततप्रक्रिया में विश्वास करता है। शंख घोष उसी सततप्रक्रिया के कवि हैं। यह सततप्रक्रिया सत्य के अनुसंधान की प्रक्रिया है। समाज के बदलने की आहट को अपनी पारखी नज़रों से परीक्षण करते हुए ,वे थकते नहीं हैं। मृत्यु तो एक बहाना है, कवि हमेशा ज़िंदा रहता है अपनी कविता में। कोरोना की वजह से 21 अप्रैल, 2021 को भले ही उनका पार्थिव शरीर पंच तत्व में विलीन हो गया, उनकी कविताएं हमारे पास रहेंगी और कहेंगी कि प्रमाणित करो कि मैं नहीं हूं? और हम प्रमाणित नहीं कर पायेंगे। हमारी सीमा में ही वे असीम हैं । रहेंगे। नमन।

मो.8250412914

स्मृति शेष : रमेश उपाध्याय

कथाकार रमेश उपाध्याय

नीरज सिंह

वैसे तो कोरोना महामारी के पहले दौर में भी एक से बढ़ कर एक महत्वपूर्ण ज़िंदगियां हमारे बीच से हमेशा के लिए बिछुड़ गयी थीं किंतु तब उस दौर में मची भयंकर तबाही और अफ़रातफ़री के लिए प्रकृति के प्रलयंकारी कोप और वैश्विक स्वास्थ्य व्यवस्था की असफलता को पूरी तरह ज़िम्मेदार मान लिया गया था। हमारे देश के संदर्भ में सत्ताधारी और विपक्षी दलों के आरोपों - प्रत्यारोपों के बीच यह कड़वी सच्चाई उजागर हो गयी थी कि न केवल पिछली सरकारों ने बल्कि वर्तमान सरकार ने भी देश में स्वास्थ्य सुविधाओं के विकास के एजेंडे को पूरी तरह नज़रअंदाज़ करने का काम किया है। अन्य क्षेत्रों की तरह शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे जन-कल्याणकारी कार्यों को भी निजी क्षेत्र के हवाले करने की हर संभव कोशिश की गयी। यह कितनी शर्मनाक बात थी कि तब हमारे देश में कोरोना की जांच के लिए महज़ एक प्रयोगशाला ही थी। विश्व स्वास्थ संगठन सहित तमाम विकसित देश भी एक तरह से कोरोना के आगे असहाय ही नज़र आये। बहरहाल, कोरोना महामारी के पहले दौर की समाप्ति के बाद भी हमारे देश की सरकार ने कोई सबक़ नहीं लिया। उल्टे वह अपनी पीठ थपथपाती नज़र आयी। कहा जाने लगा कि हमने अपने प्रयासों से कोरोना को नियंत्रित करने में सफलता प्राप्त की है। न केवल अपने लोगों की बल्कि विश्व के अन्य देशों की मदद करने का भी हमने काम किया है। अपने मुंह मियां मिठ्ठू बनने का यह सिलसिला तब तक चलता रहा जब तक कि कोरोना महामारी का दूसरा और पहले की तुलना में कई गुणा प्रलयंकारी दौर आरंभ नहीं हो गया। इस दूसरे दौर ने भी हमारे देश की सरकार को उसकी औक़ात बताते हुए उसके तमाम दावों की हक़ीक़त सामने ला दी। अस्पतालों के आगे प्राणरक्षा के लिए एक ऑक्सीजन सिलेंडर और एक वेंटीलेटर-बेड के लिए छटपटाते और गिड़गिड़ाते मरीज़ और उनके परिजनों की जहां क़तारें लगीं थीं, वहीं श्मशानों में ससम्मान अंतिम संस्कार की प्रतीक्षा में शवों का तांता लगा था। निश्चित रूप से यह एक वैश्विक महामारी का आतंककारी चेहरा तो था ही, हमारे देश की स्वास्थ्य व्यवस्था के असहाय और मनुष्यताविरोधी चेहरे का पर्दाफ़ाश भी था। जीवनदायिनी गंगा शव प्रवाहिनी गंगा बन गयी। गंगातट शवों की अंतिम आश्रयस्थली बन गये। निश्चित रूप से इस दौर में भी असंख्य ज़िंदगियां अपनों को रोता - बिलखता छोड़कर अनंत पथ की पथिक बन गयीं। लेकिन यह उनकी स्वाभाविक मृत्यु नहीं थी बल्कि वे एक अभूतपूर्व नरमेध का शिकार हुई थीं जो प्रत्यक्षतः तो प्राकृतिक कोप नज़र आ रहा था किंतु जिसमें हमारे देश की व्यवस्था की अत्यंत क्रूर और अमानवीय भूमिका भी शामिल थी। भारत के साहित्यिक और सांस्कृतिक जगत की जिन महत्त्वपूर्ण हस्तियों को इस दूसरे कोरोनाकाल ने हमसे छीन लिया, उनमें एक नाम हमारे समय के बहुचर्चित और महत्त्वपूर्ण कथाकार रमेश उपाध्याय का भी था।

उत्तर प्रदेश के एटा ज़िले के मूल निवासी रमेश उपाध्याय का अधिकांश जीवन अपने राज्य

से बाहर ही व्यतीत हुआ। एक आदर्शवादी शिक्षक पिता की संतान रमेश जी ने लगभग बीस वर्ष की उम्र में ही एक तरह से अपना गांव छोड़ दिया था और अजमेर चले गये थे, जहां के एक प्रेस में उन्होंने कंपोज़िटर का काम सीखना प्रारंभ किया। फिर वे वहां से प्रकाशित होने वाली हिंदी की प्रतिष्ठित पत्रिका, *लहर* से जुड़ गये। फिर वे जोधपुर चले गये और वहां के एक प्रेस में काम करने लगे। उसी दौरान वे वहां के साहित्यकारों के संपर्क में भी आये और कहानियां लिखने लगे। उनकी पहली कहानी, *लहर* पत्रिका में ही प्रकाशित हुई जिसका शीर्षक था - ' एक घर की डायरी ' । अंततः वे दिल्ली आ गये और फिर दिल्ली के ही होकर रह गये। शुरू में उन्होंने दिल्ली प्रेस की पत्रिका, *सरिता* में उप-संपादक की नौकरी की, फिर फ्रीलांस पत्रकारिता करने लगे। इस दौरान उन्होंने कहानी लेखन के साथ ही विभिन पत्रिकाओं में विज्ञान विषयक लेखन किया, समीक्षाएं लिखीं, अख़बारों में साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रमों की रिपोर्टिंग की, अनुवाद किये, आकाशवाणी के लिए नाटक लिखे, विविध भारती के लिए गीतों भरी कहानियां और उसके लोकप्रिय कार्यक्रम 'हवा महल ' के लिए हास्य-व्यंग्यपूर्ण नाटिकाएं लिखीं । फिर वे *साप्ताहिक हिंदुस्तान* के संपादकीय विभाग से भी जुड़े। इसी दौरान वे अपनी छूटी हुई पढ़ाई को भी पटरी पर लाने में सफल रहे। पहले उन्होंने स्नातक की डिग्री हासिल की, फिर राजस्थान के किसी विश्वविद्यालय से हिंदी में स्नातकोत्तर की परीक्षा भी पास की। कालांतर में पीएचडी करने के बाद वे दिल्ली के एक प्रतिष्ठित महाविद्यालय के हिंदी विभाग में व्याख्याता पद पर नियुक्त हो गये।

रमेश उपाध्याय अत्यंत सक्रिय-सचेत रचनाकार थे । उन्होंने काफ़ी संघर्षपूर्ण लेकिन काफ़ी सार्थक जीवन जिया। अपने लगभग आठ दशक के जीवन-काल में उन्होंने क़रीब छह दशक का साहित्यिक जीवन जिया। अपनी इस सुदीर्घ साहित्य-यात्रा में उन्होंने विपुल परिमाण में साहित्य सृजन किया। वैसे तो उनकी मुख्य पहचान एक श्रेष्ठ, सक्रिय, प्रतिबद्ध ,प्रयोगशील, विलक्षण कहानीकार के रूप में ही रही किंतु आश्चर्यजनक रूप से वे एक साथ कई क्षेत्रों में न केवल सक्रिय रहे बल्कि उनके विकास में हस्तक्षेपकारी भूमिका का निर्वाह भी किया। कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, आलोचना, संस्मरण, रिपोर्ताज और साक्षात्कार जैसी विधाओं में उन्होंने उल्लेखनीय कार्य किया है। परिमाण के लिहाज से देखा जाये तो उनके डेढ़ दर्जन कहानी-संग्रह, चार उपन्यास, तीन नाटक, कई नुक्कड़ नाटक और आलोचना सहित कई अन्य विधाओं की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से *जमी हुई झील, शेष इतिहास*, *नदी के साथ*, *चतुर्दिक*, *बदलाव से पहले*, *पैदल अंधेरे में*, *राष्ट्रीय राजमार्ग*, *किसी देश के किसी शहर में*, *कहां हो प्यारेमोहन*, *अर्थतंत्र तथा अन्य कहानियां*, *डाक्यूड्रामा तथा अन्य कहानियां* (सभी कहानीसंग्रह), *चक्रबद्ध*, *दंडद्वीप*, *स्वप्नजीवी*, *हरे फूल की खुशबू* (उपन्यास) आदि उनकी बहुचर्चित पुस्तकें हैं । इसके अतिरिक्त वे, *कम्युनिस्ट नैतिकता*, *जनवादी कहानी : पृष्ठभूमि से पुनर्विचार तक*, *बेहतर दुनिया की तलाश में*, *भूमंडलीय यथार्थवाद की पृष्ठभूमि*, *मेरा मुझमें कुछ नहीं*, *अपनी बात अपनों के साथ* आदि चर्चित पुस्तकों के लेखक भी हैं।

रमेश जी ने आठवें दशक में आनंद प्रकाश और राजकुमार शर्मा के साथ *युग-परिबोध* जैसी चर्चित साहित्यिक पत्रिका का संपादन किया। आगे चलकर वे उस पत्रिका से अलग हो गये। कुछ समय के बाद उन्होंने स्वतंत्र रूप से, *कथन* जैसी पत्रिका का प्रकाशन किया, जिसके संपादक वे और

राजकुमार शर्मा थे। *कथन* ने जल्दी ही हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में अपनी एक विशिष्ट पहचान क़ायम कर ली। शुरुआती बीस अंकों के बाद उन्होंने *कथन* का प्रकाशन स्थगित कर दिया था। बाद में एक लंबे अंतराल के बाद उन्होंने अपनी पुत्री संज्ञा उपाध्याय को संपादकीय सहयोगी के रूप में शामिल करते हुए *कथन* का पुनर्प्रकाशन प्रारंभ किया। कुछ दिनों के बाद *कथन* संज्ञा के संपादन में ही प्रकाशित होने लगी और अब भी प्रकाशित हो रही है। *कथन* के माध्यम से रमेश जी ने पहली बार विषय अथवा थीम केंद्रित पत्रकारिता की शुरुआत की थी। इस पत्रिका का वैसे तो कोई घोषित विशेषांक प्रकाशित नहीं हुआ लेकिन उसका प्रत्येक अंक ही किसी विषय विशेष पर केंद्रित विशेषांक हुआ करता था। उस अंक में प्रकाशित होने वाली संपूर्ण सामग्री अलग अलग विधाओं की होने के बावजूद उस विषय अथवा थीम विशेष पर ही केंद्रित होती थी, चाहे वह आवरण पृष्ठ हो, संपादकीय हो, कहानियां हों, कविताएं हों, परिसंवाद हो, साक्षात्कार हो, फ़िल्म चर्चा हो, नाटक हो अथवा समीक्षित पुस्तकें और पुस्तक चर्चा हो। *कथन* की इस विशेषता का आगे चलकर दूसरी कई पत्रिकाओं ने भी अनुकरण किया। यही नहीं, उन्होंने साजसज्जा की स्तरीयता, प्रकाशन-सामग्री की गुणवत्ता और सही समय पर पत्रिका प्रकाशित करने के मामले में भी बड़े बड़े संस्थानों से निकलने वाली पत्रिकाओं से प्रतिस्पर्द्धा की और उनसे कभी किसी मामले में पीछे नहीं रहे।

रमेश जी एक प्रतिबद्ध रचनाकार थे। अपनी सुदीर्घ रचनायात्रा में उन्होंने जिस कहानी विधा में लिखने की शुरुआत की, उसके साथ वे अंत तक जुड़े रहे। उनकी पहली कहानी, 'एक घर की डायरी' सन 60 के आसपास और आख़िरी कहानी, 'काठ में कोंपल' *कथन* के अप्रैल- जून 2019 अंक में प्रकाशित हुई थी। इस लंबी अवधि के दौरान हिंदी कहानी के कई आंदोलन अस्तित्व में आये। सन 60 के बाद का दशक तो एक तरह से आंदोलनों का दशक ही रहा। फिर सन 70 के बाद भी समांतर कहानी, जनवादी कहानी और सक्रिय कहानी जैसे कई आंदोलनों की अनुगूंज सुनायी पड़ी। कथाकार रमेश उपाध्याय का नाम उनके चाहे अनचाहे इन सभी आंदोलनों में शामिल रहा। इन सभी आंदोलनों के प्रतिनिधि कहानी-संकलनों में उनकी कहानियां शामिल की गयीं। अपने दूसरे कहानी संग्रह, *शेष इतिहास* के प्रकाशन और प्रगतिशील लेखकों के बांदा सम्मेलन में सहभागिता के बाद उन्होंने साहित्य की प्रगतिशील-जनवादी लेखन की धारा के साथ अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त की और तब से लगातार समाज के वंचित और उत्पीड़ित वर्गों की मुक्ति के निमित्त चलने वाले संघर्षों के पक्ष में अपनी रचनाओं के माध्यम से आवाज़ बुलंद करते रहे। अपनी कहानियों में उन्होंने बहुसंख्यक जनसमुदाय के जीवन से जुड़े प्रायः सभी छोटे बड़े सवालों को बहुत बारीक़ी से उठाया और यह दृढ़ विश्वास व्यक्त किया कि जनता के सभी वंचित और उत्पीड़ित वर्गों की समस्याओं के समाधान के लिए सत्ताधारी पूंजीवादी सामंती गंठजोड़ के विरुद्ध मज़दूर और किसान वर्गों के नेतृत्व में जनता की जनवादी क्रांति की सफलता ज़रूरी है।

रमेश उपाध्याय जैसा सोचते थे, वैसा समाज बनाने के लिए अपने समय में होने वाले सभी संघर्षों में सक्रिय सहभागिता का निर्वाह भी करते थे। वे दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे और वहां के जनवादी आंदोलनों के साथ सक्रिय रूप से जुड़े रहे थे। इसी तरह एक जनवादी लेखक के रूप में उन्होंने हिंदी-उर्दू के तमाम जनवादपसंद रचनाकारों को संगठित करने के अभियान में भी काफ़ी बढ़-चढ़ कर

हिस्सा लिया जिसके परिणामस्वरूप 1982 में जनवादी लेखक संघ की स्थापना हुई। वे स्थापनाकाल से ही जनवादी लेखक संघ के केंद्रीय नेतृत्व में शामिल रहे। उसके सांगठनिक विस्तार के लिए उन्होंने देश के विभिन्न हिस्सों की यात्राएं की तथा बहुत सारे सम्मेलनों और संगोष्ठियों में सक्रिय भागीदारी का निर्वाह किया।

रमेश उपाध्याय सही अर्थों में बहुआयामी व्यक्तित्वसंपन्न रचनाकार थे। वे नियमित लेखन करते थे और विभिन्न विषयों पर और विभिन्न विधाओं में लेखन करते थे। वे जितने अच्छे कथाकार थे, उतने ही अच्छे नाटककार भी। वे एक ही साथ विंदु भास्कर, उत्पल कुमार, सरला सुंदरम आदि कई नामों से लिखते थे। उनके जैसे रिपोर्ताज लिखने वाले भी हिंदी में ज़्यादा नहीं हैं। सभा-सम्मेलनों की उनके द्वारा की गयी तटस्थ किंतु सजीव रिपोर्टिंग को पढ़कर संबंधित आयोजन की छोटी बड़ी सभी बातों की भलीभांति जानकारी मिल जाती थी। वे अत्यंत कुशल साक्षात्कारकर्त्ता थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता जटिल से जटिल विषयों को सरलतम भाषा और शैली में पूरी तरह स्पष्ट कर देने की थी। यह विशेषता उनके संपूर्ण लेखन में दिखायी पड़ती है, चाहे वह उनका कथासाहित्य हो, आलोचनात्मक लेखन हो या फिर पत्रकारिता।

यह बहुत ही दुखद और दुर्भाग्यपूर्ण है कि कोरोना जैसी महामारी ने हमारे दौर के सर्वाधिक समर्थ और सक्रिय लेखकों में से एक रमेश जी को असमय ही उनके असंख्य चाहने वालों से छीन लिया। कहने के लिए तो वे अस्सी की उम्र के क़रीब पहुंच गये थे और अपने पीछे अपने असंख्य पाठकों, मित्रों और चाहनेवालों के साथ ही अत्यंत योग्य, तेजस्वी और समर्थ लोगों से भरापूरा परिवार छोड़ गये हैं, फिर भी अभी उनके जाने का समय नहीं था। एक बेहतर दुनिया के निर्माण का सपना अभी हर समय उनकी आंखों में विद्यमान रहता था। उनके आख़िरी समय की रचनाओं को पढ़ने से या फिर अप्रैल 2021 में अस्पताल में भर्ती कराये जाने के पूर्व फ़ेसबुक पर लिखी गयी उनकी टिप्पणियों को पढ़ने से वर्तमान शासन के जनविरोधी चरित्र को भलीभांति समझा जा सकता है। फ़ेसबुक पर उन्होंने अपनी आख़िरी पोस्ट 19 अप्रैल को लिखी थी। उस पोस्ट में उन्होंने लिखा था, 'हम तो कोरोना का टीका लगवाने के पक्ष में नहीं थे लेकिन दोस्तों ने कहा कि उससे कुछ नहीं होता। दो दिन बुख़ार आयेगा और अपने आप ही उतर जायेगा। लेकिन आज पंद्रह दिन हो गये। सुधाजी, हम संज्ञा और अंकित चारों बीमार पड़े हैं। बुख़ार बहुत ज़ोर का चढ़ता है। दवाइयों से कुछ घंटों के बाद उतर तो जाता है पर शरीर में बहुत दर्द और टूटन छोड़ जाता है।' पुनः उन्होंने आगे लिखा था, 'हमारे फ़ैमिली डॉक्टर ने कहा कि हम चारों कोरोना का टेस्ट करा लें। टेस्ट के लिए दिल्ली में इतनी मारामारी है कि कई दिन लग गये। रिपोर्ट चारों की पॉज़िटिव आयी और अस्पताल में भरती होने के लिए कहा गया है। लेकिन किसी अस्पताल में बेड ख़ाली नहीं। जायें तो कहां? करें तो क्या?' यह टिप्पणी कोरोना प्रबंधन में सरकारों की अक्षमता, लापरवाही और असफलता का सर्वाधिक प्रामाणिक दस्तावेज़ है। इस टिप्पणी के लिखे जाने के कुल पांच दिनों के बाद 24 अप्रैल की सुबह रमेश उपाध्याय जी हमेशा हमेशा के लिए हम से दूर चले गये।

आज भले ही रमेश जी की पार्थिव काया हमारे बीच नहीं है लेकिन वे अपनी रचनाओं, अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता, अपने सांगठनिक कौशल, अपनी पत्रकारिता और अपनी मित्रवत्सलता

के चलते हमेशा याद किये जाते रहेंगे।

अग्रज पीढ़ी के अपने प्रिय और मार्गदर्शक रचनाकार, वैचारिक संघर्षों के प्रतिबद्ध साथी आदरणीय रमेश उपाध्याय जी से जनवादी लेखक संघ के निर्माण और विकास की प्रक्रिया में वर्षों साथ काम करने के दौरान जो स्नेहपूर्ण आत्मीय व्यवहार विगत साढ़े चार दशकों में मुझे हासिल हुआ था, उसे नम आंखों से याद करते हुए मैं उन्हें आख़िरी सलाम करता हूं और अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

मो. 9431685639

स्मृति शेष : रमेश उपाध्याय

पिता की स्मृति : 'काम कठिन है जीवन थोड़ा'

प्रज्ञा रोहिणी

बचपन से अब तक जिस छवि को दिन, दोपहर, रात बार बार देखा, जो दिल-दिमाग में रची बसी है वह है सोचते लिखते पिता की छवि। इस छवि में कई बार कलम की जगह रेमिंग्टन का टाइपराइटर भी शामिल हो जाता है। सोचते विचारते समय उंगलियों के बीच सुलगी हुई सिगरेट बिना कश के यूं ही दबी रहती और उनकी फैली हथेली माथे पर टिकी होती। अपनी मेज़ पर सलीक़े से रखे सामान और काग़ज़ों के सामने कुर्सी पर बैठे पिता पैर पर पैर चढ़ाये खिड़की से बाहर एक पीली दीवार के पार देखते जाने क्या सोचते रहते। बीच में कश लेते और कुछ देर बाद कलम थाम लेते। चेहरा एकदम गंभीर, चौड़े माथे पर चिंतन की उभरी हुई रेखाएं। शब्द काग़ज़ पर उतरते रहते और सुबह की धुली-चमकी ऐशट्रे लगातार ख़त्म की जा चुकी सिगरेटों का बोझ संभाले राख के घेरे में स्याह होती जाती। बाद में न सिगरेट रही, न सिगार, पर कलम वही रही, जोश भी वही रहा और दृष्टि दीवार के पार का सच निकाल लाने को आतुर रही।

किसी भी बच्चे के लिए चाहे वह किसी भी उम्र का क्यों न हो अपने माता-पिता की विविध रंगों से सजी अनगिनत छवियों की स्मृतियों का कोष उसके साथ रहता है। उसकी हर बात में उनका जिक्र, अंदाज़ में उनकी अदा कहीं न कहीं शामिल रहती है। उस पर भी जब इर्दगिर्द रहने वाले परिवारों के पिता, पिता की परंपरागत भूमिका को चिपकाये जीवन बिता रहे हों तो हमेशा महसूस हुआ हम बहन-भाई विशिष्ट हैं। पिता जब दोस्त हों, मुक्त हंसी मजाक के, सुख दुख के साथी हों, अंधियारे पस्त दिनों में उजास की हंसती किरण हों, तब स्मृति के घर में छवियों का असीमित संसार धड़कता है। यही पिता जब असमय संसार से विदा हो जायें तब? ऐसी विदा जो कितने मलाल लिये अंतहीन रात्रि में परिवर्तित हो गयी हो। ऐसे में वही स्मृतियां जो कल तक जीवन में मुस्कान रचती थीं आज मन करता है कि सारी स्मृतियों का एक पक्का घर बना लिया जाये, पिता की एक एक स्मृति को उसमें दर्ज कर लिया जाये। कहीं कोई छोटा सा हिस्सा भी ऐसा न बाक़ी रहे जो समय के थपेड़ों में विस्मृत हो जाये। यह जानते हुए कि सभी स्मृतियां अब जीवित पिता को कभी लौटा नहीं पायेंगी फिर भी अधीर आत्म को संबल देने के लिए बार बार अब इसी घर में लौटना होगा।

जीवन में वास्तविक आज़ादी के लिए सतत संघर्षशील, आदर्श और आशावादिता, साहित्य के प्रति सच्चा समर्पण, लेखन में प्रतिबद्धता, सोच में तर्कसंगत-वैज्ञानिक नज़रिया, विचारधारा में अकंप मार्क्सवादी, समूचे व्यक्तित्व में ईमानदार, मेहनती, सतत संघर्षशील, सच को कहने में कभी न लड़खड़ाने वाली उनकी स्पष्टवादी निर्भीक आवाज़ के साथ लोगों के प्रति मददगार उदार रवैया, सबके बीच बंटने वाले उनके ठहाके और उन्मुक्त हंसी-- इनसे बने थे रमेश उपाध्याय। हरदम नये काम को लेकर एक बालोचित उत्साह उनमें रहता। काम के दौरान आकाश से गंभीर और धरती से दृढ़। काम पूरा होने तक निरंतर एक आलोचक की पैनी नज़र से अपने काम का मूल्यांकन करते। कई बार

मूल्यांकन के बाद भी उस पर फिर से काम करते। अपनी कृति को वर्षों बाद परखने पर ज़रूरी लगने वाले बिंदुओं को नये सिरे से सुधारते, खुश होते। काम होने की नहीं बेहतर तरीक़े से करने की एक अनोखी धुन उनमें जीवन भर रही। चाहे लेखन हो, संपादन, अनुवाद, लेखक संगठन की गतिविधियां, शिक्षक आंदोलन, विभिन्न साहित्यिक गतिविधियां या फिर अपने पारिवारिक दायित्व।

हम तीनों भाई-बहन उनके लिए उनकी रचनाएं ही रहे जिन्हें वे समय समय पर दिशानिर्देश देकर जीवन और प्रतिबद्धता के मायने सिखाते रहे। कभी बचपन में उन्हें मां से कहते सुना था,'सुधाजी, बच्चों की परिवरिश यों ही नहीं होती, उसके लिए सचेत प्रयास करने पड़ते हैं।' मेरी बिटिया के जन्म के बाद भी उन्होंने मुझसे यही बात कही थी। वे जब तक जिये उनके प्रयास जारी रहे। बच्चों के कामों पर गर्व करने के साथ निर्मम भी बने रहे। सही काम की प्रशंसा की और काम पसंद न आने पर तीखी आलोचना से कभी नहीं हिचके। विवाह के बाद जब भी घर जाना होता, पिताजी नयी पढ़ी जा रही अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास की किसी सामयिक महत्वपूर्ण किताब के अंश पढ़कर सुनाते कि किस तरह पूंजीवादी सत्ताएं अपना नया रूप बदल रही हैं। किस तरह वैश्विक तानाशाही आकार ले रही है और किस तरह इन सबके विरुद्ध लोग एकजुट हो रहे हैं और जनांदोलन भी जन्म ले रहे हैं। बेहतर का स्वप्न उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। उनकी कहानियां-उपन्यास इसके पुख़्ता प्रमाण रहे। *दंडद्वीप*, *स्वप्नजीवी*, *हरे फूल की खुशबू* जैसे उपन्यास हों या 'कामधेनु','देवीसिंह कौन', 'माटीमिली', 'लाला बुकसेलर','अर्थतंत्र','फासी फंतासी','त्रासदी माई फुट','अविज्ञापित','पागलों ने दुनिया बदल दी', 'काठ में कोंपल'जैसी उनकी महत्वपूर्ण कहानियां हों। अनेक विधाओं में लिखने वाले पिता की प्रिय विधा हमेशा कहानी रही। इस वर्ष की शुरुआत में उन्होंने मुझे ईमेल पर अपना नया उपन्यास पूरा करके भेजा कि मैं उसे आलोचनात्मक तरीक़े से पढ़ूं और ज़रूरी सुझाव दूं। उस उपन्यास को पढ़कर पिताजी को जब अपनी ओर से कुछ सुझाव दिये तो अगली मुलाक़ात में उन्होंने सभी को मानते हुए सुधार कर लिये थे। जाती सर्दियों की दोपहर में घर की बालकनी में पिताजी के संग मैं और संज्ञा बैठे थे और उन्होंने हमें सुधारे गये अंश पढ़कर सुनाये थे।

बेहतर के सपने के लिए वे जीवन भर कलम के सच्चे मज़दूर और मुस्तैद सिपाही रहे। विविध विधाओं में लिखा। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, संस्मरण आदि के साथ अनुवाद भी किये। जनवादी कहानी और भूमंडलीय यथार्थवाद पर उनकी आलोचनात्मक कृतियां आज ही नहीं, बल्कि आने वाले वर्षों में साहित्य-समाजशास्त्र के अध्येताओं के लिए उपयोगी रहेंगी। उनकी कहानियां अपने अंदाज़ के लिए भीड़ से अलग पहचानी जायेंगी। सहज-साधारण जीवन में भी एक विशिष्टता उनकी पूरी शख़्सियत में रही। एकजैसेपन, ऊब या थकान से बचने के लिए वे अपने काम की दिशा बदल लेते थे। उन्होंने कभी नहीं माना कि कम लिखना किसी लेखक के लिए बहुत अच्छा है। उन्होंने गुणात्मक रूप से बेहतर लिखने का संकल्प लिया जिसे आजीवन निभाया। लगभग साठ सक्रिय वर्ष वे निरंतर सृजनरत रहे। हमेशा यह माना कि जो समय के अनुरूप ज़रूरी है उस पर निरंतर पढ़ना है और समय में हस्तक्षेप करते हुए रचनाशील रहना है। उनके पास अनेक काम थे, अनेक योजनाएं। यही नहीं, हमारी कितनी योजनाओं में भी वे सहर्ष शामिल हो जाया करते। *अपनों के साथ अपनों की बात*, किताब ऐसे ही तैयार हुई जिसमें एक रचनाकार पिता से मेरी, संज्ञा और राकेश की लंबी बातचीत शामिल है। किसी के लिए भी उनकी कर्मठ और सुविचारित जीवन शैली उत्प्रेरक का

काम कर सकती थी। इसी गुण ने मुझे निखारा और यह गुण उनकी वास्तविक विरासत के रूप में जीवनपर्यंत मेरे साथ रहेगा। काम से घिरे हुए वे हंसते हुए अक्सर कहा करते थे, 'काम कठिन है जीवन थोड़ा।' एक बार *कथन* का काम संभालते हुए अचानक उनकी कुर्सी खिसकी और कदम हमारी ओर बढ़े। हम सबने उनकी तरफ देखा तो बोले, ' कथन को उल्टा करके पढ़ो', हमने कहा 'नथक'। खुशी की चमक से तरल अपनी आंखों को उन्होंने हम पर स्थिर किया और मुस्कुराकर बोले, 'न थक यानी थकना नहीं है।' यही उनके जीवन का मूलमंत्र रहा।

अनेक भाषाओं के जानकार पिताजी कहानियों के साथ नाटक भी लिखा करते थे। वे हमें अपना लिखा सुनाया करते थे। बड़ी मौसी की बेटी हमारी अर्चना दीदी के लिए उन्होंने, *तमाशा* नाटक लिखा था, जिसमें मैंने भी पहली दफ़ा एक छोटी भूमिका निभायी थी। फिर पांचवीं कक्षा में जब मैंने रूसी लोककथा 'लालची काज़ी' पर नाटक खेला और उसमें नकली दाढ़ी लगाकर काज़ी की भूमिका निभायी तब ख़ूब प्रशंसा पायी। हम दोनों बहनों के आग्रह पर पिताजी ने गीतों से भरा नाटक, *बच्चों की अदालत* लिखा। नाटक खेला और सराहा गया। नाटक ने मुझे एक नयी बॉडी लैंग्वेज दी। गति, आवाज़ सबके बंधन खुल गये। वहां सूत्रधार बनकर एंट्री भी लेनी थी, कोरस में गाना भी था, अभिनय भी करना था और ज़रूरत मुताबिक़ नाचना भी था। स्कूल के छोटे से स्टेज पर कई नाटक खेले। बाद में मौसाजी-मौसी के 'निशांत नाट्य मंच' की स्थापना हुई तो उसमें भी शामिल हुई। दिल्ली की दो नुक्कड़ नाटक संस्थाओं -- 'निशांत नाट्य मंच' और 'जन नाट्य मंच' -- के लिए उन्होंने नाटक लिखे। 'निशांत' का पहला नाटक, *गिरगिट* था जो देश भर में खेला गया। पिताजी ने एंटन चेख़व की कहानी का 'गिरगिट' नाम से नाट्य रूपांतर किया। 'जनम' के लिए उन्होंने *भारत भाग्य विधाता* नाटक लिखा जिसके गीत सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के लिखे हुए थे। वह दौर जनवादी नाटक आंदोलन का दौर था। एक राजनीतिक विकल्प के सांस्कृतिक माध्यम के रूप में यह ज़मीनी आंदोलन करवट ले रहा था। पिताजी हमें कभी 'जन नाट्य मंच' के नाटक दिखाने ले जाते तो कभी हम 'निशांत' के नाटक देखने जाते। एक बार 'नया थियेटर' के हबीब तनवीर का नाटक, *चरणदास चोर* और न जाने कितने नाटक। नाटकों के बाद जनगीत गाये जाते। मैंने भी तैयारी करके रामकुमार कृषक का लिखा 'हम मज़दूर-किसान' गीत भाई-बहनों संग शंकरलाल हॉल में गाया। बाद में कड़ी रिहर्सल करके प्रेमचंद की कहानी के पिताजी द्वारा किये और निशांत द्वारा खेले नाट्यरूपांतर 'ब्रह्म का स्वांग' में अभिनय भी किया। पिताजी जनगीतों की किताबें लाते। पिताजी के साथ कई सभाओं में शामिल होकर या गीतों के कैसेट्स की मदद से धुन हम पहले ही पकड़ चुके होते। हम भाई-बहन मिलकर ख़ूब जनवादी गीत गाते। घर में एक बार पिताजी से मिलने बिहार से शांति सुमन जी और नचिकेता जी आये। पिताजी ने उनके गीत रिकॉर्ड किये, हमें वे गीत आज भी कंठस्थ हैं। इसी तरह शैलेंद्र, शलभ श्रीराम सिंह, बल्ली सिंह चीमा, रमेश रंजक और हमारे जीजाजी ब्रजमोहन शर्मा आदि के गीत ग़ज़ल सुनकर याद करके हम ख़ूब गाते। नाटक, गीत, नृत्य जैसी कलाओं के क़रीब आते, कार्यक्रमों का हिस्सा बनते मेरा बचपन मुझे बेहद प्यारा और अनूठा लगता। जनगीतों के साथ अनेक कविता पोस्टर पिताजी हमें भेंट करते। वे हमारे कमरे की दीवारों पर चिपके रहते और मैं उन कविताओं को याद कर लेती। जाने-अनजाने बहुत से कवि अपने हो रहे थे और जब वे घर आते तो अपनी कविता हमसे सुनकर वे भी बच्चों जैसे आनंद से भर जाते। इन तमाम अनुभवों में सबसे अच्छी बात यह थी कि किसी ने मुझे जबरन इन सबमें नहीं

धकेला। पिताजी ने एक ऐसा माहौल रचा जिसने मुझे अपनी ओर खींचा जितने वेग से कभी स्कूल की पढ़ाई भी न खींच पायी।

बचपन में उत्सव के बिना भी अनेक मौक़ों पर उत्सवधर्मिता बनी रहती थी। सामान्य सा कोई दिन अचानक करवट बदलकर ख़ास बन जाता था। बिना पकवान, बिना ख़रीदारी, बिना नयी धज के उत्सव जैसा शोर शराबा और उल्लास रहता। मैं नौ बरस की हो गयी थी जब तक मोहल्ले में बिजली का जाना और हमारा एक उन्मुक्त चीख के साथ तीर की तरह गली में पहुंचकर खेलना-कूदना, पिताजी का हमें राणा प्रताप बाग़ वाले घर के निकट बड़े पार्क ले जाना और हमारे संग खेलना, कनॉट प्लेस स्थित पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस से प्रकाशित रूसी कहानियों की किताबें लाना, मां का हमें स्कूल से लौटते हुए अचानक गोल चक्कर पर मिल जाना और हमारी फ़रमाइशें पूरी करना, पिताजी का हमारे दिये किसी विषय पर तुरंत कहानी गढ़कर सुनाना, तेज़ बारिश में गली में नाला भर जाना और हमारा नाव तैराना, मां के संग शनिवार कॉफ़ी हाउस जाना, वहां पिताजी का मिलना और हम सबका जंतर-मंतर घूमना, कॉफ़ी हाउस में दावत उड़ाना, कनॉट प्लेस में महावीर के छोले-भठूरे या मद्रास होटल में दक्षिण भारतीय खाना और रात को फ़व्वारे वाले सतरंगे पार्क में देर तक मस्ती करना किसी उत्सव से कम थे क्या। मां के स्कूल और पिताजी के कॉलेज की शानदार पिकनिकें, मौसियों और बुआजी के पत्रों का आना, क्रिकेट मैच देखना सब उत्सव ही थे।

नौ बरस की होते होते उत्सव की मेरी सूची में एक और इज़ाफ़ा हुआ। घर में महीनों से चल रही तैयारी साकार हुई और पिताजी और राजकुमार अंकल के संपादन में *कथन* पत्रिका अपना रूप लेकर उस कोठी के बाहर गली में क़दम रख चुकी थी जिसके दो कमरों के हम किरायेदार थे। अनेक बड़े बंडलों में बंधी प्रतियां द्वार पर खड़ी थीं और पिताजी के संग हम तीनों अपनी पूरी लगन के साथ सुतली में बंधे उन बंडलों को अपने छोटे छोटे हाथों से उठाकर अंग्रेज़ी के एल आकार का पूरा आंगन पार करते हुए पिताजी के कमरे में लाइन से लगाते जा रहे थे। छोटा भाई अंकित पच्चीस-पचास प्रतियों के बंडल उठा लेता। उन दिनों पिताजी का कमरा ऑफ़िस में तब्दील हो गया था। घर का एक कमरा तो पहले भी पिताजी और उनके रचनाकार मित्रों का था अब उसमें *कथन* का ऑफ़िस भी खुल गया। दूसरे कमरे में हम तीनों मां के साथ रहते थे। *कथन* के लिए रचनाओं की फ़ाइलें तैयार करना, रचनाकारों से मुलाक़ातें, संपादकों-रचनाकारों की बैठकें, विषय केंद्रित परिचर्चा के लिए साक्षात्कार आदि के साथ घंटों पिताजी का संपादन में व्यस्त रहना दिनचर्या का हिस्सा हो गये थे। टाइपराइटर पर यूं भी पिताजी की उंगलियां किसी प्यानो वादक की तरह फिरती थीं। देर रात और दिन के समय भी लगातार वे एक साधक की तरह काम करते। मुझे याद है, लिखने के क्रम में वे अपनी कुर्सी पर एक पैर पर दूसरा पैर चढ़ाये कुछ टाइप करते-सोचते-सिगरेट का कश लगाते। उनके साथ काम में मैं भी शामिल हुई। जब पिताजी अपना किया कोई अनुवाद, कोई कहानी या नाटक फ़ाइनल टाइप करने बैठते तो अक्सर उनके संग कुर्सी लगाकर मैं भी बैठती और उनकी सुंदर लिखाई वाली कॉपी से लगातार उनका लिखा पढ़ती जिसे सुनकर वे टाइप करते जाते। कथन निकलने पर रचनाकारों की हस्तलिखित रचनाओं को संपादित करके भी वे स्वयं टाइप किया करते। मैं सुधारी गयी उस हस्तलिखित कॉपी को भी पढ़ती थी। शुरू में सरपट पढ़ने और फिर रुककर पढ़ने के बीच उनके दिये निर्देशों ने न जाने कब गति को सामान्य कर दिया। होता यह था पिताजी जब तक टाइप करते मैं आगे के वाक्य को मन में पढ़ लेती ताकि उच्चारण

में कोई अशुद्धि न हो। अशुद्ध बोलना-लिखना पिताजी को कतई गवारा नहीं था। उनका टाइप करना, मेरा अगले वाक्य को पढ़ने के साथ पिताजी के वाक्य ख़त्म होने पर ध्यान रखना सब साथ चलता। रचना में कोमा, फ़ुलस्टॉप, नया पैरा जैसे निर्देश भी पिताजी को बताने होते। अधिकांश रचनाएं लंबी होती थीं। वर्षों इस अभ्यास से हिंदी की कोई रचना, कोई कॉपी कभी भी, कहीं भी पढ़ने को मिलती मुझे शाबाशी ही मिला करती। पिताजी के काम की कितनी चीज़ें हमारे खेलों का हिस्सा बन गयी थीं। टाइपराइटर के वे लाल-काले रिबन जो अपनी स्याही छोड़ चुकते हमारे लिए उपयोगी हो जाते। बालों के रिबन से लेकर उनके अनेक प्रयोग थे। इसी तरह अपने लिखे से असंतुष्ट होने के बाद फाड़ दिये गये उनके गुलाबी-आसमानी-सफ़ेद काग़ज़ हमारे लिए बैंक-बैंक खेलने के नोट बन जाते, उनके टाइपराइटर के लैदर के कवर को ज़मीन पर औंधा करके मैंने ख़ूब नाव चलायी। काम के दौरान पता चलता, उनकी सिगरेट ख़त्म हुई तो दौड़कर पनवाड़ी से रेड एंड वाइट, विल्स, चार्ल्स जैसे उनकी पसंद के ब्रांड भी झटपट ले आती। उनके आसमानी जाली वाले डस्टबिन में फेंके सिगरेट के डिब्बों से सिल्वर पन्नी निकालना, डिज़ाइन बनाकर कॉपी सजाना या पंचिंग मशीन से पंच करके उन बिंदियों को कान पर चिपका लेना-बेहद ज़रूरी काम थे।

कथन पत्रिका के उन दिनों पिता की मौजूदगी और ग़ैरहाज़िरी में अनेक लोग घर आते। जनवादी लेखक संघ की गतिविधियों में भी पिताजी उस समय व्यस्त थे और उनके पाठक-लेखक मित्र भी घर आते रहते थे। हरदम एक मेला सा लगा रहता। कभी कभी ख़तरनाक लगने वाले झगड़ों की आवाज़ें, तो कभी उन पर मिट्टी डालते कहकहे और ठहाके। बच्चे के लिए घर पूरी दुनिया होता है, पर इसी दुनिया का दायरा लगातार बढ़ता जाये तो एक दुनिया में अनेक दुनियाएं शामिल हो जाती हैं। एक नदी अनेक द्वीपों संग साकार हो उठती है। चित्रकार पाली अंकल, रमेश बत्रा अंकल,आनंद प्रकाश अंकल, रमेश रंजक अंकल, नंद भारद्वाज अंकल (जो मुझे हमेशा बल्लू कॉमरेड कहते), जानकी अंकल, स्वयं प्रकाश अंकल, यादव ताऊजी, जैसवाल ताऊजी, मनमोहिनी ताईजी, मनजीत कौर आंटी-जैसे अनेक अंकल और आंटियों को पिता ने हमारी दुनिया में जोड़ा। कई लेखकों के परिवारों से भी हम जुड़ गये। लिखते-पढ़ते मां सबके लिए चाय-नाश्ता-खाने का इंतज़ाम करतीं। साथ ही घर का पूरा ध्यान रखतीं। कई बार अशांत होते हुए भी शांति से अपनी भूमिका निभाते वे नेपथ्य से मंच को आकार देतीं।

वह अस्सी के दशक का दौर था। राजनीतिक परिदृश्य अनेक हलचलों से भरा था। राष्ट्रीय राजनीति से लेकर अनेक जनांदोलन, जनपक्षधर राजनीति, जनसंघर्ष का चरम दौर था। लेखक, पत्रकार, रंगकर्मी, संस्कृतिकर्मी सभी एक बेहतर बदलाव के लिए संगठित होकर जनवादी शक्तियों को मज़बूत कर रहे थे। इसी दौरान पिताजी दिल्ली के कर्मपुरा की बड़ी मज़दूर बस्ती में आयोजित सभा में मुझे लेकर गये। वहां कम्युनिस्ट नेता बी.टी. रणदिवे का ओजस्वी भाषण और 'जन नाट्य मंच' का नाटक प्रदर्शित हुआ। गीत गाये गये। मैं बहुत रोमांचित थी। बस अगले दिन अपने बड़े पार्क में रामलीला के लिए तैयार मंच पर बी.टी.आर बनकर भाषण देने लगी। मंच पर कई बच्चे खेल रहे थे अचानक एक ज़ोरदार धक्का मुझे लगा और मैं मंच से नीचे। मंच से गिरकर पार्क में नुकीले सरिये की रेलिंग में मेरी गर्दन अटक गयी। लगभग बेहोश और ख़ून से लथपथ थी। सामने टाइपिंग सिखाने वाले एक अंकल ने मुझे रेलिंग के सरियों से निकाला और गोद मे लेकर भागे। उनकी कमीज़ ख़ून से तरबतर

थी। पिताजी उस समय घर पर नहीं थे और मम्मी का रो-रोकर बुरा हाल था।। प्रताप बाग़ के दो डॉक्टर्स और एक नर्सिंग होम ने मेरा केस लेने से हाथ खड़े कर दिये। अंकल की गोद में मैं देख रही कितनी भीड़ जमा हो गयी थी। भाई-बहन को पड़ोस में छोड़कर मम्मी उन अंकल, मकानमालकिन और मोहल्ले के नामी बदमाश बब्बू (जो हमारे लिए कभी बदमाश नहीं था) के संग मुझे हिंदूराव अस्पताल ले गयीं। रास्ते भर रोती मम्मी लोगों से पूछ रही थीं 'मेरी बल्लू बच जायेगी न?' ख़ैर, हॉस्पिटल पहुंचकर टांके लगाये गये। मैं घर आयी। उस दिन पिताजी कनॉट प्लेस की मशहूर दुकान वेंगर्स से हमारे लिए एक्लेयर्स लेकर रोज़ की अपेक्षा जल्दी घर आ गये थे। मुझे वहां के एक्लेयर्स और क्रीम रोल बेहद पसंद थे। मेरे टांके टेढ़े-मेढ़े लगे थे। हमारे पारिवारिक डॉक्टर कुमार से पिताजी ने बातचीत की और उसी रात डॉ. कुमार और उनके असिस्टेंट चन्नी अंकल ने टांके काटकर नये टांके लगाये। बेहद तकलीफ भरी रात थी। मैं मरते से बाल-बाल बची थी। आधा इंच घाव और होता तो जीवित नहीं रहती। वे बचपन के कष्टप्रद दिन थे। बोलना मना था, खाने को कुछ नहीं मिलता था, केवल तरल पदार्थ ही मिलते। सर से गले तक कसकर पट्टी बंधी रहती। दर्द भयानक होता था, कई बार लगता था अब कभी बोल नहीं पाऊंगी । सारे कष्टों में एक ही राहत थी कि पिताजी मुझे नयी कहानियां पढ़कर सुनाते और मुझसे मिलने जो भी आता मैं उसे अपनी पसंद की कहानी पढ़कर सुनाने को कहती। बाद में मम्मी ने बताया, बहुत हिम्मती मेरे पिता, उसी रात घटना वाली जगह को देखने गये और वहां बिखरे खून के धब्बों पर मिट्टी डालकर आये थे। यही नहीं, घर आकर फूट-फूट कर रोये। जीवन में यह पहली बार था, जब मुझे पता चला कि पिता भी रो सकते हैं, मेरे अप्रतिम योद्धा और रुदन? मेरा घोर आश्चर्य कब पिता के दुख से जुड़ा, कब उनका दुख मेरी आंखों से झरा, इसका वक़्त मैंने न देखा था पर वह वक़्त अभी तक मेरे जीवन में ठिठका खड़ा है।

पिता जीवन का सबसे ठोस तर्क रहे और मां सबसे तरल नदी। एक आधुनिकता के छोर से परंपरा को देखता, तो दूसरा परंपरा से आधुनिकता तक आता। पिता ने जीवन में सदा अनुशासित रहने की सीख दी। उनकी पूरी दिनचर्या, उनकी पढ़ने की व्यवस्थित मेज़, उनकी साफ़ सुथरी अलमारी, उनका नियमित घंटों का अध्ययन-लेखन, अनुशासित जीवन के दृढ़ पैमाने थे। जितनी मेहनत वे अपनी रचनाओं पर करते उतने ही जतन से उन्होंने मुझे चाय बनाना और आटा गूंधना सिखाया। वे कहा करते थे कि 'गांव-देहात में अच्छा आटा गूंधने की निशानी यह बतायी जाती है कि कौआ चोंच मारे तो उसकी चोंच आटे में फंस जाये।' मुझे याद है पीतल की परात में पहली बार आटा गूंधकर उनके सामने ले गयी तो उन्होंने शाबाशी देकर कहा, 'आटा गूंधने की क्रिया तब और अच्छी होगी यदि परात में सब तरफ़ आटा फैला न दिखे। आटे को हर बार गूंधने के क्रम में उसे ऐसे समो लो कि परात पर चिपका आटा आटे में मिल जाये और परात साफ़ सुथरी दिखे।' अनेक देसी कहावतों-किस्सों का जीवित संसार थे पिता। ग्रामीण परिवेश में जन्म और अनेक शहरों में आजीविका के लिए रहने ने उनके अनुभव जगत और यथार्थबोध का विस्तार किया। बच्चों, ख़ासकर लड़कियों को घरेलू काम घरों में माएं सिखाया करती हैं पर हम दोनों बहनों को हमारे पिता ने कई काम सिखाये। मां सब ज़िम्मेदारियों में भी हमारे लिए कसे तारों को ढील देकर झूला बना देतीं जिस पर हम तीनों ख़ूब झूले। जिस तरह का आदर्श दोनों ने अपनी कार्यशैली द्वारा हमारे समक्ष रखा वह मेहनत के तारों और पसीने के मोतियों से बना था जिसे आदर्शों के बिछावन पर सजाया गया था। दोनों ने जीवन में अपने मूल्यों, सिद्धांतों से

कभी कोई समझौता नहीं किया। मुझे आज भी याद है मेरे विवाह के बाद वे अक्सर पूछा करते, 'क्या लिख-पढ़ रही है आजकल?' उस समय मैं पढ़ तो रही थी पर लेखन नहीं हो पाता था। शादी से पहले कविताएं, कभी-कभार लेख या समीक्षा लिखा करती थी। समय-सूत्रधार पत्रिका में नौकरी के दौरान भी लेखन किया। शादी के बाद एक बार मैंने कहा, 'परिवार और कॉलेज की ज़िम्मेदारियों में लिखना नहीं हो पाता'। तब उन्होंने कहा था, 'बेटा! ये ज़िम्मेदारियां जीवन भर रहेंगी। हम सभी के पास चौबीस घंटे का ही समय है। इन्हीं घंटों में तुम्हें अपनी ज़िम्मेदारियां भी निभानी हैं और रचनात्मक-समाजोपयोगी काम भी करने हैं। यह तुम्हें देखना है कि जीवन को तुम कैसे व्यवस्थित करती हो क्योंकि घर-परिवार के काम तो सदा बने रहेंगे।' यह बात हथौड़े की तरह दिमाग़ पर चोट करती रही। हमेशा एक दबाव बना रहा जब भी घर जाऊं कुछ नया पढ़कर या लिखकर जाऊं जिस पर बात हो सके। मुझे हमेशा याद आता रहा वह लड़का जो पिताविहीन था पर जीवन संघर्षों में साहस से जीता रहा। हर तकलीफ़ से लड़ता रहा। अपनी मां और भाई की ज़िम्मेदारी से कभी विमुख नहीं हुआ। मेहनत-मज़दूरी को कभी हेय दृष्टि से नहीं देखा। दिल्ली की झुग्गी बस्ती में रहकर प्रेस में नौकरी की। कासगंज की प्रेस में कंपोज़ीटर की नौकरी में मज़दूर यूनियन के तले शोषण के विरोध में आवाज उठायी और नौकरी से हाथ धोना पड़ा, पर हिम्मत नहीं हारी। कासगंज, अजमेर, जोधपुर, जयपुर अनेक शहरों की प्रेस में काम किया और साथ-साथ अपनी पढ़ाई-लिखाई भी की। अपने काम पर भरोसा और अपनी योग्यता को निखारना-संवारना जिसका ध्येय रहा। जिसने नौकरी को पूरी ईमानदारी से निभाते हुए भी अनेक रचनात्मक, संगठनात्मक काम किये। दोस्तियां और सामाजिक दायित्व निभाये और परिवार को भी कभी उपेक्षित नहीं किया। यह सब उन्होंने दिन के उन्हीं चौबीस घंटों को साधकर किया। यही कारण रहा कि सन् दो हज़ार से लेखन-पठन मेरी रोज़मर्रा की ज़िंदगी का हिस्सा बनता गया। नाट्यालोचना-समीक्षात्मक लेखों के बाद कथा साहित्य में उतरने की मूल प्रेरणा दिन के चौबीस घंटों को व्यवस्थित करना रही। साथ ही 'काम कठिन है जीवन थोड़ा' की गूंज भी हमेशा गतिशील बनाये रही।

आज पूरे दो महीने हो गये पिता को हमारे बीच से गये हुए और मैं उनकी स्मृतियों को जीती वह काम कर रही हूं जो शायद कभी पूरा नहीं हो सकेगा। उसे समेटने की कोशिश कर रही हूं जो मेरे लगभग पचास वर्ष की उम्र के जीवन में हर जगह बिखरा है। उनके शब्दों-ठहाकों की गूंज, बचपन के अनगिनत खेलों के साथी, उनकी ठोस आवाज़, तेज़कदम चाल, उनके गुस्से के तेवर, उनकी ज़ुबान से पुकारा गया मेरा नाम, फ़ोन पर कही बातें, लंबी बैठकी में होने वाले संवाद, इनबॉक्स में ढेर सारे मेरे-उनके संदेश, हमारा मित्रवत ठहाके लगाना, उनसे छेड़छाड़ करना, विवाह से पूर्व और उसके बाद उनके संग यात्राएं करना, घर में उनकी कहानियों के पाठ और हमारी आलोचनाएं, उनकी गोद में लेटने पर सिर पर स्नेह से फिरता उनका हाथ। उनका मुझे-'बड्डे राजा' कहना। राकेश के साथ उनकी चर्चाएं, कथा-कहानी के मंच की शंकर सर और हरियश राय जी के साथ की गोष्ठियों में हमारा साथ और उन पर उपगोष्ठियां, तान्या के साथ उसके जीवन आदि पर मुक्त मन से बातचीत। हमें भले ही उनकी ख़ूब डांट पड़ी हो, पर तान्या को तो उनके शब्द फूल सरीखे सहलाते ही रहे। उनकी कही अनेक कहावतें, यारों की यारियों के क़िस्से, घर में ज़रूरी निर्णय पर पहुंचने के लिए उनका हम पांच लोगों की पंचायत बिठाना और बाद में राकेश और तान्या के परिवार में जुड़ने पर सप्तऋषि मंडल की बैठकें। न जाने कितनी बातें हैं और बातों से जुड़े अनेक प्रसंग।

वे दूसरों और अपने बच्चों के निर्णयों को सम्मान देना जानते थे। मेरे जीवन के कुछ निर्णयों को मिली उनकी सहमति ने मुझे आत्मविश्वासी और दृढ़ बनाया। मेरे भरोसे की नींव को और मज़बूत किया कि एक साथ रहते हुए भी यदि हमारी व्यक्तिगत रुचियां हैं तो उनकी भी क़द्र होनी चाहिए। चाहे दसवीं कक्षा में प्रज्ञा के आगे से मेरा सोच-समझकर उपाध्याय हटाना हो या कॉलेज में दाख़िले के बाद राजनीति विज्ञान विषय को छोड़कर हिंदी पढ़ना या फिर जाति के बंधनों और आर्थिक खाई से परे राकेश को जीवनसाथी चुनना। पिताजी ने हर बार मेरे सभी निर्णयों में अविलंब सहमति दी। राकेश ने जब उनसे मेरा हाथ मांगा तब एक क्षण में ख़ुशी ज़ाहिर करते हुए उन्होंने कहा था, 'मेरी पूरी सहमति है, पर तुम्हें प्रज्ञा की मां से भी बात करनी चाहिए।' मां का सम्मान उन्होंने हमेशा किया। मैंने अपने पूरे जीवन में उनके मुंह से हमेशा मां के लिए 'सुधाजी' संबोधन ही सुना। मां की सभी बड़ी-छोटी बहनों को भी वे नाम के आगे 'जी' लगाकर ही पुकारा करते थे। जीवन में ऐसे अनेक तथाकथित प्रगतिशीलों को देखा है जो रचनाओं और मंचों से स्वयं को जनतांत्रिक घोषित करते हैं, पर उनके घर की हवा जनतांत्रिक नहीं होती। यही क्यों, सोवियत रूस के विघटन के बाद क्रांति के प्रति आस्था का झूठा मुलम्मा जब कई लोगों ने उतार फेंका, पिताजी अपनी आस्था और विचार के प्रति दृढ़ रहे। पिताजी सच्चे अर्थ में जनतांत्रिक रहे और अपने परिवार को भी उन्होंने इसी रूप में सींचा। जाति, भाषा, लिंग, धन, धर्म, रंग, संप्रदाय के आधार पर समाज में व्याप्त हर ग़ैरबराबरी को उन्होंने नफ़रत से देखा। जीवन में जहां भी रहे ग़ैरबराबरी के ख़िलाफ़ लड़े। हम इसी मूल्यधर्मी दृष्टि के साथ पले-बढ़े जो कथनी और करनी के अद्वैत से बनी थी। मेरा जीवन और लेखन इन्हीं जनवादी मूल्यों और प्रतिबद्धता से सृजित हुआ। इन मूल्यों को जीवन मूल्य बनाने वाले पिता आज अनुपस्थिति होकर भी सबसे अधिक उपस्थित हैं।

यों तो सभी को अपने पिता बहुत प्रिय होते हैं और पिताविहीन जीवन के अवसाद भी बाज़ दफ़ा ज़िंदगियों पर भारी रहा करते हैं, पर पिता ने जो आलोचनात्मक विवेक हमें सौंपा, उस दृष्टि से देखूं तो एक गुणात्मक अंतर भी दिखायी देता है। बहुत से लेखकों को जीवन में क़रीब से देखा है। पिता से कइयों के क़िस्से भी सुने हैं। लेखक पिता के जीवन से अनुपस्थित होने से पूर्व ही कितने बच्चों ने उनके काम को सम्मान नहीं दिया। उन लेखकों के आंसू मैंने भी देखे-पढ़े हैं। कितनों ने काम को सम्मान ज़रूर दिया पर पिता के काम को आगे बढ़ाने वाला परिवार में कोई नहीं रहा। कितने लेखकों को जीते-जी यही चिंता रही कि उनके जाने के बाद उनकी किताबें किसी कबाड़ी को बेच दी जायेंगी। मुझे लगता है हमारे पिता को जीवन में ऐसा कोई दुख नहीं रहा। भले ही हम भाई-बहनों ने उनके लिए बहुत कुछ नहीं किया हो, पर यह संतोष जीवन भर उनके साथ रहा कि उनकी और मां की परवरिश ने हमें अपने माता-पिता के कामों से प्यार करना सिखाया। उनके काम का सम्मान और उसे आगे बढ़ाने का जोश हमारे भीतर स्वतः चला आया। जो अब स्वतः है उसके पीछे पिता और मां का सचेत प्रयास, कुछ निर्मम दृष्टि और बहुत सारा प्यार शामिल है। साहित्य और कला के अनुराग से परिवार को उन्होंने ऐसे सींचा है कि ये हमारे लिए जीवन का पर्याय हैं...रहेंगे। पूरे परिवार को मिला यह संस्कार अपवाद सरीखा ही है। पिता को हमेशा अपने परिवार पर गर्व रहा।

तेरह अप्रैल दो हज़ार इक्कीस की शाम हम सबके जीवन की अंतिम सुंदर शाम थी। हम सातों लोग एक साथ थे। तब कहां पता था, अब शामें होंगी, पर पिताजी साथ न होंगे। हम सबने साथ

चाय पी। कितनी गप्पें मारीं। संज्ञा पकोड़े बना रही थी। डैडी मुझसे बहुत आग्रह कर रहे थे पकोड़े और खा। संज्ञा और बिटिया रसोई में साथ थे। अंकित भी आदत से परे ख़ूब हंस रहा था। मैं हमेशा की तरह सोफ़े से उकता कर ज़मीन पर बैठ गयी थी। पिताजी सामने की सेटी पर अपनी पसंदीदा जगह पर और मम्मी भी उसी सेटी के कोने पर बैठी थीं। मम्मी कितनी सुंदर लग रही थीं और डैडी हमेशा की तरह साफ़-सुथरे अच्छे कपड़ों में गरिमावान और आकर्षक। घर में ख़ूब शोर था, उत्साह था मानो हर क्षण और हर चीज़ चहक रही थी। सबके चेहरे खिले थे हालांकि संज्ञा कुछ दर्द की शिकायत कर रही थी पर ठीक थी। कुछ दिन बाद मेरा पचासवां और तान्या का इक्कीसवां जन्मदिन आने वाला था। सब बहुत उत्साहित थे। डैडी ने एक लिफ़ाफ़े में अपनी और मम्मी की ओर से जन्मदिन की भेंट स्वरूप रुपये रखकर मुझे और तान्या को दिये कि कुछ मनपसंद का ले लेना। उसी दिन तय हुआ, हर बार की तरह आने वाली अट्ठाइस को हम घर आयेंगे। मम्मी खाना बनाकर रखेंगी। घर से लौटते समय तान्या ने ग्रेजुएशन के अंतिम सेमेस्टर की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए और एम.ए. के एडमिशन के लिए उनसे आशीर्वाद लिया। डैडी ने उसके सर पर हाथ रखा। मुझसे कहा 'घर पहुंचकर फ़ोन करना बेटा।' हम सीढ़ियां उतर रहे थे, वे हमेशा की तरह दरवाज़े पर खड़े हमें हाथ हिलाकर बाय कर रहे थे। उस दिन नहीं पता था कि यह अंतिम विदा होगी।

पिताजी ने जीवन भर स्वास्थ्य को सर्वोपरि रखा। न सिर्फ़ अपने स्वास्थ्य को, बल्कि हम सबके स्वास्थ्य को भी। बीमार पड़ने पर तुरंत उपचार उनकी प्राथमिकता रहती। संस्कृत के विद्वान पिता अक्सर अनेक श्लोकों को सुनाते हुए यह भी कहा करते थे-'शरीरमाद्यंखलु धर्मसाधनम्'। वे समझाते, शरीर को स्वस्थ बनाये रखना और काया को निरोगी रखना सबसे बड़ी ज़रूरत है। शरीर ठीक रहेगा तो ही सब काम कर पाओगे। उनकी व्यस्त दिनचर्या में शारीरिक मेहनत काफ़ी रहती। जीवनपर्यंत अपने कपड़े उन्होंने खुद धोये। सारे घर के लोगों के कपड़ों में कोई भी पिता के धोये कपड़ों को उनकी चमक और सफ़ाई से अलग पहचान सकता था। यही नहीं, रसोई में मां की यथासंभव मदद की। नौकरी के दायित्वों से मुक्त होकर उन्होंने अपनी दिनचर्या में व्यायाम को प्रमुखता दी। नौकरी के दौरान भी कसरत करते और बेडमिंटन आदि खेला करते। उन्हें न ब्लड प्रेशर की समस्या थी न डायबिटीज़ की दिक्क़त। जमकर काम करते और मीठा ख़ूब खाते। मिठाई न भी हो तो दही-बूरे से काम चला लेते। स्वाद और पौष्टिक खाना बनाने वाली मां आग्रह करके उन्हें खीर-पूड़ी आदि खिलातीं तो नाश्ते के बाद कहते, ' इतना खा लिया है सुधाजी ! कि अब सारे दिन कुछ नहीं खाऊंगा।' पर दोपहर होते ही भूख लगने पर खुद पर ही व्यंग्य करते हुए शौक से खाना खाते और कहते, 'वाह! मज़ा आ गया सुधाजी।' मम्मी उन्हें खिलाकर और उनके साथ खाकर बहुत प्रसन्न होतीं।

ऐसे निरोगी पिता का कोरोना की चपेट में आना और असमय चले जाना हम सबको जीवन भर आहत करता रहेगा। जीवन भर बेहतर दुनिया का सपना देखने वाला एक रचनाकार क्रूरता का शिकार हुआ। वास्तविक जनतंत्र की राह में आने वाली जिन बाधाओं को वह अपने रचनात्मक कर्म, फ़ेसबुक डायरी आदि से लगातार दिखाता-समझाता रहा, अंततः उन्हीं बाधाओं का वह आसान शिकार बना। बुख़ार आने और एक दिन बाद ठीक होने पर घर भर की तीमारदारी करते हुए अचानक पिताजी फिर बीमार पड़े। इस बार भी उन्होंने उम्मीद नहीं छोड़ी थी, पर जन की उपेक्षा करने वाले तंत्र की समय पर न की गयी ज़रूरी तैयारियों, नृशंसता की हद तक बरती गयी लापरवाहियों ने पिता सहित

कितने लोगों को असमय संसार से रुख़सत कर दिया। इक्कीस अप्रैल को बड़ी मुश्किल से पिता को घर से बहुत दूर एक अस्पताल में भर्ती करवाया गया। संज्ञा जो खुद बीमार थी, पिता के साथ रही। तेईस अप्रैल की उस कठिन रात पिता दिल्ली के एक अस्पताल में संघर्ष करते हुए संसार को अलविदा कह गये। शुभेच्छु मित्र-साथी-अनुभवी अग्रज कहते हैं, दुख का दरिया समय पाटेगा। मेरा दिमाग लगातार सारे प्रयासों की विफलता के बाद अब 'काश यह होता तो पिता साथ होते...' के ख़याल में डूबा रहता है। अपनी सोच के मुताबिक़ कुछ रिक्त स्थान भले ही भर लूं, पर जीवन का यह विराट ख़ालीपन कैसे भरेगा? दोस्त आत्मीयता से साहस की दीवार उठाते हैं, मैं बहुत से तर्कों से उस दीवार संग खड़ी होती हूं, पर फिर भरभराकर गिर जाती दीवार संग गिर पड़ती हूं। आज लगता है, पिता पर लिखी *नया ज्ञानोदय* पत्रिका में छपी कहानी 'उलझी यादों के रेशम' लिखने में जो पीड़ा हुई थी वह इस दुख की तुलना में कितनी छोटी थी। लगता है अभी फ़ोन घनघनायेगा, पिताजी कहेंगे, 'और नया क्या हो रहा है?' अभी हंस पड़ेंगे, तेज़ी से हंसते हुए उनकी छोटी छोटी हो जाती आंखें पनीली हो जायेंगी। अभी किसी बात पर डांट लगायेंगें। घर में सब हैं, आवाज़ें हैं उनकी ही आवाज़ नहीं। लेकिन अनुपस्थित होकर भी वही सबसे अधिक उपस्थित हैं, मानो भरपूर आशा और उत्साही मुद्रा में कह रहे हों,' बहुत हुआ... अब यह रोना-धोना छोड़ो और अपने-अपने कामों में लगो।'

मैं संभलने की कोशिश करती हूं। मुझे साहस देती उनकी निश्छल और पानी-सी छलकती हंसी कानों में गूंजती है। इन दिनों उनकी कर्मठ हथेलियों की अनगिनत छवियां मेरे दिलो-दिमाग़ पर छायी हुई हैं। उन स्मृतियों के कई शब्द मैंने जोड़े हैं। पिता की ये अनंत कर्मठ छवियां, हर लोभ-लालच से परे उनके रचे शब्द, कुरूप के प्रति उनकी सजग-सचेत और जवाबी कार्यवाही ही अब हमारी विरासत है।

पिता की हथेलियां
तुम्हारे रक्ताभ हथेली पे उगी नीली नसें
गोरे मज़बूत हाथों की हथेली पर उभरी नीली नसें
तुम्हारी दृढ़ता का आईना रहीं
बहसों में ये कितनी बार हथेली मुट्ठी बनकर
विरोध करती बजती होगी किसी सख्त सतह पर
दुनिया में एक उजली सुबह लाने की ख़ातिर
कितने जुलूसों में इन हाथों ने थामी होंगी मशालें.
जब तुम अन्याय के ख़िलाफ़
जन की अगुआई करते
कहते होगे ज़िंदाबाद
तो ये बंद मुट्ठी तनकर
झकझोरती होगी नीला आसमान
या फिर तंत्र की काली परछाईं का सुराग मिलते
जब तुमने कहा होगा मुर्दाबाद-मुर्दाबाद
तब तुम्हारी हथेलियों की शिराएं
कुछ और लाल हो जाती होंगी।

मो. 8368520827

सब ठाठ पड़ा रह जायेगा

शमीम हनफ़ी की याद

नजमा रहमानी

नब्बे की दहाई के शुरू दिनों की बात है। हम लोग देहली यूनिवर्सटी से पी एच डी कर रहे थे। यह जानते हुए भी कि नौकरी के उम्मीदवारों की भीड़ में हम किसी गिनती में नहीं, कुछ जिज्ञासा और कुछ तफ़रीह लेने के लिए हम सब दोस्त ग्रुप बना कर, जहां जहां इंटरव्यू की ख़बर मिलती पहुंच जाते थे। उन दिनों इंटरव्यू अच्छा होने से भी एक छवि बनती थी। ऐसे ही एक इंटरव्यू में जब मैं कमेटी के सामने पेश हुई तो एक्सपर्ट में से किसी ने सवाल किया, 'पिछले दिनों कौन सी नयी किताब छपी?' यह इतेफ़ाक़ ही था कि उसी हफ़्ते इरफ़ान सिद्दीक़ी का ग़ज़ल का नया संकलन, *इश्क़नामा* छपा था और चूंकि इसे हमारे दोस्त मज़हर ने छपवाया था, इसलिए दोस्तों के पास इस की कापी पहले पहुंच गयी थी। इरफ़ान सिद्दीक़ी हम में से अक्सर के पसंदीदा शायर थे। उन के बहुत से शेर उन दिनों हमारी ज़बान पे रहते थे, सो हम ने फ़ौरन जवाब दिया, *इश्क़नामा*। एक्सपर्ट की आंखें चमक उठीं। अगला सवाल था, 'अच्छा तो आप को कोई शेर भी याद होगा?' शेर सुनाने के इम्तेहान से गुजरने के बाद कई नये सवाल, और सब नयी छपी किताबों के बारे में। इंटरव्यू देके बाहर निकले, तो अंदर एक संतुष्टि थी। दोस्तों से पूछा, 'वो जो अंदर एक साहब हैं गोरे से, मुस्कुराते हुए ,वो कोन हैं? ऐसा लगता है, प्रकाशक अपने प्रकाशन की पहली कापी उन्हीं को भेजते हैं। 'हाये, उन्हें नहीं जानतीं, अरे भई, शमीम हनफ़ी हैं', सिराज ने जवाब दिया और सिराज के सामान्य ज्ञान का लोहा तो हम सब मानते हैं।

शमीम साहब से यह मेरा पहला सीधा परिचय था। मुस्कुराता हुआ चेहरा, सहज लहजा और धीमी आवाज़ उन के व्यक्तित्व का ऐसा हिस्सा था जिसके बिना शमीम साहब की तस्वीर पूरी नहीं हो सकती थी। उनके नाम से हमारी पीढ़ी के अक्सर रिसर्च स्कालर्स परिचित थे। इस एक साक्षत्कार के बाद भी कई बार इंटरव्यू कमेटियों में उनके सामने पेश होने का मौक़ा मिला, मगर उनकी किताब, *जदीदियत की फ़लसफ़ियाना असास* पढ़ने के बाद उन के ज्ञान की जो दहशत हमारे दिल पे बैठी थी वो कुछ रौब और बहुत सी प्रशंसा में बदल गयी। इसके सिवा भी अक्सर सेमिनारों, और अदबी महफ़िलों में उन से मुलाक़ात का मौक़ा मिलता रहा। मगर ज़रा फ़ासले से। हमेशा धड़का लगा रहता कोई ग़लती न हो जाये। यूं कभी उन से खुलकर बात करने का मौक़ा नहीं मिला। ज़िंदगी अपने जलवों के साथ गुज़रती जा रही थी। हंसी खेल में दिये जाने वाले इंटरव्यू अब गंभीर कोशिशों में बदल गये। बहुत से चेहरों के नक़ाब उतरने लगे, मगर एक चेहरे की ख़ामोश मुस्कुराहट वैसी ही क़ायम रही। इधर उधर से कई बार सुना कि शमीम साहब तुम्हारे बारे में अच्छी राय रखते हैं। मगर शमीम साहब ने कभी ख़ुद

अपनी ज़बान से इसका इज़हार न किया।

हालात के थपेड़ों ने दिल्ली छुड़ायी, तो लगा अब कभी पलटना न होगा। टूटे दिल के साथ पुणे में एनडीए ज्वाइन कर लिया। बहुत सी सहूलतों और बेहतरीन स्टेटस के बावजूद फ़ौज का सख़्त कड़ा डिसिप्लिन और पाबंदियां मेरे मिज़ाज की आज़ादी को रास न आ सकीं। किताबों के मिलने का कोई ज़रिया नहीं था। उर्दू की जो दूसरी अदबी सरगर्मियां होती थी उनकी कोई ख़बर नहीं थी। इंटरनेट और फ़ेसबुक को भी आने में बहुत वक़्त बाक़ी था। और तो और, मोबाइल फ़ोन भी आम नहीं हुआ था। ऐसे हालात में उर्दू की साहित्यिक सरगर्मियों से सारे रिश्ते नाते टूटे हुए थे और वापसी के तमाम रास्ते भी जैसे बंद थे। ऐसे हालात में एक बार सरकारी काम से गोवा जाते हुए रेल में शमीम साहब से मुलाक़ात हो गयी। वे भी कुछ दूसरे लोगों के साथ यूजीसी के किसी काम से गोवा जा रहे थे। मैंने सलाम किया, हालचाल पूछने के दौरान उन्होंने सवाल किया, 'कैसा लग रहा है?' सवाल ने मेरी दुखती रग को छेड़ दिया, 'सर यह जगह मेरे लिए नहीं है, मगर लगता है कि अब कभी दिल्ली नहीं लौट पाऊंगी', मैंने जवाब में कहा। शमीम साहब ने मुस्कुरा कर कहा, वक़्त बदलता भी है और इतिहास नये सिरे से लिखा जाता है। आप उम्मीद ना छोड़िए। उनकी आवाज़ और उनके जवाब में कुछ ऐसा ज़रूर था कि दिल को तसल्ली हुई। इस छोटी सी मुलाक़ात के चंद महीनों बाद ही दिल्ली यूनिवर्सिटी में इंटरव्यू हुआ। उस इंटरव्यू से पहले और उसके बाद भी जो साज़िशें की गयीं, वह तो अब गये दिनों की बात हो गयी। मेरी नियुक्ति हो गयी। नियुक्ति की ख़बर शमीम साहब के हवाले से ही एक दोस्त से मिली। दिल्ली वापस आने के कुछ वक़्त बाद मालूम हुआ, नियुक्ति में यहां दूसरी चीज़ें शामिल थी, वहीं शमीम साहब की सकारात्मक कोशिश का भी बड़ा हाथ था। एक अजनबी लड़की जिससे उनकी रसमी मुलाक़ात हुई थी जिसने कभी ख़ुद या किसी के ज़रिये कोई सिफ़ारिश न भेजी थी, उसके लिए एक जाने-माने प्रोफ़ेसर की इस मदद ने, जो बस उन इंटरव्यूज़ की बुनियाद पर, जिन्होंने उन पर एक अच्छा प्रभाव छोड़ा था, मेरे दिल में शमीम साहब के लिए एक कभी न ख़त्म होने वाला, इज़्ज़त और शुक्रिया का वह जज़्बा पैदा कर दिया जो किसी के लिए पैदा न हो सका। मेरे और मेरे जैसे कई छात्रों को उनके अध्ययन की बुनियाद पर यूनिवर्सिटी से जोड़ने में शमीम साहब की व्यक्तिगत दिलचस्पी का बड़ा दख़ल रहा है।

दिल्ली लौटने के बाद भी शमीम साहब से बस यूं ही से मुलाक़ातें रहीं। उनके ज्ञान का जो रोब था वह तो अपनी जगह था, मगर दिल में उस ज्ञान के साथ एक इंसान होने के नाते उनकी क़द्र-ओ-क़ीमत बढ़ गयी। धीरे धीरे मालूम हुआ कि उनकी शोहरत उर्दू के साथ हिंदी के साहित्यिक हलक़ों में भी है। *जदीदियत की फ़लसफ़ियाना असास* के बाद उनकी दूसरी किताबें पढ़ने का मौक़ा मिला तो उनमें एक बिल्कुल ही अलग इंसान से मुलाक़ात हुई जिसको आम अर्थ में आलोचक कहने का कभी जी न चाहा। इन लेखों में आलोचना की रूखी सूखी ज़बान के बजाय प्रभावकारी और रचनात्मक चाशनी ख़ुद को पढ़वाने पर मजबूर करती है। मैंने रूखी सूखी आलोचना पढ़ने से हमेशा जी चुराया। कभी दिल ही न लगा। किताबों और पत्रिकाओं में साथियों और दूसरे शिक्षकों के लेख और भारी-भरक़म संदर्भ देखकर एक भय सा लगता था कि मैं ऐसे ज्ञानपूर्ण लेख कभी नहीं लिख सकती। दरअसल, संदर्भों से बोझिल लेख में लेखक की अपनी समझ के बजाय पढ़ी हुई चीज़ों का ज़्यादा काम

होता है। मैं जानती हूं कि लिखने के लिए पढ़ना बहुत ज़रूरी है, मगर यह अध्ययन अपने अंदर से गुज़रे बग़ैर सीधा काग़ज़ पर सामने आ जाये, इससे लेखक की अध्ययन की गहराई का, अध्ययन के फैलाव का अंदाज़ातो होता है, मगर इस अध्ययन ने उसकी समझ को कैसे प्रभावित किया यह अंदाज़ा लगाना मुश्किल होता है। शमीम साहब के लेख अक्सर इस तरह के अध्ययन के संदर्भों से भारी भरक़म नहीं होते, मगर उनकी लेखन शैली यह गवाही देती है कि अध्ययन के बग़ैर इस तरह के लेख लिख पाना मुमकिन नहीं है।

भारी-भरक़म लेख न लिख पाने की अपनी कमज़ोरी का हल भी मुझे एक बार उन्हीं से मिला। अपने कम लिखने की कमी को क़ुबूल करते हुए मैंने उनके सामने इस मजबूरी का ज़िक्र किया कि मैं आलोचना की किताबें पढ़कर लेख नहीं लिख सकती और यह भी कि जब तक लिखने को मन न चाहे कोई कैसे लिख सकता है। साहित्य पढ़ना अच्छा लगता है, मगर उस पर लेख लिखने को जी नहीं चाहता। इसका हल भी उन्होंने यह कह कर दे दिया, 'अच्छा लेख वह होता है जो सीधा लिखा जाये।' उनके अपने लेखन में भी इसकी बहुत अच्छी मिसाल है। अंधा क्या चाहे दो आंखें। शमीम साहब ने कह दिया तो मजबूरी में पढ़े जाने वाली किताबें भी किताबों की अलमारी के सबसे ऊपर वाले ख़ाने में डाल दीं कि बार-बार नज़र न पड़े। अब ऐसी किताबों से तभी काम लेती हूं जब अध्यापन के लिए उनकी ज़रूरत पड़ती है। उनके इस मशवरे के बाद भला बुरा जो भी लिखा उसके लिए अपनी छोटी सी समझ को ही काफ़ी समझा। शमीम साहब कभी मेरे अध्यापक नहीं रहे, इस तरह हमारे बीच उस्ताद और शागिर्द का रिश्ता नहीं रहा। हमारी पढ़ाई के दिनों में शमीम साहब जामिया से जुड़े हुए थे और मैं दिल्ली यूनिवर्सिटी में थी, लेकिन मैं और मेरे जैसे बहुत से छात्रों ने उनके ज्ञान से बहुत फ़ायदा उठाया और इस तरह उनके शागिर्द कहलाये जाने का हक़ हमारे पास है।

2018 में कराची आर्ट्स काउंसिल की वार्षिक अंतरराष्ट्रीय कांफ्रेंस का निमंत्रण मिला, तो कराची जाने का मौक़ा मिला। वहां पहुंचने पर पता चला शमीम साहब भी आये हैं। कराची का यह मेरा पहला सफ़र था। शमीम साहब के वहां होने की ख़बर से थोड़ी सी तसल्ली हुई। पाकिस्तान में उनके चाहने वालों की गिनती हिंदुस्तान से भी बहुत ज़्यादा है। वे पाकिस्तान की साहित्यिक गतिविधियों का अभिन्न अंग माने जाते हैं। वहां की एक यूनिवर्सिटी (LUMS) के निमंत्रण के बावजूद उन्होंने उस ऑफ़र को क़ुबूल नहीं किया, मगर पाकिस्तान की साहित्यिक कान्फ्रेंस हो या सेमिनार, उन में बराबर शरीक होते रहे। आर्ट्स काउंसिल के अध्यक्ष अहमद शाह से उन्होंने यह कह कर मुझे मिलवाया कि 'ये हमारी बहुत अज़ीज़ छात्रा हैं और अध्यापन की ज़िम्मेदारियों के साथ शिक्षा और यूनिवर्सिटी में सरगर्म कार्यकर्ता भी हैं।' यह बात कहते हुए उनके चेहरे पर ख़ुशी और गर्व का अहसास था। वह मेरे लिए एक तरह की इज़्ज़त अफ़ज़ाई की बात थी। पहली बार मुझे मालूम हुआ कि शमीम साहब जो कभी ख़ुद किसी तरह के एक्टिविज़्म में शामिल नहीं रहे, मगर दूसरे उर्दू प्रोफ़ेसरों की तुलना में सियासी और सामाजिक एक्टिविज़्म को पसंद भी करते हैं और उसकी क़दर भी करते हैं। कान्फ्रेंस के हर स्तर में वे पूरे दिल जमई के साथ शरीक रहे। जब मुझे पेपर पढ़ना था, वे स्टेज के बिल्कुल सामने वाली सीट पर बैठे थे। वहां उनकी मौजूदगी मेरे लिए बहुत तसल्लीबख़्श थी। पेपर पढ़ते हुए जितनी बार उन पर नज़र पड़ी, उनके होठों पर एक मुस्कुराहट देखी, ऐसी जैसे मुझे हौसला दे रहे हों। भारत लौटने के बाद

एक बार बहुत धीरे से बस एक जुमला कहा, 'आप कराची में अपना एक अच्छा इंप्रेशन छोड़ कर आयी हैं।' धीमे लहजे में कहा गया यह जुमला और न मिटने वाली मुस्कुराहट किसी छात्र के लिए यही सबसे बड़ा इनाम होता है। अक्सर मौक़ों पर उनकी इसी ख़ामोशी और हौसला देने वाली मुस्कुराहट से मैं अपनी कामयाबी का सर्टिफ़िकेट लेती रही।

मैंने शमीम साहब को कभी किसी की बुराई करते नहीं सुना। किसी व्यक्ति के लिए उनकी नापसंदगी का अंदाज़ा बस इस बात से होता कि ऐसे मौक़ों पर उनकी वह अमिट मुस्कुराहट ग़ायब हो जाती और चेहरा एकदम जैसे ठहर सा जाता। अपनी इस नापसंद को किसी पर ज़ाहिर न होने देने की उनमें बहुत क्षमता थी। शायद इसी क्षमता का नतीजा था कि गहरे अध्ययन के बावजूद उनकी बातचीत में उस ज्ञान की मौक़ा-ब-मौक़ा नुमाइश करते उन्हें मैंने कभी नहीं पाया। बस बातचीत के दौरान कोई जुमला या कोई वाक्य उनके ज्ञान की गहराई का पता दे जाता।

उर्दू की राजनीति से बज़ाहिर उनका कोई रिश्ता नहीं था। हां, एक बार यह ज़रूर हुआ कि ग़ालिब इंस्टीट्यूट के पुरस्कारों का ऐलान हुआ तो उसमें एक नाम ऐसा भी शामिल था जिसे सुनकर हैरानी हुई, हालांकि आजकल किस तरह अवार्ड दिये जाते हैं और उन पुरस्कारों को पाने के लिए किस तरह की चीज़ों की ज़रूरत होती है इससे हम सब अच्छी तरह वाक़िफ़ हैं। हैरानी यह नहीं थी कि इनाम पाने वालों की सूची में वह नाम कैसे शामिल हुआ, हैरानी की वजह यह थी कि शमीम साहब इनाम देने वाली उस कमेटी के मेंबर थे। उनकी मौजूदगी में इस नाम का शामिल होना मेरे लिए हैरान कर देने वाला था, क्योंकि शमीम साहब को उन साहब के कारनामों की ख़ूब जानकारी थी। दिल को थोड़ी सी ठेस पहुंची, वह जो एक धारणा बरसों से बनी हुई थी लगा कि उस में दरार पड़ गयी। मैं शमीम साहब से यह उम्मीद नहीं कर रही थी। जो सवाल मेरे दिमाग़ में था कुछ और लोगों के ज़हन में भी रहा होगा और बात उन तक भी पहुंची होगी। उनके सामने ज़िक्र आया तो उन्होंने सिर्फ़ इतना बताया कि आपत्ति दर्ज की गयी थी, मगर बहुमत से फ़ैसला हो गया। अपनी बात को मनवाने के लिए आवाज़ बुलंद करना और अपनी बात पर अड़े रहना उनके मिज़ाज का हिस्सा न था। बाद में सुना कि वह अवार्ड कमेटी से अलग हो गये।

'जश्न-ए रेख़्ता' के मौक़े पर उनके साथ हमेशा आंटी भी होतीं। उन्हीं की तरह बातचीत में दर्दमंद और मोहब्बत करने वाली। शमीम साहब के मुक़ाबले आंटी से ज़्यादा खुलकर बात होती। अक्सर मुलाक़ातों में वे घर आने के लिए कहतीं। शमीम साहब भी धीरे से मुस्कुराते, मगर चुप रहते जैसे वह मुस्कुराहट आंटी की हां में हां मिला रही हो। मगर ज़िंदगी के हंगामे और दिल्ली के फ़ासले हमारे बीच में हमेशा आते रहे। एक आध बार के सिवा कभी घर जाना न हुआ। 2019 के 'जश्न-ए-रेख़्ता की मुलाक़ात में पहली बार उन्होंने ख़ुद कहा 'कभी कभी आ जाया कीजिए, अब कम लोग रह गये हैं जिनसे मिलने को जी चाहता है'। इस जुमले में फ़रमाइश से ज़्यादा दुनिया की शिकायत छिपी थी। बहरहाल, मैंने वादा कर लिया और इस बार पक्का इरादा भी, कि जाना है। मगर चंद महीने बाद ही कोरोना की वजह से लॉकडाउन और उसके साथ रोज़ ब रोज़ बिगड़ती सूरतेहाल ने इस वादे को निभाने का मौक़ा न दिया।

ख़ालिद जावेद से उनकी तबीयत के बारे में पता चलता रहा। इतना नरम आदमी अंदर से

इतना सख़्त जान निकला कि कैंसर जैसी बीमारी को हराकर उससे बाहर निकल आया, कोरोना से लड़ा और जंग जीती, मगर यह बीमारी जाते जाते उनसे उनकी सारी ताक़त ले गयी।

यह सिर्फ़ इत्तेफ़ाक़ ही है कि 4 मई की रात को जब ख़ालिद जावेद का फ़ोन आया तो मेरे हाथ में शमीम साहब की किताब थी, उनकी तबीयत की ख़राबी की ख़बर देते हुए खालिद ने कहा, 'शमीम साहब के लिए ऑक्सीजन बेड के साथ अस्पताल का इंतज़ाम करना है।' मुझे ख़बर है वे कोरोना के शिकार हुए थे और उसके साथ ही यह भी पता चला था कि अब इंफ़ैक्शन ख़त्म हो गया है और धीरे धीरे ठीक हो रहे हैं। अब जो यह ख़बर मिली तो दिल धक् से रह गया। ख़ालिद ने बताया कि इंफ़ैक्शन तो ख़त्म हो गया था, मगर निमोनिया की वजह से फेफड़ों ने काम करना कम कर दिया है। उनकी बेटी ग़ज़ल ने घर पर ही ऑक्सीजन का इंतज़ाम कर दिया था, डॉक्टर भी देखभाल कर रहे थे, मगर फिर डॉक्टरों के मशवरे पर ही यह फ़ैसला किया गया कि अस्पताल में दाख़िल करा दिया जाये क्योंकि अब 24 घंटे डॉक्टरों की निगरानी की ज़रूरत है। कोशिशें शुरू हुईं और देर रात गये डीआरडीओ के अस्पताल में भर्ती करा दिया गया, मगर शायद वहां सुविधाएं कम थीं, इसलिए वापस ले आये। 6 मई की शाम को फिर से बात हुई। उनकी आवाज़ से परेशानी झलक रही थी। उन्होंने बताया कि आज दोपहर मॉडल टाउन के एक प्राइवेट अस्पताल में फिर से दाख़िल करा दिया गया है। आधे घंटे बाद ख़बर मिली, शमीम साहब नहीं रहे। ऐसा लगा जैसे अंदर से कुछ निकल गया। जैसे अचानक अंदर कुछ ख़ाली हो गया। उनका जाना ठहर गया था, बस सुबह शाम की देर थी। 6 मई की रात को उर्दू का यह सूरज ढल गया।

दिसंबर में शमीम साहब के घर जाने का जो वादा किया था वह यूँ पूरा हुआ कि 8:00 बजे के क़रीब ख़बर मिली और 9:30 बजे मैं अस्पताल पहुंची। ग़ज़ल और उनके पति वहां मौजूद थे। उन्हें आख़िरी सफ़र के लिए तैयार किया जा रहा था। मैंने अपने समय के उस महान व्यक्ति के चेहरे पर आख़िरी निगाह डाली जो अब मिट्टी का ढेर था। हाथ उठाकर आख़िरी सलाम पेश किया और अस्पताल के वार्ड बॉय ने आगे बढ़ कर उन का चेहरा ढक दिया।

सब ठाठ पड़ा रह जायेगा
जब लाद चलेगा बंजारा

मो. 9953479211

लालबहादुर वर्मा : जाना एक ऑर्गैनिक बुद्धिजीवी का

अशोक कुमार पांडेय

लालबहादुर वर्मा को याद करना मेरे लिए आसान नहीं है। याद करने की पूर्वशर्त भूलना होती है और वे अपनी उपस्थिति ही नहीं अनुपस्थिति में भी इस तरह शामिल रहे हैं कि यह स्वीकार कर पाना मुश्किल होता है कि वे अब इस दुनिया-ए-फ़ानी में नहीं हैं। यह उपस्थिति विराट इसलिए भी है कि वे किसी एक भूमिका तक महदूद नहीं थे; वे मित्र थे, शिक्षक थे, आलोचक थे, कॉमरेड थे, वरिष्ठ थे, इतिहासकार थे, एक शानदार संगठनकर्ता थे और एक बेचैन क्रांतिकारी थे। कभी सोचता हूं कि इतिहास उन्हें किस रूप में याद करेगा! जुड़ा ही है इससे यह सवाल भी कि याद करेगा या विस्मृतियों में धकेल देगा! आख़िर देखा है हमने हिंदी समाज को सव्यसाची जैसे कितने ही लोगों को बेरहमी से भूलते हुए।

लेकिन इस क्षण जब मैं उन्हें याद कर रहा हूं तो बहुत स्पष्ट है यह मेरे सामने कि वर्मा जी सबसे पहले शिक्षक थे, शायद सबसे आख़िर में भी, लेकिन इस पहले और आख़िर के बीच ढेरों आयाम थे। फ्रांस में जाने-माने इतिहासकार रेमो आरां के साथ जब शोध करने गये वे और देखा वहां छात्र आंदोलन को क़रीब से, तभी शायद यह तय हो गया था। इसीलिए तो अंगूर बीनते टाइप करते ली गयी डिग्री लेकर फ्रांस या फिर इंग्लैंड जाकर किसी यूनिर्वसिटी में पढ़ाना चुनने की जगह अपने शहर गोरखपुर लौटना चुना। वे शहर जिसे अभी अपनी शहरियत हासिल करनी थी। वे शहर जिसके रमदत्तपुर इलाक़े में खपरैल का बना मकान सिर्फ़ लालबहादुर वर्मा का घर नहीं था बल्कि वर्षों उन सांस्कृतिक और राजनीतिक संगठनों के कार्यकर्ताओं का घर, बैठक स्थल और रिहर्सल एरिया बना रहा। उस अधबने शहर में वर्मा जी ने एक नयी दुनिया का ख़्वाब मुक़म्मल करने में लगे हुए थे। इस प्रक्रिया में वे एक वामपंथी दल या कहें समूह से जुड़े जो नक्सलवाद को अपनी विरासत तो मानता था लेकिन हिंसा की राह की जगह सामाजिक-सांस्कृतिक हस्तक्षेप के ज़रिये समाजवादी क्रांति में भरोसा रखता था। वर्मा जी ने खुद को पूरी तरह से इस प्रोजेक्ट में झोंक दिया। गोरखपुर की सड़कों पर नुक्कड़ नाटक से लेकर हिस्ट्री कांग्रेस के मंचों तक उनकी सक्रियता के तमाम क़िस्से अब भी गोरखपुर के लोगों से सुने जा सकते हैं। दर्ज तो उन्होंने खुद भी किये हैं *आत्मकथा* के दो खंडों में। यह वह दौर था जब वे खुद को ग्राम्शी के शब्दों में 'ऑर्गेनिक बुद्धिजीवी' के रूप में बदल रहे थे। एक ऐसा बुद्धिजीवी जो जनता के स्वप्नों और तकलीफ़ों के साथ अनन्य रूप में संबद्ध हो। जो एक तरफ़ छात्रों के बीच बेहद लोकप्रिय हो, बौद्धिक जगत में ज़बर्दस्त धाक रखता हो और दूसरी तरफ़ सड़कों से लेकर मंचों तक दुनिया बदलने के प्रोजेक्ट में सत्ता की साज़िशों के ख़िलाफ़ जनता के साथ नाभिनालबद्ध हो

मुख़ालिफ़त का परचम उठाये खड़ा हो।

लेकिन जैसा कि ऐसे समूहों के साथ अक्सर होता है, व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के चलते संगठन पहले दो और फिर अनगिनत टुकड़ों में बिखरता चला गया। वर्मा जी भी गोरखपुर से इलाहाबाद विश्वविद्यालय, फिर उत्तर-पूर्व पर्वतीय विश्वविद्यालय और फिर इलाहाबाद विश्वविद्यालय लौट आये। जब उनसे पहली मुलाक़ात हुई तो वे इलाहाबाद से गोरखपुर आये हुए थे। मैं उसी समूह से निकले एक संगठन का नया-नवेला कार्यकर्ता था और वर्मा जी को एक स्टडी सर्किल के लिए आमंत्रित किया गया था। उन्हें सुनने के बाद मैंने अचानक पूछा : 'आप मार्क्सवादी क्यों हैं?' उन्होंने छूटते ही जवाब दिया : 'आज मुझे दुनिया को बेहतर बनाने के लिए मार्क्सवाद सबसे सही राह लगती है, कल अगर इससे बेहतर कोई राह दिखेगी तो उस पर चल पड़ूंगा।

उनकी ज़िंदगी दुनिया को बेहतर बनाने के लिए राहें तलाशने की गवाही है। इतिहास हो या संस्कृतिकर्म या पब्लिक लेक्चर, उनका उद्देश्य मनुष्य के जीवन को बेहतर बनाना ही रहा। यहां मार्क्स याद आते हैं जिन्होंने युवावस्था में ही अपना उद्देश्य 'दुनिया को बेहतर बनाना' तय किया था। फ्रांस के छात्र आंदोलन के प्रत्यक्षदर्शी रहे वे तो फ्रांसीसी क्रांति ताउम्र उनके लिए ऊर्जा का स्रोत रही। छात्र आंदोलन को केंद्र में रखकर तो उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा – *मई 68* । एक उपन्यास उन्होंने 'उत्तरपूर्व' के अपने अनुभवों पर भी इसी नाम से लिखा था।

भारत में पुनर्जागरण और प्रबोधन उनकी प्रमुख चिंताओं में शामिल थे। इसके लिए उन्होंने संस्कृतिकर्म को अपना क्षेत्र बनाया। गोरखपुर रहते हुए *भंगिमा* नाम से पत्रिका निकाली जिसने लघु पत्रिका आंदोलन के दौर में मानीखेज हस्तक्षेप किया। इसके अलावा उन्होंने लंबे समय तक *इतिहासबोध* नामक पत्रिका का संपादन भी किया। यह पत्रिका अपने आप में अनूठी पत्रिका थी। असल में एक इतिहासकार के रूप में लालबहादुर वर्मा के लिए इतिहासबोध यानी सेंस ऑफ़ हिस्ट्री बेहद महत्त्वपूर्ण चीज़ थी। इतिहास को तथ्यों के संकलन या फिर विचारधारात्मक हथियार के रूप में देखने की जगह वे भविष्य के निर्माण के लिए इतिहास से सबक़ लेना सिखाते हैं। इसके लिए ज़रूरी है कि इतिहास को जनता की निगाह से देखा जाये। उनकी एक बेहतरीन किताब है – *भारत का जनइतिहास*। यह नाम सुनकर हावर्ड जिन की *पीपल्स हिस्ट्री ऑफ़ द वर्ल्ड* की याद आना एकदम स्वाभाविक है, लेकिन अपनी किताब में वर्मा जी ने जिस तरह भारतीय इतिहास को कथित मेनलैंड के इतिहास से आगे जाकर व्याख्यायित किया है और सामाजिक संवर्गों के विकास क्रम की विडंबनाओं को रेखांकित किया है वह बेहद महत्त्वपूर्ण है। अपनी चर्चित किताब, *इतिहास के बारे में* , में वे पहले ही इस पद्धति पर विस्तार से बात कर चुके थे। इसीलिए *इतिहासबोध* सिर्फ़ इतिहास की पत्रिका नहीं थी। सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों के अलावा कला, साहित्य और संस्कृति को भी इसमें पूरा स्पेस मिलता था । बाद में जब पत्रिका निकालते रहना मुश्किल हो गया तो उन्होंने अलग-अलग विषयों पर केंद्रित *इतिहासबोध* पुस्तिकाएं निकालीं। *क्या आप खुश हैं* जैसे सवाल से लेकर *खुद को गंभीरता से लीजिए* जैसी बातें भी उनके विमर्श में शामिल थीं – मनुष्य की अस्मिता और उसके जीवन की गुणवत्ता उनकी चिंताओं से कभी दूर नहीं हुई। वे लौटकर कभी योरप तो नहीं गये, लेकिन पुनर्जागरण के बाद का वह योरप हमेशा उनके सपनों में रहा जहां मनुष्य की अस्मिता को सम्मान सुनिश्चित हुआ

था। इसीलिए उस काल के साहित्य का उन्होंने बड़े पैमाने पर अनुवाद भी किया ; फ्रेंच और अंग्रेज़ी, दोनों भाषाओं से। हालांकि अपने लेखन के लिए उन्होंने हिंदी का ही चयन किया। अंग्रेज़ी उन्हें ज़्यादा बड़ी पहचान और पहुंच दिला सकती थी, लेकिन हिंदी में लिखना उन्हें ज़रूरी लगा क्योंकि जिस क्षेत्र में वे काम कर रहे थे वहां दूर तक बात हिंदी में ही पहुंच सकती थी, हालांकि अंग्रेज़ी में भी उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण काम किये।

लेकिन सिर्फ़ बौद्धिक कार्यवाहियों तक नहीं सीमित रहे वे। लगातार लोगों के बीच जाना और हस्तक्षेप करना उनके जीवन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा। गोरखपुर और इलाहाबाद में रहते हुए उन्होंने *गैलीलियो* सहित अनेक नाटक किये तो स्क्रिप्ट लिखने से लेकर भूमिकाएं निभाने के लिए भी आगे आये। इलहाबाद में स्वराज भवन में उन्होंने व्याख्यान शृंखला शुरू की तो उपेक्षित पड़ा भवन फिर से गुलज़ार हो गया। अभी पिछले दिनों जब मैं गांधी पर एक व्याख्यान के लिए इलाहाबाद गया तो स्वराज भवन में आयोजित उस आयोजन में शायद ही कोई ऐसा होगा जिसने वर्मा जी को याद न किया हो। सांस्कृतिक-सामाजिक आयोजनों में वर्मा जी को सुनना एक अनुभव था और शायद ही कभी ऐसा हुआ होगा कि उन्हें कभी कहीं बुलाया गया हो और उन्होंने मना किया हो। जब मैं ग्वालियर में था तो उन्हें 1857 के विद्रोह पर आयोजित एक कार्यक्रम में आमंत्रित किया था। उन्होंने ग्वालियर की धरती को सलाम करते हुए जब आज़ादी के आंदोलन में ग्वालियर की भूमिका के कुछ भूले हुए पन्नों से अपनी बात शुरू की तो श्रोता न सिर्फ़ अगले पौने घंटे उन्हें मंत्रमुग्ध होकर सुनते रहे बल्कि आयोजन के बाद भी वे घंटों युवाओं से घिरे रहे। युवा उनके लिए प्राणवायु जैसे थे और देश भर में उनके युवा मित्रों की कोई कमी नहीं थी। डिमोक्रेसी की बात बहुत होती है लेकिन जो लोग वर्मा जी से मिले हैं उन्होंने उसे मूर्त रूप में देखा है। आडंबर से पूरी तरह मुक्त प्रोफ़ेसर वर्मा बच्चों से लेकर बूढ़ों तक को दोस्त बना लेते थे। किसी वैचारिक विरोधी से भी बिना आक्रामक हुए घंटों बतिया सकते थे और आपको इस क़दर सम्मान देते थे कि आप खुद को महत्त्वपूर्ण समझने लगें। इसीलिए लोग उनके सामने दिल खोलकर रख देते थे। सहजता उनके स्वभाव का हिस्सा थी। ना कहने से अक्सर बचते थे, नुक़सान भी उठाये इसके लेकिन शिकायतें कभी नहीं करते थे। मिलनेवाला पहले से न जाने तो कभी अहसास भी न हो कि वह एक जीनियस के साथ बैठा है। युवाओं के साथ युवा हो जाते थे और जेंडर सेंसिटीविटी उनके व्यवहार का हिस्सा थी। 26 अप्रैल को लिखे अपने आख़िरी फ़ेसबुक स्टेटस में एक युवतर कवि सौम्य मालवीय के कविता संकलन की तारीफ़ की शुरुआत करते हुए उन्होंने लिखा था – 'ऐसी बदनीयत व्यवस्था को नामुमकिन होना चाहिए था। पर वह है'।

कश्मीरनामा छपने के बाद जब मैंने उन्हें भेजी तो काफ़ी डरा हुआ था। वे इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान थे और मैंने इतिहास की बेसिक ट्रेनिंग न होते हुए भी कश्मीर के इतिहास पर इतनी मोटी किताब लिखने की हिमाक़त कर डाली थी। लेकिन पढ़ने के बाद उन्होंने जिस तरह तारीफ़ की और बाद में *पहल* में समीक्षा भी लिखी, वह हिम्मत बढ़ाने वाली थी। अपनी प्रतिक्रिया देने के बाद फ़ोन पर उन्होंने एक और ज़रूरी बात कही थी – 'तुमने एक बड़ा काम कर डाला है। बहुत तारीफ़ मिलेगी। लेकिन सावधान रहना और अहंकार मत करने लगना'। वर्मा जी इसके ख़तरे जानते थे, उन्होंने अपने सामने कई लोगों को बनते और बिगड़ते भी देखा था और तमाम लोकप्रियता और उपलब्धियों के बीच

निस्संगता से जीते हुए अहंकार को दूर रखने का दुसाध्य अभ्यास भी किया था। फ़रीदाबाद में मज़दूरों के बीच रहते उन्होंने एक मज़दूरों के लिए एक अख़बार निकाला तो अपनी आख़िरी दिल्ली यात्रा में ख़राब स्वास्थ्य के बावजूद आंदोलनरत किसानों से एकजुटता प्रदर्शित करने वे किसानों के बीच पहुंचे और लंगर खाने के बाद पत्तल निशानी के तौर पर रख लिया था। इस आंदोलन को लेकर वे बेहद उत्साहित थे और मीडियाविजिल से हुई बातचीत को देखते कोई समझ सकता था कि वे अपने नज़रिये पर एक बार फिर विचार कर कुछ नया करने की योजना बना रहे थे। भगतसिंह को केंद्र मे रखकर शुरू की गयी 'भगतकथा' उनका एकदम अभिनव प्रयोग था जिसमें संगीत भजन सहित अनेक पारंपरिक माध्यमों के प्रयोग थे, गांवों-क़स्बों में 'प्यारे-दुलारे भगत' के साथ अपनी कथा की शुरुआत के साथ वे बौद्धिक विमर्शों को जनता के माध्यम में बदलने की कोशिश कर रहे थे।

बदलाव की इस प्रक्रिया में वे मार्क्स से लेकर आंबेडकर और गांधी तक पहुंचे थे। *आंबेडकर से दोस्ती* नाम से उन्होंने किताब भी लिखी। तीन साल पहले जब हमने दिल्ली में 'भगत सिंह स्मृति जनोत्सव' का आयोजन किया तो उसमें गांधी पर केंद्रित एक सत्र में उन्होंने भागीदारी की। मृदुला मुखर्जी, आलोक वाजपेयी और पुरुषोत्तम अग्रवाल जैसे घोषित गांधीवादियों के बीच उन्होंने जिस तरह से सामाजिक परिवर्तनों में गांधी के विचारों की भूमिका को लेकर बात रखी वह सबको चौंका देने वाली थी। लेकिन बदलाव की प्रक्रिया ऐसी नहीं थी कि एक को छोड़कर दूसरे तक पहुंच गये। वे मार्क्स, आंबेडकर, गांधी, भगत सिंह सहित तमाम ऐसे लोगों से प्रेरणा लेकर अपने समय में हस्तक्षेप करने की कोशिश कर रहे थे जिन्होंने अपने-अपने तरीक़े से मनुष्यों के जीवन को बेहतर बनाने की कोशिश थी। यह वैचारिक शुद्धतावाद या अनन्यता की जगह वैचारिक संश्लेषण का प्रयास था। आख़िर इन सबने भी तो पहले से उपलब्ध ज्ञान के समस्त स्रोतों की विवेचना कर अपने लिए राह तलाशी थी, फिर हम अपने इन सभी पुरखों के ज्ञान और अनुभवों का लाभ उठाने से वंचित क्यों रहें? लालबहादुर वर्मा इन्हीं सवालों से जूझते हुए लगातार आगे भी बढ़ रहे थे और दुनिया को बदलने की कोशिश में लगातार बदल भी रहे थे जो एक जनबुद्धिजीवी के लिए सहज भी है और आवश्यक भी। वे कहते भी थे कि 'प्रबोधन कार्यक्रम से सबसे अधिक प्रबोधन तो मेरा हुआ है'। किसी की अंधभक्ति उनके मिजाज़ में नहीं थी – यों ही नहीं था कि उन्होंने अपनी *आत्मकथा* के आख़िरी हिस्से का शीर्षक दिया था– 'बुतपरस्ती मेरा ईमान नहीं।' एक और खंड लिखने की उनकी योजना थी जो अनेक दूसरी योजनाओं की तरह अधूरी रह गयी।

प्रोफ़ेसर वर्मा जैसे व्यक्ति के बारे मे लिखते हुए जितना मुश्किल शुरू करना है उससे कहीं अधिक मुश्किल होता है ख़त्म करने की कोशिश करना। ख़ासतौर से तब जब उनके विराट व्यक्तित्व के साथ-साथ कई दशकों का साथ भी हो। फ़रवरी के महीने में वे आये थे दिल्ली। मैंने ज़िद की तो दो रात घर पर रुकने को राज़ी हुए। शरीर तो वृद्ध हो ही रहा था लेकिन उत्साह इतना कि अगले दिन सुबह तैयार हो गये उन सभी लोगों से मिलने जाने के लिए जिन्होंने आग्रह किया था । मैंने ज़िद की तो सबको घर पर बुलाने के लिए राज़ी हुए। सुबह ग्यारह बजे से लोग आना शुरू हुए तो शाम तक आते रहे। बुद्धिजीवी, आम लोग, बच्चे, युवा। दीवान पर कभी अधलेटे कभी बैठकर और बीच में कभी थोड़ी देर के लिए दिन भर वे बतियाते रहे और बीच-बीच में ठहाके। सबके जाने के बाद जब मैंने

उलाहना दिया कि आप आराम क्यों नहीं करते तो हंस कर बोले – मुझे इन्हीं से तो ज़िंदगी मिलती है। शाम को उनके पुराने शिष्य पंकज श्रीवास्तव ने अपने घर पर एक पार्टी रखी थी जिसमें वर्मा जी के कई नये-पुराने शिष्य और मित्र आने वाले थे। वहां वे सारी थकान भुलाकर अलग रंग में थे – गाते हुए, नाचते हुए, शेर कहते हुए और ठहाके लगाते हुए। ज़िंदगी जैसे अपने सारे रंग समेट कर इंसान बन गयी हो। उन्हें देखते हुए एक सम्मोहन से भर जाना सहज था... किसे पता था कि वह आख़िरी ऐसी महफ़िल हो जायेगी!

उन्होंने अपनी आख़िरी पांडुलिपि मेरे हवाले की थी। यह किताब मुक्ति की अवधारणा पर थी। शीर्षक दिया गया – *आज़ादी का मतलब क्या*! अद्भुत किताब है यह। मुक्ति के कितने आयाम। जाति, धर्म और जेंडर से मुक्ति ही नहीं, मृत्यु से मुक्ति पर भी उन्होंने डूब कर और निस्संग होकर लिखा है। किताब के संपादन की ज़िम्मेदारी मुझे सौंपते हुए उन्होंने अगले बीस साल की योजनाओं पर बात की थी। किताबों, पत्रिकाओं से लेकर सामाजिक कार्यों तक की। फ़ासीवाद पर एक किताब तो वे लिख ही रहे थे। यह किताब जल्द ही राजपाल प्रकाशन से प्रकाशित हो रही है।

लेकिन 17 मई की सुबह जब उनकी बेटी आशु वर्मा का मैसेज आया कि 'पापा नहीं रहे' तो यह पिछले कई दिनों से उनकी सुधरती-बिगड़ती तबीयत की ख़बरों के बीच पलती आशंकाओं की सबसे भयावह परिणति थी। उनका जाना उन तमाम योजनाओं का अधूरा रह जाना था तो हम जैसे उनके स्वघोषित शिष्यों की ज़िम्मेदारियां भी बढ़ गयी हैं और हमें अपनी अयोग्यताओं का पूरा एहसास है।

पहले सवाल पर लौटूं तो जवाब मुझे अब तक नहीं मिला है। सच कहूं तो उस जवाब का कोई इंतज़ार भी नहीं। वे इतिहास में दर्ज हो जाने की चिंता करने वालों में से नहीं बल्कि वर्तमान में धंस कर हस्तक्षेप करने वालों में से थे। मैं उन्हें हमेशा एक ऐसे आदमी के रूप में याद करूंगा जिसने सिखाया कि सुंदर घर, बड़ी गाड़ी और बैंक बैलेंस के आगे भी सपने हो सकते हैं। एक ऐसे आदमी के रूप में जिसे हर तरह की खूबसूरती से प्यार था, जो ज़िंदगी के एक-एक क्षण को डूब कर जीते हुए दुनिया को बेहतर बनाने के ख़्वाब देखता था... मैं उन्हें एक ऐसे बुज़ुर्ग की तरह याद करूंगा जिसके जैसा होने का मन करे।

मो. 8375072473

शोकांतिका : भोपाल

साथ के सभी दिये धुआं पहन-पहन चले

रामप्रकाश त्रिपाठी

मेरा भोपाल आना पापी पेट की ख़ातिर ही हुआ। भोपाल आया तो समझ में आया कि यहां की साहित्यिक पहचान उर्दू अदब के गहवारे की तरह है। ख़ास तहज़ीब और अंदाज़ के लिए , अलग क़िस्म की बोली-बानी के लिए जाना जाता था क़दीमी भोपाल। नया भोपाल नंबरों का शहर था। मोहल्लों के नाम 1250, 1464, 1100 क्वाटर्स की तरह के थे (अब नहीं हैं ये नाम), मगर भोपाल कभी सांप्रदायिक विभीषिकाओं के लिए, गैस त्रासदी के लिए, लाशों और लाशों की राजनीति के लिए जाना जायेगा, यह कभी सोचा नहीं था। मैंने गैस कांड (1984) और सांप्रदायिक दंगे (1992) के वीभत्स दृश्य देखे हैं। मध्यप्रदेश विज्ञानसभा के कार्यकर्ता के बतौर लावारिस लाशों को श्मशान और क़ब्रिस्तान तक पहुंचाया और कफन-दफन में यत्किंचित भूमिका निभायी है। इस दौरान यूनियन कार्बाइड, मध्यप्रदेश सरकार, नौकरशाही और पुलिस के जघन्य कारनामों से भी दो-चार होना पड़ा है। लाशों के अंबार के बीच कलेजा बार बार मुंह को आता, 'आंसुओं का बांध' फटने-फटने को होता मगर अंततः न्यायिक क्रोध से अंतःयातना पर क़ाबू कर पाता।

यह संदर्भ इसलिए कि 2021 में भी आसमान उसी तरह धुआं-धुआं हुआ। उसी दौर की तरह श्मशान में और क़ब्रिस्तान में मुर्दों को जगह नहीं मिली। कहीं लकड़ी ख़त्म तो कहीं क़ब्र खोदने वाले मज़दूरों के हाथों में छाले...। केंद्र और राज्य सरकारें अमानवीयता की सभी सीमाओं का अतिक्रमण करती नज़र आयीं। हमारे ख़्वाबों-ख़यालों में भी इंसान-इंसान के बीच भेद या दूरी का तसव्वुर नहीं था। वह भी उस भोपाल में जहां 1947 के रक्तरंजित भारत की तस्वीर के ठीक उलट, ख़ून की कौन कहे, लोगों के माथे से पसीना तक नहीं बहा था। जन-एकता की तमीज़ भी हमें सावयवी समाज की इसी परंपरा और विचारधारात्मक शिक्षा ने सिखायी थी। प्लेग जैसी महामारी और बंगाल के अकाल के निष्कर्ष यही थे कि ऐसी आपदाएं थोड़ी प्रकृति जनित और ज़्यादा सरकार द्वारा स्वार्थजनित ढंग से फैलती हैं। इस संदर्भ में प्लेग पर लिखी राजेंदर सिंह बेदी की कहानी, 'क्वारंटीन' याद आ रही है। उससे छूत की बीमारी की अवधारणा के चलते व्यक्ति-व्यक्ति में दूरी तो थी, लेकिन सामाजिक विघटन नहीं था। गांव के गांव ख़ाली होते तो भी सामूहिक सहकार रहता।

विदेशी सरकार और हमारी सरकारों की जन-उपेक्षा और अमानवीय चेहरे कितने मिलते-जुलते हैं? इस दौर में निज़ाम का वैसा ही कांइयांपन बदइंतज़ामी, भ्रष्टाचार, नाकामियों के भयावह दृश्य नज़र आये हैं। यहां तक कि 'सोशल डिस्टेंसिंग' जैसा पद वैयक्तिक-दूरी के लिए गढ़ा गया, जो समाजशास्त्रीय नज़रिये से सामाजिक विघटन की ध्वनि ही ज़्यादा देता है बनिस्बत महामारी से बचाव के उपाय के। इस वक़्त जिस कोविड-19 नाम के विषाणु ने मौत का विश्वव्यापी तांडव मचाया है, वह भी जितना प्राकृतिक है उससे ज़्यादा राजनीतिक, और आधुनिक-सभ्यता निर्मित है। सबसे ज़्यादा भूमिका सत्ता की है। इस महामारी में सरकार की पाशविक वृत्तियों के चिह्न अमेरिका से भारत तक

बिखरे पड़े हैं। आपदा को अवसर में बदलने का मंत्र ऑक्सीजन, वैक्सीन, वांछित दवाओं, भर्ती के लिए बिस्तरों की कालाबाज़ारी के रूप में फलीभूत हुआ। निजी अस्पतालों का राक्षसी चेहरा भी उजागर हुआ। इन सबने मिलकर एक विषाणुजनित रोग को अमानवीय त्रासद महामारी में बदल दिया। बड़ी त्रासदियों में व्यक्ति की मौत संख्यावाची होकर रह जाती है, लेकिन इस त्रासदी में तो मौतों की संख्या में भी व्यापक घोटाला और हेरफेर हुआ है। मौतों के सरकारी आंकड़ों और कोविड प्रोटोकाल के तहत जलाये, दफ़नाये या रेत में गड़े शवों की संख्या में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है।

पहले जिन त्रासदियों का संकट हमने झेला, उनमें परिचित और आसपास के चेहरे कम से कम थे। इस बार तो दो महीने ऐसे गुज़रे कि हर दिन किसी न किसी आत्मीय के काल कवलित होने का समाचार आया। दुःख तो हर मौत का होता है लेकिन इस बार सबको कुछ मौतों ने यह एहसास दिलाया मानो मौत उनके दरवाज़े पर दस्तक देने वाली है। विनोद तिवारी ने एक शे'र में मौत को रूपक में बांधकर श्रद्धांजलि दी है, 'पीले पड़-पड़ के झड़ गये पत्ते/ हाय बेमौत मर गये पत्ते।'

बेमौत ही हमारे बीच से मंज़ूर एहतेशाम, राजकुमार केसवानी, श्याम मुंशी, महेंद्र गगन और ज़हीर कुरैशी को अपनी जान गंवानी पड़ी। उनको श्रद्धांजलि के लिए आंखों में आंसू नहीं 'लहू' है।

मंज़ूर एहतेशाम : रमज़ान में मौत

इंजीनियरिंग की पढ़ाई अधूरी छोड़कर आये मंज़ूर की पहली कहानी 'रमज़ान में मौत' ने उन्हें अनपेक्षित शोहरत दे दी थी। जब कोरोना ने उनको मौत की नींद सुलाया, वह रमज़ान का ही वक़्त था। पहली कहानी की बुनावट में वे अपना प्रस्थान भी रेखांकित कर रहे हैं, यह वे भी नहीं जानते थे। मैंने उपन्यास, *बशारत मंजिल* पर उनसे बात करते हुए उनके विचार जानने की कोशिश की। जो जाना वह उस छवि से बिल्कुल भिन्न था, जो मंज़ूर के बारे में प्रचारित था और जिसका प्रतिवाद करने की उन्होंने कोई कोशिश नहीं की। मेरे प्रश्नों के संदर्भ में उनके कुछ जवाब-

साहित्य की यात्रा : यह क़तरे से दरिया तक की यात्रा है, जोख़िमभरी तो होनी ही थी। मैं भी अपनी हैसियत से कुछ सार्थक कह सकने के लिए संघर्षरत हूं। --- अपनी जी हुई ज़िंदगी, और दी हुई दुनिया की मैं कितने सूक्ष्म ढंग से व्याख्या कर सकता हूं, यह मेरी अग्नि परीक्षा है।

सोवियत संघ के बिखराव के बाद मार्क्सवाद : मेरा विशुद्ध राजनीतिक साहित्य में विश्वास नहीं, लेकिन मैं मार्क्सवाद का क़द्रदान हूं। उसका चिंतन मानवीय सरोकारों को लेकर था और वह सरोकार साहित्य हो या जीवन से संबद्ध कुछ भी, महत्त्वहीन नहीं हो सकता। मार्क्सवादी विचारधारा भले ही कुछ समय के लिए महत्त्वहीन दिखे, मगर अपने आप में अर्थहीन नहीं हो सकती।

मध्यवर्गीय सांप्रदायिकता : यह नहीं भूलना चाहिए कि सारे सुधार या बिगाड़वादी लोग मध्यवर्ग से आते हैं। यह वर्ग अपनों से ख़ुशहाल लोगों से जलता है और बदहाल समुदाय से निकलकर आता है। इसमें एक ओर जितने उदार लोग होते हैं, दूसरी ओर उतने ही अवसरवादी और पाखंडी। फिर मज़हब को यह अपनी पहली पहचान के रूप में चिह्नित करने लगे तो ईमानदार हिंदू और मुसलमान तो मारा जायेगा, लेकिन इनकी राजनीति को खूब ईंधन मिलेगा, जैसा कि पिछले दौर में लगातार देखने में आता रहा है।

रचनाशीलता में मुस्लिम समाज : विशेषता तो यह कही ही जायेगी, कमी क्यों? मैं समझ नहीं

पाता। मैंने वही लिखा है जो मैं अधिकारपूर्वक लिख सकता था। मुस्लिम समाज और उसके परिवेश के बारे में भी तो लिखा जाना ज़रूरी है, जो मैं लिखूं तो वह मेरी ज़िंदगी का हिस्सा भी होगा।

भारतीय समाज की अवधारणा : आज जो देश शक्तिशाली हैं, वे बाक़ी के साथ खिलवाड़ कर उन्हें बांटने और तोड़ने में लगे हैं। भारत भी अवश्य उनकी सूची में है, क्योंकि वह कभी उनके लिए चुनौती बन सकता है। हमारे समाज को एक बार 1947 में बांटा जा चुका है, और उसके परिणाम हम आज तक भुगत रहे हैं। सारे विरोधाभासों के साथ भारतीय समाज लोगों को आपस में बांधने वाला समाज है, उन्हें एक दूसरे से अलग करने वाला नहीं। हमें उसकी इस शक्ति को बढ़ाना है।

पात्रों में मुस्लिम बहुलता : मेरे लिए असामान्य अंतर्विरोध भारतीय जीवन के संदर्भ में यह है कि हिंदू और मुसलमान को दो अलग-अलग क़ौम या राष्ट्र कह लें उसे! में विभक्त कर दिया जाये। यह अन्याय और बेईमानी है। अपनी सारी भिन्नताओं के बावजूद भारत का मुसलमान जितना यहां के हिंदू के क़रीब है उतना अन्य किसी इस्लामी देश के मुसलमान के नहीं।

मंज़ूर एहतेशाम ने *सूखा बरगद*, *दास्ताने लापता*, *मदरसा* और *बशारत मंजिल* उपन्यासों के ज़रिये ख़ास समाज की कमज़ोरियों, ख़ूबियों, अंतर्विग्रहों को ईमानदारी से उकेरा है। चूंकि मंज़ूर हिंदी के लेखक हैं, नागरी में ही लिखते हैं, इसलिए उनके अधिसंख्य पाठक भी हिंदी भाषाभाषी हैं। इस दौर में जबकि मुस्लिम समाज को सिर्फ़ और सिर्फ़ नकारात्मक नज़रिये से देखने-दिखाने पर बहुमत की सांप्रदायिकता का ज़ोर है वहां मुस्लिम समाज को मंज़ूर ईमानदारी से दिखाते हैं। जंगे-आज़ादी की पृष्ठभूमि में बहावी और ख़िलाफ़त आंदोलन के माध्यम से उन्होंने उस समाज के विद्रूप, सांप्रदायिक चेहरे और राष्ट्रभक्ति के जज़्बे दोनों को ईमानदारी से पेश किया है। मंज़ूर की रचनाएं मुस्लिम समाज का सांस्कृतिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य जानने का गवाक्ष हैं। मुझे लगा, उनको खिराजे-अक़ीदत पेश करने का यही तरीक़ा बेहतर हो सकता है कि उनकी सही तस्वीर पाठकों के सामने पेश की जाये।

राजकुमार केसवानी : एक शख़्स में कितने फ़न

पत्रकार-संपादक-कवि-साहित्यकार-उद्यमी और संगीतविद। एक व्यक्ति में कई-कई क़िस्म का अमलगमेशन। यों खुरदरे चेहरे-मोहरे और अक्खड़ स्वभाव वाले राजकुमार को देखकर कहना मुश्किल था कि बंदे में इतनी ख़ूबियां हैं।

पाकिस्तान से सांप्रदायिक दंश झेल कर आये परिवार में जन्मे राजकुमार के पिता भोपाल में हिंदू महासभा के झंडाबरदार रहे। राजकुमार भोपाल में पैदा हुए। बिल्कुल संभव था और संभवतः स्वाभाविक भी कि उनका स्वभाव-संस्कार हिंदूवादी और मुस्लिम विरोधी होता, लेकिन वे इसके ठीक उलट थे। ज़िद की हद तक सेक्यूलर। ग़रीब मुसलमानों के मोहल्ले में पले-बढ़े, सेफिया कॉलेज में पढ़े राजकुमार ने मुसलमानों को क़रीब से देखा-जाना। उनकी नाख़्वान्दियों, मजबूरियों, ग़ुरबत को पहचाना। इसलिए उनकी दोस्ती में कभी हिंदू-मुसलमान नहीं रहा। सिंधी भाषी होकर भी उन्होंने उर्दू-हिंदी-अंग्रेज़ी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया।

जैसा कि संदर्भ दिया गया है- वे बहुधंधी रहे। लोहे की अलमारियां बनाना, फ़िल्म डिस्ट्रीब्यूशन, प्रेस चलाना, अख़बार निकालना, संगीत के उपकरणों का संग्रह करना, व्यवस्थित संदर्भ लायब्रेरी बनाना जिसे छोटे-मोटे संग्रहालय का दर्जा दिया जा सकता है; लेकिन उनकी इन विशेषताओं

को कम ही लोग जानते हैं। वे प्रसिद्ध हुए भोपाल गैस कांड की पूर्वघोषणा करने और रामनाथ गोयनका अवार्ड पाने तथा अंतर्राष्ट्रीय पत्रकारिता में एक खोजी पत्रकार की पहचान बनाने के कारण। उन्होंने *एन.डी.टी.वी.* से *दैनिक भास्कर* तक में अपनी गहरी पैठ बनायी और प्रतिभा का परिचय दिया। वे न अपने को वामपंथी कहते थे, न मानते थे लेकिन रहते हमेशा मध्य से वाम की ओर झुके हुए। फ़िल्मों पर, संगीत पर उन्होंने बहुत लिखा। *मुग़ले-आज़म* पर तो उनकी बहुचर्चित किताब ही है। कथाकार ज्ञानरंजन के साथ उनकी पत्रिका, *पहल* के संपादन से जुड़ना उनके वैचारिक रुझान को स्पष्ट करने के लिए क़ाफ़ी है।

मुझे याद नहीं आता कि वे कभी बीमार पड़े हों। लेकिन कोविड-19 से वे किसी मुद्दे की तरह जूझे। तक़रीबन महीनेभर उन्होंने मौत से लड़ाई लड़ी। मैंने एक बार उनसे कहा, भोपाल की तहज़ीब को गंगा जमुनी तहज़ीब क्यों कहा जाता है? यहां तो कोलांस-उलझावन और शीरीं नदियों की त्रिवेणी है। वे ठहाका मार कर हंसे और बोले कि बात तो ठीक है। दोआब वालों ने तो पाकिस्तान बनवाया, लेकिन इन नदियों को बांधकर गोंडों के बनाये तालाब ने तो भारत-पाक विभाजन के दौरान भी भोपाल -राज्य में फ़िरक़ावारियत को भाव नहीं दिया। राजकुमार का जाना एक साहसिक पत्रकार और विविधवर्णी प्रतिभा का जाना है। उनके क़रीबी दोस्तों में राजेश जोशी, मंज़ूर एहतेशाम, शशांक जैसे साहित्यकारों के नाम लिये जा सकते हैं। इस सुख-दुख के साथी का प्रस्थान भोपाल को बहुत खल रहा है, शायद उन विधाओं को भी जिनमें वह काम कर रहा था। काश कि उसके सभी प्रोजेक्ट पूरे हो पाते।

जब मौत का जाल पूरे देश पर बिछा हो, तब जबकि अपने परिचितों, रिश्तेदारों, साथियों, साहित्य-संस्कृतिकर्मियों की मृत्यु के भयावह संदेश हों तब निःशब्द होना ही ठीक रहता है। अपने को भोपाल तक ही सीमित रखूं तो हमारे मित्रों और संगठन के साथियों का जाना बुरी तरह साल रहा है।

श्याम मुंशी: हिंदी-उर्दू की परस्परालंबिता के पैरोकार

राजकुमार की तरह श्याम मुंशी की शख़्सियत भी विविधवर्णी थी। जनवादी लेखक संघ मध्यप्रदेश के उर्दू-प्रभाग के वे कार्यकारी अध्यक्ष थे। वैसे उन्होंने फ़ौज में नौकरी की, होटल चलाया, कारों-मोटर साइकिलों की विक्रेता कंपनी के मैनेजर रहे, एक जिम चलाया, हंसा गारमेंट नाम की सिलेसिलाये कपड़ों की दुकान चलायी, जो भोपाल के सांप्रदायिक दंगों में आग की भेंट चढ़ गयी। दुकान मुस्लिम बहुल मोहल्ले जिंसी के चौराहे पर थी। अख़बारों ने इसे मुस्लिम बुनियादपरस्तों की हरकत बताते हुए सांप्रदायिक फ़िज़ा को हवा दी।

श्याम मुंशी को इस भारी नुक़सान और व्यापक प्रचार के प्रभाव में संप्रदायवाद का शिकार हो जाना था, लेकिन इसके विपरीत उनकी आकांक्षा सांप्रदायिक सद्भाव बनाने के लिए बढ़ी। वे हिंदी-उर्दू की परस्परालंबिता के पक्षधर थे। इन भाषाओं का बिलगाव दोनों के लिए ही संघातक है, उनका मानना था। वे उर्दू-फ़ारसी-अंग्रेज़ी-हिंदी के जानकार थे। भोपाल के इतिहास को बदलने, भोपाल का नाम बदलने की सियासी चालों के ख़िलाफ़ मुहिम चलाने वालों के अगुआ दस्ते में थे। शाहीन बाग़ की तर्ज़ पर जब भोपाल के इक़बाल मैदान में लंबा धरना चला तो वे उसकी हिमायत में भी पेश-पेश रहे। निराला नगर के कॉफ़ी क्लब के स्थायी सदस्य थे। भोपाल के जीवंत इतिहास को उन्होंने 'सिर्फ़ नक़्शे क़दम रह गये' नाम से नागरी और अरबी लिपि में लिखा, जिसे महेंद्र गगन ने पहले पहल प्रकाशन से

छापा। उन्होंने कई संगीत उपकरणों की ईजाद की। वे बाक़ायदा उस्ताद अब्दुल लतीफ़ ख़ां गोहदवाले के गंडाबंध शिष्य रहे। एक मोनोग्राफ़ उन्होंने उस्ताद पर भी लिखा। उनका निधन एक हरदिल अज़ीज़ इंसान का जाना ही नहीं है, जलेस म.प्र. के हिंदी-उर्दू के साझा अभियान को गहरी ठेस पहुंचाने वाला भी रहा है। जो योजनाएं बनीं वे कोविडकाल के चलते मूर्त नहीं हो सकीं।

महेंद्र गगन: बहुविध संस्कृति कर्मी

आरंभ से ही जनवादी लेखक संघ से संबद्ध रहे महेंद्र गगन कवि, संपादक और संस्कृति कर्मी थे। *पहले पहल* नामक पाक्षिक निकालते थे जिसका मूल सरोकार साहित्य-कला-संस्कृति ही था। राजनीति या दीगर घटनाएं *पहले पहल* के हाशिये के विषय रहे। उन्होंने परसाई, शरद जोशी, ज्ञान चतुर्वेदी, श्याम मुंशी और मुझे धारावाहिक रूप से छापा। ज़ाहिर है वे संस्कृति में प्रतिरोध के स्वर के हामी थे। प्रतिरोध को वे आंदोलनधर्मिता से अलग सांस्कृतिक मूल्य की तरह प्रस्तुत करने के पक्षधर थे। उनके तीन कविता संग्रह प्रकाशित हैं। चित्रकार मित्र किशोर उमरेकर की स्मृति में दिये शीर्षक *मिट्टी जो कम पड़ गयी* संग्रह में 'विचार' शीर्षक की एक छोटी कविता है, 'सोचा/ वह हुआ नहीं/ हुआ/ वह सोचा नहीं/ होने और सोचने के बीच/ किसकी मनमानी चलती है?' उनका दूसरा चित्रोपम संग्रह है, *तुमने छुआ*।

कौन जानता था कि उसके शब्द यों मूर्त होंगे। महेंद्र सांस्कृतिक कार्यक्रमों, साहित्यिक संगोष्ठियों के बहुविध आयोजक तो थे ही, हर जलसे और त्यौहार में उनकी अनिवार्य उपस्थिति थी। कम उम्र में ऐसे ऊर्जावान साथी का जाना सबको तड़पा गया। संस्कृति के क्षेत्र में शून्य क्या होता है यह दर्शन से नहीं, मैंने महेंद्र के जाने से जाना।

ज़हीर कुरैशी : गीत-गज़ल की उजास

लंबे समय तक *जलेस* की ग्वालियर इकाई के सचिव, अध्यक्ष और संप्रति म.प्र., इकाई के उपाध्यक्ष ज़हीर कुरैशी हिंदी के समर्थ गीतकार-गज़लकार थे। समकालीन कविता की ढब को छंद में उतारने की उनकी ज़िद थी। उन्होंने तत्सम हिंदी में गज़ल को संभव बनाया। गीत में जहां उन्होंने हिंदी के छंद का प्रयोग किया वहीं गज़ल को उन्होंने उर्दू के पारंपरिक व्याकरण से हरगिज़ अलग नहीं होने दिया। वे हाल ही के वर्षों में ग्वालियर से भोपाल आये थे जहां उन्होंने उर्दू अदब के लोगों में हिंदी गज़ल को स्वीकृति दिलायी थी। ज़हीर स्व. रमेश उपाध्याय जी की तरह ही ऑक्सीजन की अनुपलब्धता और वेंटीलेटर बैड न मिलने के शिकार हुए। उनको बुरहानपुर में निकटस्थ रिश्तेदार ने इन सुविधाओं को मुहैया कराने की जानकारी दी। वे वहां ले जाये गये, पर तब तक बहुत देर हो चुकी थी।

भोपाल में राज्य प्रशासन की असफलताओं और झूठ को इतनी बार सोशल मीडिया और सत्यप्रिय चैनलों-समाचार पत्रों ने उजागर किया है कि उस पर कुछ और कहना अब मायने नहीं रखता। इन सब अज़ीज़ों की मैयत तक में न जाने का अफ़सोस बयां करने के लिए कोई शब्द नहीं है। हाली का यह शे'र-

जिसको ज़ख़्मों के हबादस से अछूता समझें
नज़र आता नहीं ऐसा घराना हरगिज़।

मो. 9753425445

स्मृति शेष : राजकुमार केसवानी

राजकुमार केसवानी की याद

विष्णु नागर

उससे हर दस-पंद्रह दिन में बात होती रहती थी, उससे यानी राजकुमार केसवानी से। कभी वह फ़ोन करता,कभी मैं। पंद्रह-बीस दिन पहले मैंने फ़ोन किया। मोबाइल की घंटी बजती रही, फ़ोन उठा नहीं। सोचा कहीं व्यस्त होगा, कुछ देर बाद खुद कर लेगा। पूरा एक दिन गुज़र गया। दूसरे दिन फिर फ़ोन किया। फिर घंटी बजती रही मगर कोई जवाब नहीं। ऐसा कभी होता नहीं था कि वह फ़ोन का जवाब न दे। अक्सर तत्काल ही देता था। तब मैंने कवि- मित्र कुमार अंबुज को फ़ोन किया इस संबंध में,जो उसके संपर्क में रहते थे, तो पता चला कि उसे कोरोना है और वह अस्पताल में भर्ती है। बीच बीच में उसकी हालत के बारे में समाचार लेता रहा। पहले ज्ञानरंजन जी से समाचार लेता रहा,जो उसके और उसके परिवार के बेहद निकट थे। फिर अक्सर उसके बेटे से बात होने लगी। 21 मई की शाम को इसी सिलसिले में फ़ोन किया था तो उसके बेटे ने रोते हुए बताया कि पापा नहीं रहे। पूछा कब हुआ यह? उसने कहा, अभी अभी। न मैं और बातें करने की स्थिति में था, न वह समय ऐसा था, बात आगे और करने का। मैं भी भौंचक था और उस पर तो जैसे पहाड़ ही टूट पड़ा था।

सोचा नहीं था कभी कि उसे श्रद्धांजलि देनी होगी। उम्र उसकी साढ़े सत्तर साल थी। मुझसे क़रीब छह महीने छोटा था। आज के हिसाब से यह किसी के दुनिया से जाने की उम्र नहीं होती, हालांकि सच यह है कि कोई भी उम्र किसी के कभी भी चले जाने की हो सकती है और ख़ासकर इस समय। केसवानी कोरोना होने से पहले मेरी जानकारी में बिल्कुल स्वस्थ था। कभी उसे बुख़ार आया हो, यह भी नहीं सुना। शाम को आठ बजे वह बढ़िया व्हिस्की के एक या दो पैग लगाता था। होश खोने की नौबत शायद ही कभी उसने आने दी हो। जिन्हें वह पसंद करता था,उनके साथ बैठकर पीने खाने का आनंद भी लेता था वरना सामनेवाला कहे भी कि आज राजकुमार तेरे साथ शाम को बैठना है, तो साफ़ मना कर देने में उसे झिझक नहीं होती थी। वह इसके लिए किसी से बहाना नहीं करता था, साफ़ बताता था। उसके पिता एक साल पहले ही गुज़रे थे। वे सौ की उम्र के आसपास ही कहीं थे। उन्हें दूसरी या तीसरी बार राजकुमार के बेटे की क़रीब दो-ढाई साल पहले हुई शादी में देखा था। लगता था कि पिता से जो चीज़ें ली हैं, उनमें उम्र का वरदान भी उसे मिला है। कोरोना से अगर वह ठीक से उबर पाता तो शायद इस उम्र तक पहुंच जाता। बीच बीच में जो पता चलता रहा, उससे लगता है कि कोरोना तो उसे भारी पड़ा ही, कोरोना के कारण गंभीर हालत में उस जैसे स्वस्थ रहे आदमी को अस्पताल भर्ती होना पड़ा, यह सहन करना भी उसके लिए काफ़ी भारी पड़ा। शरीर से कमज़ोर आदमी की तरह इस दुनिया में रहना शायद उसकी कल्पना से बाहर था। मेरा उसके साथ अनुभव यही कहता है।

एक पत्रकार के रूप में उसकी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि का कारण 2-3 दिसंबर,1984 को भोपाल के यूनियन कार्बाइड का गैस कांड था। (संयोग से मैं भी उस रात भोपाल

रेलवे स्टेशन पर मरने से बाल बाल बच गया। हैदराबाद से आ रहा था। रात को रेलवे स्टेशन पर सोने की योजना थी। तभी मालवा की तरफ़ जानेवाली ट्रेन की घोषणा हुई और मैं उसे पकड़ने दौड़ पड़ा।)

उसने क़रीब दो साल की काफ़ी विस्तृत खोजबीन के बाद इस कांड से लगभग दो साल पहले ही भोपाल पर मंडरा रहे इस ख़तरे की चेतावनी दे दी थी। उसने अपने एक छोटे से अख़बार में सबसे पहले इस बारे में लिखा था। फिर *जनसत्ता* ने भी उसकी शायद दो रिपोर्टें छापीं। उस समय इसे किसी ज़िम्मेदार आदमी ने गंभीरता से नहीं लिया। नतीजा वह भयानक दुर्घटना थी। बाद में उसे इस कारण काफ़ी मान्यता भी मिली। पत्रकारिता का प्रतिष्ठित 'रामनाथ गोयनका पुरस्कार' पाने वाला वह पहला इतनी कम उम्र का पत्रकार था। द *न्यूयॉर्क टाइम्स* में भी वह छपा। दुनिया के कई देशों की उसने इस सिलसिले में यात्राएं भी कीं। हिंदी का पत्रकार तो वह था ही मगर अंग्रेज़ी की तमाम पत्र-पत्रिकाओं के लिए भी उसने नियमित रूप से काम किया। विनोद मेहता आदि अंग्रेज़ी के बड़े संपादकों के लिए भी काम किया। एनडीटीवी में भी उसने कुछ वर्ष काम किया। उसे अपने इस काम को मान्यता मिलने की खुशी इतनी नहीं थी, जितनी यह कि काश उसकी चेतावनी को समय पर सुन लिया जाता तो सैकड़ों जानें बच सकती थीं और अनेक पीढ़ियां इसका दंश सहने से बच जातीं। वह स्वयं भी इसका हल्का फुल्का शिकार हुआ था। उसने बरसों से भोपाल गैस हादसे की बरसी पर लिखना बंद कर दिया था, हालांकि दिसंबर का महीना आता और सारे मीडिया की निगाहें उस पर टिक जाती थीं। वह पत्रकारिता के इस मुकुट को पहने रहने में विश्वास नहीं करता था। वह चाहता तो इस पर एक पूरी किताब अंग्रेज़ी या हिंदी में लिख सकता था। उसने ऐसा नहीं किया। उसने हिंदी फ़िल्म संगीत और कलाकारों तक अपने को अधिक सीमित कर लिया। पत्रकारिता की दूसरी चुनौतियों-ख़बरों पर उसने ध्यान दिया। कुछ बरस वह दै*निक भास्कर* के इंदौर संस्करण और भोपाल में उसके रविवारीय संस्करण का भी संपादक रहा। जनरुचि और स्तर को संभालते हुए उसने अच्छे अंक निकाले। वहां भी निर्भीक होकर उसने अपने ठाठ से काम किया।

वह एक साधारण परिवार से उठा था। वह शुरू से विद्रोही तबियत का था, इसलिए उसने जीवन चलाने के साथ कुछ अच्छा करने के लिए कई- कई तरह के उद्यम किये और अपना अनुभव, ज्ञान तथा दिलचस्पियों का क्षेत्र बढ़ाया। उसमें ग़ज़ब का आत्मविश्वास था और वह मुंहफट भी था। कोई भी उसके सामने बनने की कोशिश करता तो वह कड़वी से कड़वी बातें करने से चूकता नहीं था। वह पूरी तरह भोपालमय था, मगर हर जगह छा जाने का, मंच को सुसज्जित करते रहने का उसे कोई शौक नहीं था। उसके खरेपन के कारण बहुत से लोग उससे डरते-घबराते भी थे। वह यारों का यार था। समय पर काम आता था। मंज़ूर एहतेशाम की पत्नी का कुछ महीने पहले कोरोना से निधन हो गया तो वह भोपाल में अकेला मंज़ूर साहब का ऐसा मित्र था,जो क़ब्रिस्तान तक गया। वह मंज़ूर साहब के लिए बहुत फ़िक्रमंद था कि उनका जीवन अब कैसे आगे चलेगा क्योंकि भाभी के बिना यह आदमी एक क़दम आगे नहीं बढ़ सकता। दुर्भाग्य से यह साबित होकर रहा। मंज़ूर साहब को भी कुछ समय बाद कोरोना ले बैठा। पता नहीं राजकुमार को मंज़ूर एहतेशाम के जाने की ख़बर दी गयी थी या नहीं।

मेरे उससे परिचय की शुरुआत भोपाल गैस कांड के सिलसिले में तब हुई थी, जब मैं कुछ समय बाद *नवभारत टाइम्स* के लिए रिपोर्टिंग करने भोपाल गया था। वह मुझे गैस पीड़ितों के बीच ले

गया। डाक्टरों से भी मिलवाया। हर तरह से मेरी मदद की। इसके बाद तो ये संबंध आख़िर तक चलते रहे, बने रहे और बहुत अच्छी तरह बने रहे। वह अभी कोई दो महीने पहले अपनी *मुग़लेआज़म* फ़िल्म पर लिखी किताब पर एक फ़िल्म बनाने की योजना के सिलसिले में एक निर्देशक के निमंत्रण पर दिल्ली बुलाया गया था, तो वहां न होने की वजह से उससे मेरी भेंट न हो सकी, लेकिन फ़ोन पर उससे काफ़ी लंबी बात हुई। जिस पांच सितारा होटल में वह ठहरा था, वहीं जिस निदेशक ने उसे बुलाया था, उसकी निर्माणाधीन फ़िल्म की टीम भी ठहरी थी। वहां प्रसिद्ध अभिनेता रघुवीर यादव से उसकी काफ़ी बातें हुई थीं। बहुत देर तक वह इसी बारे में बातें करता रहा। कुछ समय तक वह राजदीप सरदेसाई के बारे में भी बात करता रहा,जो उसके मित्रों में हैं। उस दिन वह सरदेसाई से नाराज़ था, जो उसने बता दिया था। रवीश कुमार भी उसके अच्छे मित्रों में थे। *मुग़लेआज़म* पर उसकी किताब से रवीश ने हिंदी संसार को एनडीटीवी इंडिया पर परिचित करवाया था। निश्चित रूप से राजकुमार हर काम बहुत मेहनत और समर्पण से करता था। जब तक वह आश्वस्त नहीं हो जाता था, छपने के लिए नहीं भेजता था।

1950 से 70 के दशक तक की हिंदी फ़िल्मों और फ़िल्म संगीत का वह विश्वकोश था। चूंकि उसका उर्दू पर भी अच्छा अधिकार था तो उस ज़माने की हिंदी के साथ उर्दू पत्रिकाओं का भी उसके पास बड़ा भंडार था। *दैनिक भास्कर* में पिछले 14 साल से वह हिंदी फ़िल्म और हिंदी फ़िल्म संगीत पर हर रविवार को एक दिलचस्प स्तंभ लिखा करता था, जो बेहद लोकप्रिय था। मैं उस अख़बार में और कुछ पढ़ूं, न पढ़ूं, यह स्तंभ ज़रूर पढ़ता था। उसे अनौपचारिक बनाने की उसकी शैली से मुझे ऐतराज़ था, जो मैंने उसे बताया भी था। एक और बात थी कि वह उस काल के उन व्यक्तित्वों को बड़े ख़ुलूस से याद करता था तो उनके प्रति आलोचनात्मक दृष्टि से नहीं, प्रशंसा भाव से ही लिखता था, मगर उनके बारे में जानकारियों का वह ऐसा ख़ज़ाना पेश करता था कि मैं उसके स्तंभ को पढ़े बिना रह नहीं पाता था। इसके बावजूद हम एक दूसरे की प्रशंसा से बचते थे। हमारे अलावा करने के लिए इतनी बातें थीं कि इसके लिए हमारे पास न फ़ुरसत थी,न दिलचस्पी। उसके पास हिंदी फ़िल्म संगीत का एक बहुत बड़ा ख़ज़ाना था, जिसमें बहुत सी दुर्लभ चीज़ें हैं, जो वह सुनवाया भी करता था। कई ऐसे मधुर गीत जो किसी फ़िल्म के लिए लिखे और संगीतबद्ध किये गये लेकिन जिनका इस्तेमाल नहीं हुआ। उसके ख़ज़ाने में भोपाल गैसकांड से संबंधित बहुत सी सामग्री भी थी। इस सबका अब क्या होगा, पता नहीं।

वह पत्रकार तो था ही। उसने खुद का एक साप्ताहिक पत्र भी आरंभ में निकाला था। वह मध्यप्रदेश के लगभग सभी नये पुराने नेताओं को अच्छी तरह जानता था और वे भी उसे जानते थे, मगर राजनीतिक दलाली उसने कभी नहीं की। कोई नेता उसे डरा या लालच नहीं दे सका क्योंकि वह पूरी तैयारी से ही कोई काम करता था और अकाट्य तथ्यों के साथ। बीच में उसे फ़ोटोग्राफ़ी का भी शौक लगा था। उसने कुछ कविताएं भी लिखी हैं और उसकी अत्यंत विनम्र और सादा पत्नी सुनीता जी भी कविताएं लिखा करती थीं। इनमें से दोनों की एक दो कविताएं कभी *कादम्बिनी* में छपी हैं। उसकी एक कहानी पढ़ने की याद भी है। एक उपन्यास पर भी वह वर्षों से काम कर रहा था, जो शायद पूर्णाहुति के क़रीब था और एक तरह से उसकी आत्मकथा है। ज्ञानरंजन जी के वह सबसे अधिक निकट था। उन्होंने उसे *पहल* से एक संपादक के रूप में जोड़ा था। उसने उसमें उर्दू की बड़ी और ऐतिहासिक शख़्सियतों पर एक पूरी शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार आ चुकी है। उसने

रूमी की कविताओं का अनुवाद भी किया था। प्रसिद्ध फ़िल्म *मुग़लेआज़म* पर उसने हाल ही में काफ़ीटेबल आकार में एक पुस्तक भी छपवायी थी, जिसका कई भाषाओं में अनुवाद होने की ख़बर है। उसका कुछ और काम भी प्रकाशनाधीन है।

स्मृतियों का वह धनी था। इसका इतना बड़ा ख़ज़ाना उसके पास था कि कभी ख़त्म नहीं होता था। उससे बात का सिलसिला एक बार शुरू होता था तो वह कहां से आरंभ होकर कहां पहुंचेगा और कब तक चलता रहेगा, इसका अंदाज़ कोई लगा नहीं सकता था और वह कभी हांकता नहीं था। यों वह खूब बातें करता था, मगर मैंने एक वीडियो देखा, जिसमें दिल्ली के एक कार्यक्रम में भोपाल गैसकांड पर वह मुख्य वक्ता था, मगर उसने इस विषय पर अपनी बात पांच या छह मिनट में ख़त्म कर दी। मैंने कहा, तुम इतना कम बोले तो उसने कहा कि मैं ऐसे कार्यक्रमों में संक्षिप्त ही बोलता हूं।

वह जो भी तीसमारखां रहा होगा, दोस्तों के लिए वह दोस्त था। उससे बात करना आनंददायक था। वह अपने स्वर्गीय हो चुके दोस्तों में नवीन सागर और एक सरदार मित्र को उसकी शैतानियों के लिए खूब याद करता था। वैसे भोपाल और बाहर की साहित्यिक दुनिया का कोई हमउम्र शायद ही ऐसा रहा हो, जिससे उसके खट्टे-मीठे, कभी मीठे तो कभी खट्टे संबंध न रहे हों। ऐसा कभी नहीं हुआ कि 1984 के बाद मैं कभी भोपाल गया और कम से कम एक शाम उसके साथ नहीं रहा। वह दिल्ली आया तो सुबह आकर शाम को चला गया हो तो अलग बात है, वरना उससे मुलाक़ात होती ही थी। सिवाय आख़िरी बार के, जब वह दिल्ली में था और मैं दिल्ली से बाहर। उसके बग़ैर भोपाल मेरे लिए सूना हो चुका है।

मो. 9810892198

***मीडिया विजिल* से साभार**

Published in Media Vigil dated 22 May 2021

स्मृति शेष : कृष्णदत्त शर्मा

काल ने तभी झपट्टा मारा
जब वे रचनात्मकता के शिखर पर थे

नित्यानंद तिवारी

सवेरे-सवेरे हरिमोहन का फ़ोन आया।

-सर! आपने कुछ सुना?

-नहीं, क्या बात है?

-के. डी. शर्मा नहीं रहे।

एकदम सन्न! यह क्या हो गया!

तीन-चार दिन पहले मैंने उन्हें फ़ोन किया था। मुझे निराला की एक कविता की ज़रूरत थी। मेरे पास जो *निराला रचनावली* थी, उसमें वह पेज फटके ग़ायब हो गया था।

उन्होंने फ़ोन उठाया। बुरी तरह खांसी और ज़ुकाम से परेशान थे। बहुत थके थे। मैंने उनके स्वास्थ्य के बारे में भी नहीं पूछा। उसी हालत में उन्होंने *रचनावली* लेकर उस कविता को पढ़ दिया। मेरा वांछित मुझे मिल गया था।

इस ख़बर के बाद तो अपने ऊपर जो धिक्कार-भाव आया, वैसा धिक्कार मैंने कभी अनुभव नहीं किया था। मैं कैसे इतना स्वार्थी हो गया कि उनकी बीमारी के बारे में भी नहीं पूछा!!

वे मुझसे चार-पांच साल छोटे थे। और जबसे उनसे मेरा प्रगाढ़ परिचय हुआ, तबसे वे मेरे लिए अनिवार्य बन गये थे। वह परिचय एकदम आकस्मिक था। लेकिन बेहद प्रसन्न क्षण की आकस्मिकता! मैं उन्हें जानता था, लेकिन उस दिन जो परिचय हुआ, वह गहरा और गाढ़ा होता चला गया। उस दिन *आलोचना* का नया अंक आया था। उसमें देखा, टी. एस. एलियट पर *आलोचना* के 35 पृष्ठों में उनका बड़ा लेख छपा था। (उस समय अंग्रेज़ी में भी वैसा लेख कोई दूसरा न था। मैंने अंग्रेज़ी के अपने विद्वान मित्रों से पूछा तो उन्होंने बताया कि डॉ. शर्मा ने कुछ ऐसी सामग्री का इस्तेमाल किया था जिसे एलियट की मृत्यु के बाद प्रकाश में आना था और अंग्रेज़ी में इस्तेमाल से पहले डॉ. शर्मा ने अपने लेख में उसका उपयोग कर लिया था। उस लेख से डॉ. शर्मा को बहुत यश मिला था।)

मेरे ऊपर उस लेख का इतना असर हुआ था कि उनका पता लेकर मॉडल टाउन में उनसे मिलने चल पड़ा। हम लोग बहुत देर तक बात करते रहे। उस दिन से वे मेरे लिए अनिवार्य मित्र, छोटे

भाई, विद्वान सहयोगी और सगे हो गये। वे धीरे धीरे मेरे जीवन के बड़े हिस्से में फैलते चले गये।
... वे सब हिस्से अब सुन्न पड़ गये।

वे तीन वर्षों के लिए जापान (टोक्यो यूनिवर्सिटी ऑफ़ फ़ॉरेन लैंग्वेजेज़) में गये थे। सहसा एक दिन रात में फ़ोन आया प्रो. तोशियो तनाका का। वे बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने मुझे बधाई दी और कहा कि 'डॉ. शर्मा ने मेरे (जापान के उक्त विश्वविद्यालय) और दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग का नाम ऊंचा कर दिया है।'

मेरे पूछने पर उन्होंने घटना का ब्यौरा दिया। जापान सरकार के किसी विभाग ने डॉ. शर्मा से कुछ सामग्री का हिंदी में अनुवाद करने का अनुरोध किया था। उन्होंने मना कर दिया। फिर विभाग ने सर्वाधिक पारिश्रमिक के साथ अनुवाद का अनुरोध किया। तब डॉ. शर्मा ने उस अधिकारी से कहा कि वे विश्वविद्यालय के अतिथि अध्यापक हैं, उन्हें किसी पारिश्रमिक की आवश्यकता नहीं। डॉ. शर्मा ने उस अधिकारी से अनुरोध किया कि वे विश्वविद्यालय के कुलपति से इस बात के लिए इजाज़त ले लें; फिर वे बिना किसी पारिश्रमिक के अनुवाद कर देंगे।... और उसके बाद डॉ. शर्मा ने वह काम पूरा किया और अनुरोध के बावजूद उन्होंने पारिश्रमिक नहीं लिया।

यही बात थी जिसके लिए प्रो. तनाका ने मुझे फ़ोन किया था। सचमुच, यह बात गहरी ईमानदारी की थी। मैं भीतर से भर गया था। (उन दिनों मैं विभागाध्यक्ष था।) इससे पता चलता है कि ईमानदारी उनके लिए स्वभावगत विशेषता ही नहीं, सर्वोच्च नैतिकता थी। उन्होंने मुक्तिबोध पर विचार करते हुए 'ईमानदारी' को साहित्यिक आलोचना में महत्त्वपूर्ण प्रतिमान के रूप में प्रस्तावित किया। उन्होंने कुछ ऐसे लोगों के बारे में बहुत तीखा लिखा जो मेरी राय में महत्त्वपूर्ण थे। वे डॉ. शर्मा की निगाह में भी बड़े थे, लेकिन उन्होंने उनमें ईमानदारी का अभाव पाया था।

...जीवन में निहित ईमानदारी, साहित्य सिर्फ़ साहित्य की सच्चाई का ही प्रमाण नहीं है, वह बौद्धिक तर्क-युक्ति का भी सर्वप्रभावी स्रोत है। अपने इस विश्वास और विचार के कारण उन्हें विभाग में कुछ ज़्यादतियों को भी सहना पड़ा। वर्षों तक उनकी सालाना वृद्धि भी रोकी गयी। उन्हें सताने के लिए ही सीनियर लेक्चरर, जिसकी योग्यता वे कई साल पहले अर्जित कर चुके थे, के पद पर लंबे समय तक उन्हें पदोन्नति नहीं दी गयी।

उन्होंने इस आघात को बिना शिकायत सह लिया था। संभवतः इसलिए कि वे अपने काम के लिए प्रतिबद्ध थे। वे साहित्यिक आलोचना के काम में लगे थे। उसी से वे जीवन पाते थे। सेवानिवृत्त होने के बाद वे बहुत अधिक सक्रिय हो गये थे। इस बीच उन्होंने बहुत काम किया। डॉ. रामविलास शर्मा की रचनावली का संपादन किया। उसकी लगभग 250 पृष्ठों की भूमिका लिखी। बहुत पहले उन्होंने *पंचतंत्र* की कहानियों का अनुवाद कर उसकी भी बड़ी भूमिका लिखी थी। उसमें उन्होंने विश्वस्तर पर *पंचतंत्र* पर किये गये कामों और उसकी व्यापक स्वीकृति को प्रस्तावित किया था।

के. डी. शर्मा के रोल मॉडल रामविलास शर्मा थे। उनका व्यक्तित्व अंतरराष्ट्रीय ख्याति का था। के. डी. ने देखा कि कुछ लोग उनसे टकराने में व्यस्त हो गये हैं। जैसे छायावाद काल में कुछ लोग

रामचंद्र शुक्ल से टकराने में रुचि लेने लगे थे, वैसा ही रामविलास शर्मा के साथ घट रहा था। लेकिन एक अंतर था। शुक्ल जी से तो वे लोग टकराये जो अपने समय के साहित्य के पक्षधर थे। इसलिए उन लोगों का टकराना बहुत दूर तक समझ में आता है। लेकिन रामविलास जी से टकराने वाले लोगों में न वह वैदुष्य था और न वह ईमानदारी। इतना ज़रूर हुआ कि वे लोग डॉ. शर्मा से टकराकर कुछ चर्चा में आ गये। के.डी. शर्मा ने प्रबल तर्कों से उन लोगों की आलोचनाओं के हल्केपन को उघाड़ दिया।

डॉ. रामविलास शर्मा के रोल मॉडल प्रेमचंद थे। रामविलास जी ने देखा कि प्रेमचंद का विभाव पक्ष जनता है। प्रेमचंद के साहित्य में जनता एक एस्थेटिक श्रेणी बन गयी थी। जगज़ाहिर है कि प्रेमचंद का विरोध नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, जैनेंद्र, इलाचंद्र जोशी और कुछ नये साहित्य के पक्षधर भी कर रहे थे।

ऐसा लगता है, के. डी. ने प्रेमचंद के साहित्य में निहित 'जनता' श्रेणी (कैटेगरी) के महत्त्व को फिर से उजागर करना चाहा। इस संदर्भ में के. डी. के लेख 'विचारधारा और साहित्य' (*आलोचना*) से कुछ पंक्तियों को उद्धृत कर उन्हें अपनी श्रद्धांजलि देना चाहता हूं। ये अंश ऐसे हैं जो इस समय मणि की तरह चमकते हैं :

> प्रेमचंद की रचनाओं का यही संदेश है कि जनता कला का स्रोत है और उससे अलग रहकर महान साहित्य की रचना नहीं की जा सकती। प्रेमचंद ने अप्रैल 1936 में प्रगतिशील लेखकों के अखिल भारतीय सम्मलेन का सभापतित्व करके एक युगांतकारी आंदोलन का सूत्रपात किया था। इस आंदोलन में जनता के पक्ष-समर्थन पर बल था। (*आलोचना* अंक 62, अक्टूबर-दिसंबर 2019, पृष्ठ-91)

...और तभी से इसका विरोध भी होने लगा था। जन-जीवन के विरुद्ध या कम-से-कम उसे हाशिये पर डालने वाली ताक़तें (जिसका प्रमाण आज के भारतवर्ष में सर्वाधिक प्रबल है) कहती रही हैं :

> देश की स्वाधीनता का उद्देश्य सामने रखना साहित्य को प्रचार मात्र बना देना है। ग़रीब जनता का साथ देना साहित्य में वर्ग-संघर्ष, हिंसा और घृणा को जन्म देना है। प्राचीन रूढ़िवाद का विरोध करना भारतीय संस्कृति का नाश करना है। समाजवादी आदर्श से प्रेरित होना पश्चिम की नक़ल करना है। (वही)

आज समूचे देश के शासकों की यही विचारधारा है। डॉ. के. डी. शर्मा ने लगातार इस विचारधारा का विरोध किया।

उनके प्रति श्रद्धांजलि उनके इस विचार को न केवल याद रखना है बल्कि जितना संभव हो सके, उसके लिए लड़ना भी है।

श्रद्धांजलि! श्रद्धांजलि!!

मो. 9810435834

एक बेक़रार रूह—मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी

नूरैन अली हक़

सांसों की माला जब तक रहेगी शायद उस दिन को कभी नहीं भूल पाऊंगा। दस-बारह वर्षों में वह पहला दिन था, जब मैं उस जादूगर को दुखी देख रहा था। उलझा हुआ, चिंतित, दाढ़ी बढ़ी हुई—जबकि वह तो ऐसा जादूगर था जिसका जादू विशेषकर युवाओं के सर चढ़ कर बोलता था। लोग उसे अपना आदर्श मानते थे। लिखने बैठता तो खाना पीना सब कुछ भूल जाता, बोलता तो मोती रोलता, वक्ता ऐसा कि सुनने वाले अपने अस्तित्व को भूल जाते और उसे ही सुनते रहते। भारतीय उपमहाद्वीप की कई हिंदी एवं उर्दू लेखिकाएं उस पर जान छिड़कतीं लेकिन वह अपनी तबस्सुम पर जान वारता था। दोनों ने जीवन के सुख-दु:ख एक साथ देखे। सांसों की माला टूटी तो दोनों की एक साथ टूट गयी। ड्रॉइंग रूम में बैठकर जादूगर आवाज़ देता और वह छोटे-छोटे क़दमों से बिना देर किये पहुंच जाती। ठीक इसी तरह जादूगर ने क़ब्रिस्तान से पुकारा—और वह वहां भी बिना देर किये पहुंच गयी।

यह 28 मार्च 2021 का दिन था, दोपहर का समय। मैं जादूगर के घर उससे मिलने पहुंचा। *मुर्दाख़ाने में औरत* की कॉपियों के बीच जादूगर उदास बैठा था और पोस्ट करने के लिए पुस्तकें एक लिफ़ाफ़े में पैक कर रहा था। यह बैठक पिछले दस या बारह वर्षों की तुलना में कम समय की रही। मैं चौंक गया, उसकी उदासी मुझसे देखी नहीं जा रही थी, लेकिन मैं कुछ पूछ भी नहीं सका। उसने ख़ुद कहा कि तबस्सुम बीमार है, तब जाकर दुख का कारण समझ में आया।

1963 में आरा में जन्मे मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी वह जादूगर थे, जो उर्दू एंव हिंदी जगत में कथाकार और उपन्यासकार के तौर पर प्रसिद्ध हैं। लगभग 200 कहानियां और पंद्रह उपन्यास मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी को भारत के सबसे महत्वपूर्ण लेखकों में से एक बनाते हैं। 21वीं सदी में किसी ने उन्हें कृष्णचंद्र से जोड़ा तो किसी ने क़लम का मज़दूर कहकर उनकी तुलना प्रेमचंद से करने का प्रयास किया। उन्होंने भी कभी ख़ुद को प्रगतिशील लेखकों से अलग करने का प्रयास नहीं किया। वे ख़ुद कहते थे कि मूल रूप से मैं प्रगतिशील हूं, लेकिन वे कभी भी प्रगतिशील आंदोलन में शामिल नहीं हुए और न ही उन्होंने राजनीतिक लाभ या पद प्राप्त करने का प्रयास किया।

उनकी विचारधारा और उनकी कलाकृतियों के कारण उन्हें आसानी से प्रगतिशील कहा जा सकता है। वे अपनी शैली के आधार पर प्रगतिशील थे। वे औपचारिक रूप से प्रगतिशील लेखक आंदोलन से जुड़े थे या नहीं मुझे नहीं पता, लेकिन वे किसी आंदोलन में सदस्य के रूप में शामिल नहीं रहे क्योंकि किसी का अनुसरण करना, एक निश्चित दिशा-निर्देश के अनुसार लिखना, एक निश्चित प्रकार की सभा में भाग लेना, नारे लगाना उनके बस की बात नहीं थी। वे एक विद्रोही क़िस्म के व्यक्ति

थे. जब उन्हें असहमत होने के लिए कोई उपयुक्त व्यक्ति नहीं दिखता, तो वे खुद से उलझते, खुद से असहमत होते. एक बार वे खुद को जोड़ते और फिर खुद को ही तोड़ देते।

कई विशेषताएं रखने वाले मानव प्रेम के क़ैदी थे वे। वे एक ऐसे लेखक थे जिन्होंने व्यक्तिगत सुखों और दुखों से परे सोचा और लिखा। उन्होंने कभी भी अपनी क़लम के माध्यम से स्वार्थों को साधने का प्रयास नहीं किया, वे अपने उपन्यासों को प्रोजेक्ट करते थे, युवाओं से अपनी कहानियां और उपन्यास पढ़वाना चाहते थे, लेकिन आर्थिक लाभ के लिए नहीं। वे खुद को एक महान उर्दू लेखक, कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में देखना चाहते थे। कोई नया उपन्यास बाज़ार में आते ही बेचैन हो जाते। वे सोचते कि मैं कहीं पीछे छूट रहा हूं और क़लम-काग़ज लेकर बैठ जाते। वे स्वस्थ प्रतिस्पर्धा में विश्वास रखते थे, वे किसी के विरुद्ध मैल नहीं रखते, जो उनके विरोधी होते, आमतौर पर उन्हें जवाब भी नहीं देते। वे दो-चार काम निरंतर और बिना थके करते थे। इनमें (1) सिगरेट के कश के साथ सोचना (2) लिखना (3) युवाओं को प्रोत्साहित करना और उन्हें पढ़ने-लिखने के लिए प्रेरणा देना (4) और अपनी तबस्सुम की प्रशंसा करना और उन्हें प्रोत्साहित करना।

उनकी कहानियों और उपन्यासों का एक स्पष्ट दृष्टिकोण था, जिससे उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। किसी के बुरा-भला कहने से डरते भी नहीं थे। उसी राह पर वे तेज़ दौड़ रहे थे, जिस राह के वे स्वयं निर्माण-कर्ता थे. और इस राह को बनाने में उन्होंने कबीर, सूरदास, रूमी और इक़बाल से पूरा फ़ायदा उठाया। शायद ही उनका कोई ऐसा उपन्यास या कहानी हो जिसमें रूमी और इक़बाल के काव्य से फ़ायदा न उठाया गया हो। इक़बाल के भी उन अशआर और उन विचारों से वे लाभ उठाने के समर्थक थे, जिनमें सूफ़ीवाद या भक्ति का रंग गहरा हो, जिसमें प्रेम और स्नेह का प्रभाव प्रमुख हो।

शायद प्रेम ने ही उन्हें रूमी और इक़बाल का अनुयायी बनाया था। वे दूसरों को क्रोध की आग में जलने से रोकते थे लेकिन उनके जीवन में शायद ही ऐसा कोई दिन बीता हो जिस दिन वे किसी के प्रति अन्याय पर क्रोधित न होते हों। उन्होंने कमज़ोरों, शोषितों और दलितों का समर्थन करना अपना कर्तव्य समझा। ऊपरी सतह से देखा जाये तो *बयान* से लेकर *मुर्दाख़ाने में औरत* तक उनके सभी उपन्यास या उनके अधिकांश उपन्यास भारतीय मुसलमानों के पक्ष में लिखे गये हैं। लेकिन जब कोई गंभीरता से इसके बारे में सोचता है, तो उसे पता चलता है कि उन्होंने मुसलमानों के पक्ष में नहीं, बल्कि समाज की उत्पीड़ित जनता और न्याय के पक्ष में लिखा था।

मूल रूप से वे मानवतावादी थे, उनके पास हिंदू और मुस्लिम का चश्मा नहीं था। उन्होंने व्यवस्था के ख़िलाफ़ लिखा और व्यवस्था के ख़िलाफ़ लिखने में ख़ुद को उपयोगिता की भट्टी में राख नहीं होने दिया। रूमी के मिसरे "हर नफ़स-ए-नौ मी-शुवद दुनिया-ओ-मा" को न सिर्फ़ उन्होंने *ले सांस भी आहिस्ता* में सूत्रधार के रूप में उपयोग किया है बल्कि व्यावहारिक जीवन में भी वे इसके बड़े समर्थक थे। वे जीवन में कुछ नया करना चाहते थे और निरंतर नयी संभावनाओं की तलाश में रहते थे। कुछ नया करने के लिए उत्पीड़ितों और कमज़ोरों के संघर्ष का समर्थन करने के लिए उन्होंने अपनी क़लम का इस्तेमाल किया।

नाला-ए-शबगीर, *ले सांस भी आहिस्ता*, *आतेश-ए-रफ़्ता का सुराग़* और उनके कई अफ़सानों में मानव स्वतंत्रता को विशेष महत्व दिया गया है। वे एक स्तर पर नारीवादी भी थे। इन

उपन्यासों और कहानियों में महिलाओं के पक्ष में आवाज़ उठायी गयी है। उन्हें महिलाओं को मजबूर देखना पसंद नहीं था. वे महिलाओं को उसी तरह आज़ाद देखना चाहते थे जैसे हमारे समाज में पुरुष आज़ाद हैं। वे किसी की आज़ादी छीनने के क़ायल नहीं थे। *टिशू पेपर, बाप और बेटा, दादा और पोता* जैसी कहानियों, *नाला-ए-शब-गीर, ले सांस भी आहिस्ता* आदि उपन्यासों में मानव स्वतंत्रता का दृष्टिकोण स्पष्ट रूप में हमारे सामने आता है। उन्हें मानव संसार को सिकुड़ते हुए देखना पसंद नहीं था, कभी-कभी उनकी कहानियों और उपन्यासों में विरोध की आवाज़ें इतनी तेज़ हो जाती हैं कि कमज़ोर आदमी कांप उठता है।

उन्होंने स्वतंत्रता के अधिकार और गुलामी के ख़िलाफ़ बोलने में कभी संकोच नहीं किया और उनकी यही विशेषता उन्हें अन्य उर्दू-लेखकों से अलग करती है। हो सकता है कि कई लोग उनकी किसी कहानी या उपन्यास में सैकड़ों कलात्मक और तकनीकी कमियां निकाल दें, लेकिन मानव प्रेम और मानव स्वतंत्रता की लगन उनकी कलाकृतियों को समृद्ध बनाती है। वे महिलाओं को आत्मनिर्भर, स्वतंत्र और अपने निर्णय स्वयं लेते देखना चाहते थे। उन्हें रोती, सिसकती और निराश महिलाएं पसंद नहीं थीं। वे महिलाओं में आत्मविश्वास तलाश करते थे।

वह थाने में भी हर महिला को निडर देखना चाहते थे, जहां वह रोये नहीं, फ़रियाद न करे, आंखों में आंखें डाल कर न्याय की बात करे, बल्कि अपने पक्ष में न्याय को छीनने की शक्ति रखती हो। इसी तरह वे नयी पीढ़ी के लोगों के लिए भी स्वतंत्रता चाहते थे, पढ़ने, लिखने और बोलने की स्वतंत्रता, उन्होंने किसी को भी अपनी स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया, उनके सामने कई युवा लोग थे जो उनसे असहमत थे, उनकी कहानियों और उनकी शैली के ख़िलाफ़ बोलते थे, लेकिन वे कभी भी उनकी आवाज़ को दबाते नहीं थे। मैंने यह जानते हुए कि वे उर्दू के जाने-माने आलोचक एवं शोधकर्ता और कथा लेखक शम्सुर-रहमान फ़ारुक़ी को पसंद नहीं करते, फ़ारुक़ी की जम कर प्रशंसा की। फ़ारुक़ी के उपन्यास, *कई चांद सर-ए-आसमां* पर ज़ौक़ी को जो आपत्ति थी उसके ख़िलाफ़ उनसे संवाद किया. वे सुनते रहे, बल्कि उन्होंने स्वीकार किया कि फ़ारुक़ी बड़ा आदमी है। वे कहते थे कि मैं किसी से असहमत होऊं. फ़ारुक़ी, ख़ालिद जावेद, हुसैनुल-हक़, सिद्दीक़ आलम और सैयद मोहम्मद अशरफ़ ही तो हैं जिनसे असहमत हुआ जा सकता है और अपनी लाज भी रखी जा सकती है।

उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में तरह-तरह के किरदारों से परिचय कराया। हो सकता है कि अलग-अलग लोगों को अलग-अलग किरदार पसंद हों। लेकिन उन्हें और उनके उपन्यास लेखन को लंबे समय तक जीवंत रखने वाला चरित्र ओसामा पाशा का है जो *आतिश-ए-रफ़्ता* का मुख्य पात्र है। एक ऐसे भारत में जहां फ़िरक़ावाराना ताक़तें एक संप्रदाय को दूसरे संप्रदाय से लड़वाने की पुरज़ोर कोशिश में लगी हैं, दिन प्रतिदिन असहिष्णुता बढ़ती जा रही है, ऐसे समय में उन्होंने जब व्यवस्था से हट कर हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिकता के बारे में लिखा तो उन्हें ओसामा पाशा के रूप में एक मज़बूत चरित्र मिला जिसका काम रहस्यमय है, जो हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एकता और भाईचारे का प्रसार करता है।

उन्होंने बीच से राजनीति और राजनेताओं को निकाल कर दो संप्रदायों के धार्मिक लोगों को मिलाया और अपने इस उपन्यास से यह संदेश देने का प्रयास किया कि मादर-ए-वतन भारत में जो

सांप्रदायिकता फैली है उसका मूल कारण राजनीति और राजनेता हैं। अगर इन दोनों को भिन्न करके हिंदू और मुसलमान एक साथ चलें तो उनकी ग़लतफ़हमियां दूर होती चली जायेंगी। तत्पश्चात मठों और मंदिरों में भी पूजा की आसानी से इजाज़त होगी। दूसरी ओर, उन्होंने मुसलमानों को यह संदेश भी दिया कि आप बहुसंख्यकों के साथ प्रतिस्पर्धा करके यहां शांतिपूर्ण जीवन नहीं जी सकते। यदि आप अपने और भारत के लिए एक शांत वातावरण देखना चाहते हैं, तो राजनीति से हट कर हिंदू संप्रदाय को आज़मायें। वे अतीत से अब तक आपके साथ खड़े हैं और भविष्य में भी आपको अपना भाई-बंधु मानते रहेंगे और आपके साथ खड़े रहेंगे। उन्होंने एक युवा पात्र के माध्यम से यह संदेश दिया, ताकि युवा पीढ़ी इस रहस्य को समझ सके कि न तो हिंदू और न ही मुसलमान एक दूसरे के शत्रु हैं। अगर आपमें दिल जीतने की प्रतिभा है तो पूरा भारत आपका है। यह पात्र उनके कई महत्वपूर्ण पात्रों में से एक है। हमारे यहां उर्दू और हिंदी में बड़े लेखक, उपन्यासकार और कहानीकार आमतौर पर युवा लोगों को महत्व के योग्य नहीं समझते हैं। वे अपनी किताबें युवाओं को देना भी मुनासिब नहीं समझते, जबकि वे आर्थिक रूप से कमज़ोर होते हैं, युवाओं को पुस्तकें ख़रीदनी पड़ती हैं और इस्टैब्लिश रॉयटर्स को अक्सर किताबें मुफ़्त में मिल जाती हैं। इसके उलट मुशर्रफ़ आलम ज़ौक़ी अधिकांश युवा और नये लेखकों को अपनी पुस्तकें देते, ताकि उनके अंदर विश्वास पैदा हो सके, बोलने और सोचने की क्षमता में सुधार आ सके। यही कारण है कि कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक उर्दू के शोधार्थी और युवा उपन्यासकार इनके नाम और कार्यों से भली-भांति परिचित हैं, और इनके जीवन के बाद भी इन पर शोध कार्य जारी है।

कई उर्दू आलोचक और अन्य लोग उन्हें भावुक समझते थे और यह भी समझते थे कि वे युवा लोगों को भावुक बनाकर अपनी पुस्तकें पढ़वाते हैं, जबकि ऐसा है नहीं। उनकी पूरी कहानी-कायनात को देख लीजिए, वे युवाओं को ध्यान में रख कर कहीं भी भड़काऊ सामग्री नहीं देते। अपनी सिगरेट जला कर माचिस की तीली युवाओं के बिस्तर में लगाने के आदी नहीं हैं, यद्यपि वे भावुकता के हाशिये पर डाल दिये गये लोगों, ग़रीबों, शोषितों, कमज़ोरों के पक्ष में होती थीं। उर्दू सहित कई भाषाओं के कुछ लेखक मानते हैं कि रोमांस, सेक्स और भावुकता परोस कर वे युवाओं के बीच प्रसिद्ध हो जायेंगे, लेकिन ऐसा होता नहीं है।

ज़ौक़ी 80 के दशक के बाद के लेखकों में गिने जाते थे। उन्होंने पहले कहानियां लिखनी शुरू कीं, फिर उपन्यासों की ओर चले गये और अपने अधिकांश बड़े उपन्यास 21 वीं शताब्दी में लिखे, जिनमें *पोकेमान की दुनिया, प्रोफ़ेसर एस की अजीब दास्तान वाया सुनामी, ले सांस भी आहिस्ता, आतिश-ए-रफ़्ता का सुराग़, नाला-ए-शबगीर, मर्गे-ए-अंबोह, मुर्दाख़ाने में औरत* और अप्रकाशित उपन्यास *चौराहे पर खड़ा आदमी* शामिल हैं। इसके अलावा कई कहानियां भी लिखीं। पिछले दस वर्षों में उन्होंने बहुत कम कहानियां लिखीं, मुख्यत: उपन्यास लिखे हैं। ये सभी उपन्यास काफ़ी बड़े हैं, सभी उपन्यास 500 पृष्ठों से अधिक लंबे हैं। एक लेखक के लिए इतना लिखना कोई छोटी बात नहीं है, बल्कि इसके अलावा उन्होंने उपन्यासों पर आलेख, आलोचनात्मक लेख, छायाचित्र, पटकथाएं लिखीं और नये लेखकों की कहानियों और उपन्यासों का संपादन भी किया। कई ऐसे भी हैं जिनकी कहानियों और उपन्यासों में संशोधन करते करते उन्हें साहित्यकार बना दिया। एक उपन्यास तो ऐसा है

जिसे उनके संशोधन के बाद साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। एक लेखक के रूप में देखा जाये तो ज़ौक़ी अपनी उम्र से अधिक लिख कर गये हैं।

उनकी जीवन शैली बहुत अलग थी, वे रो रो कर जीवन को काटते नहीं थे। मैंने अपने जीवन में पहला ऐसा व्यक्ति देखा जो अपने जीवन से दूसरों के जीवन को प्रभावित करना जानता था, उसकी नस-नस में जीवन उबलता था। वे न स्वयं से, न अपने कामों से थकते थे, ऐसा प्रतीत होता था जैसे प्रदिदिन उन्हें नया जीवन मिल रहा है। नयी ऊर्जा से भरा इंसान इतनी जल्दी चला जायेगा, किसी ने सोचा भी नहीं था। उनकी कहानियों, उपन्यासों के अंजाम से लोग स्तब्ध रह जाते थे। 18 अप्रैल 2021 को हुई उनकी मौत ने भी पूरी उर्दू दुनिया को शोक से स्तब्ध कर दिया और फिर 24 घंटे के भीतर तबस्सुम फ़ातिमा ज़ौक़ी की मौत ने लोगों को और अधिक शोक में डुबा दिया। उन्होंने मरते मरते प्रेम ग्रंथ में अपना नाम अमिट कर दिया और वे आज स्वयं एक कहानी, एक उपन्यास बन गये हैं। मुझे नहीं पता कि आने वाली पीढ़ियां उनके उपन्यासों को याद रखेंगी या नहीं, परंतु मुझे विश्वास है कि दोनों की मौत कहानी के रूप में पीढ़ियों तक सुनायी जाती रहेगी और प्रेमग्रंथ में बार बार दोहरायी जाती रहेगी।

मो. 9210284453

शेषनारायण सिंह : स्मृतियां अशेष

जयशंकर गुप्त

शेष जी के बारे में कुछ लिखते हुए भी हाथ कांप रहे हैं। कोविड19 के नाम से दुनिया के तमाम हिस्सों में क़हर बरपानेवाली कोरोना महामारी दिल्ली में हमारे संरक्षक सदृश अग्रज, पत्रकारिता की तक़रीबन सभी विधाओं के पारंगत, वरिष्ठ पत्रकार शेषनारायण सिंह को भी हमसे सदा के लिए छीन ले जायेगी, यह हमारे सोच के भी बाहर की बात थी। उनके कोरोना संक्रमित होने और इलाज के लिए ग्रेटर नोएडा के राजकीय आयुर्विज्ञान संस्थान में भर्ती के बाद भी हमारे जैसे लोगों को लगता था कि जिस तरह से कुछ साल पहले चिकनगुनिया से संक्रमित होने और शरीर में सोडियम की कमी के चलते कंप्लिकेशंस बढ़ जाने के बावजूद वे मौत के मुंह से बाहर आ गये थे, इस बार फिर वे मौत को चकमा दे सकेंगे। इलाज के दौरान उनके लिए प्लाज़्मा की दरकार होने और फिर इसका इंतज़ाम भी हो जाने के बाद हमारा यक़ीन और भी पुख़्ता होने लगा था कि वे हम सबके बीच अपनी चिर परिचित मुस्कान के साथ वापस आ सकेंगे। लेकिन इस बार काल उन पर भारी पड़ गया और 7 मई की सुबह उम्र के 70 पड़ाव पार कर चुके शेष जी के हम सबको अलविदा कहते हुए अनंत की यात्रा पर प्रस्थान कर जाने की मनहूस ख़बर ने मन को व्यथित और विचलित कर दिया।

तक़रीबन डेढ़ साल के कोरोना काल में हमने न जाने कितने प्रियजनों-स्वजनों को खोया है। *देशबंधु* पत्र समूह के प्रधान संपादक ललित सुरजन, हमारे रिश्तेदार पूर्व आयकर आयुक्त, लेखक, आलोचक वीरेंद्र कुमार बरनवाल, भतीजी ललिता, कवि, लेखक, पत्रकार और संपादक रहे, सक्रिय पत्रकारिता के क्षेत्र में हमारे प्रथम गुरु मंगलेश डबराल, पत्रकार मित्र बदरी विशाल, कल्याण बरुआ, उनकी पत्रकार पत्नी नीलाक्षी और अरुण पांडेय से लेकर *हिंदुस्तान* अख़बार में सहकर्मी पत्रकार रहे सुशील शर्मा जैसे अनेक मित्र, रिश्तेदार कोरोना का शिकार होकर इस दुनिया से कूच कर गये। बदरी विशाल, कल्याण और उनकी पत्नी का निधन तो शेष जी के निधन से पहले के एक पखवारे के भीतर ही हो गया था। शेष जी ने *फ़ेसबुक* पर उनके निधन के बाद भावपूर्ण श्रद्धांजलि संदेश भी लिखा था। किसे पता था कि कुछ ही दिन बाद हमें भी उनके बारे में वही कुछ लिखना पड़ेगा जो उन्होंने हम दोनों के दशकों पुराने अभिन्न एवं वैचारिक मित्र रहे, वरिष्ठ पत्रकार बदरी विशाल के लिए लिखा था।

मन तो इन सब प्रियजनों के निधन पर भी बहुत व्यथित और विचलित हुआ था लेकिन हर दिल अज़ीज़ शेष जी का जाना कहीं अंतरमन में गहरे घाव कर गया। उनके निधन के बाद दिल्ली में हमने खुद को इतना असहाय और अनाथ शायद ही कभी महसूस किया हो। उम्र में तक़रीबन चार साल बड़े शेष जी हमारे लिए केवल एक एक वरिष्ठ पत्रकार, *देशबंधु* अख़बार में सहकर्मी भर नहीं, बल्कि एक परम हितैषी, अभिभावक और हमारी ताक़त भी थे। ऐसा केवल हमारे साथ ही नहीं था, पुरानी हो

अथवा नयी पीढ़ी के सभी विधाओं के पत्रकारों के साथ उनका इसी तरह का व्यवहार और रिश्ता था। वे एक सहृदय और मददगार इंसान थे। यहां हम राजनीतिक नेताओं की बात नहीं करेंगे लेकिन उनके निधन पर शोक संवेदनाएं व्यक्त करते समय तमाम स्त्री-पुरुष, युवा पत्रकारों ने उन्हें अपना प्रेरक और मददगार गार्जियन बताया।

इस साल अप्रैल के पहले सप्ताह में हम स्वयं सपरिवार कोरोना संक्रमण की चपेट में आ गये थे। भारतीय प्रेस परिषद की टीम के साथ उत्तर पूर्व के नागालैंड, मणिपुर और त्रिपुरा राज्यों की यात्रा पर होने का पता चलने पर शेष जी की झिड़की भी सुनने को मिली थी कि क्यों बाहर गये। हालांकि उस समय हमारे देश में कोरोना की दूसरी लहर शुरू होने को ही थी और फिर उत्तर पूर्व से लौटने के दो दिन बाद ही हमने कोरोना के टीका (कोविशील्ड) का पहला डोज़ ले लिया था। इसके बावजूद हम कोरोना से संक्रमित हो गये थे। इसकी सूचना हमने सोशल मीडिया के ज़रिये अपने मित्रों, शुभचिंतकों को भी दे दी थी। उस समय भी मित्रों, प्रियजनों के निधन की सूचनाएं व्यथित करने के साथ ही डराती भी थीं। तभी हमने एक दिन शेष जी को फ़ोन किया। पता चला कि वे कोलकाता में टीवी 9 की टीम के साथ थे। हमने थोड़ा आश्चर्य मिश्रित शिकायती लहजे में उनसे कहा कि कोरोना की दूसरी लहर चरम को छूने जा रही है, ऐसे में वे कोलकाता क्यों चले गये। शेष जी ने अपने ख़ास अंदाज़ में कहा कि यहां ऐसी कोई बात नहीं है। सब ठीक है। हमने उन्हें बताया भी कि उत्तर पूर्व से लौटने के बाद पहले हम और फिर परिवार के लोग भी कोरोना संक्रमित हो गये हैं। एक-दूसरे का ख़याल रखने की हिदायतों के बाद बातचीत समाप्त हो गयी थी। बाद में पता चला कि वे खुद भी कोरोना की चपेट में आ गये हैं। महामारी ऐसी कि कोई किसी से मिलने भी न जा सके। बाद में अचानक एक दिन उनकी हालत बिगड़ने और प्लाज़्मा की आवश्यकता की सूचना सोशल मीडिया पर मिलने के बाद कोरोना के प्रकोप से मुक्त हुई हमारी बिटिया सुमेधा ने पूछा कि क्या वह उन्हें प्लाज़्मा दे सकती है। शेष जी उसे बहुत प्यार स्नेह देते थे। पता चला कि उसका प्लाज़्मा नहीं चलेगा। बाद में युवक कांग्रेस के अध्यक्ष बी वी श्रीनिवास और स्थानीय प्रशासन के प्रयास से प्लाज़्मा का भी इंतज़ाम हो गया लेकिन शेष जी को बचाया नहीं जा सका।

शेष नारायण सिंह ज़मीन से जुड़े खांटी पत्रकार थे। राजनीति की उनकी गहरी समझ थी। पत्रकारिता के माध्यम से ताउम्र वे आम आदमी और जनसरोकारों के पक्ष में लिखते-बोलते रहे। राजनीतिक विश्लेषक के तौर पर उनके कई लेख विभिन्न अख़बारों में छपते रहे और वे टीवी चैनलों पर डिबेट में भी हिस्सा लेते रहे। वे लंबे अरसे तक *शहाफ़त* और *इन्किलाब* उर्दू अख़बार के लिए भी नियमित स्तंभ लिखते थे। वे अपने बेबाक, निष्पक्ष एवं सटीक विश्लेषण के लिए जाने जाते रहे। यह भी एक वजह रही कि नौकरियां बदलती रहीं लेकिन वे खुद कभी नहीं बदले। टीवी डिबेट में भी जिन बातों से वे सहमत नहीं होते थे उसे बड़ी ही शालीनता से और साफ़गोई से कह जाते थे। शेष जी अपनी ज़िंदगी में कभी समझौतावादी नहीं थे और धर्मनिरपेक्षता और उदार मूल्यों की रक्षा के लिए वे आख़िरी समय तक अडिग रहे। उनकी धर्मनिरपेक्षता में हिंदू हो या मुसलमान, किसी भी धर्म के कट्टरपंथ और अंध आस्था के लिए कोई जगह नहीं थी। वे भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति की जीती जागती मिसाल थे। उनकी दोनों बेटियों के नाम शबनम और शबाना इस बात के गवाह हैं। उन्होंने

तमाम सामाजिक पूर्वाग्रहों को तोड़ते हुए अपनी दोनों बेटियों के साथ ही पुत्र पप्पू उर्फ सिद्धार्थ सिंह के रिश्ते न सिर्फ़ अंतर्जातीय बल्कि अंतरधार्मिक परिवारों में किये।

18 फ़रवरी 1951 को उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर में लम्भुआ के पास मामपुर गांव में एक मध्यवर्गीय किसान परिवार में पैदा हुए शेषनारायण सिंह ने प्रारंभिक शिक्षा बग़ल के नरेंद्रपुर प्राइमरी स्कूल में तथा उच्च शिक्षा जौनपुर के तिलकधारी सिंह कालेज (अभी पूर्वांचल विश्वविद्यालय) से प्राप्त की थी। इसके बाद कादीपुर के तुलसीदास डिग्री कालेज में दो वर्षों तक अध्यापन किया। इसके कुछ ही समय बाद वे दिल्ली में आ गये। दिल्ली में शुरुआती वर्ष काफ़ी संघर्ष के साबित हुए। लेकिन बच्चों को उच्च स्तर की शिक्षा दिलाने के मामले में उन्होंने कभी कोताही नहीं की और न ही परिस्थितियों से कभी समझौता किया। अक्सर फुरसत के क्षणों में वे अपने जीवन संघर्ष के विभिन्न पहलुओं के बारे में चर्चा करते थे।

1976 से 1989 तक उन्होंने एक कंपनी में नौकरी की लेकिन पत्रकारिता और लेखन उनसे नहीं छूटा। हिंदी, उर्दू और अंग्रेज़ी पर समान पकड़ के साथ उन्होंने कई पत्र-पत्रिकाओं में अपना लेखन लगातार जारी रखा। इस दौरान वे *आकाशवाणी* के लिए हिंदी वार्ता (टॉक सेक्शन) के लिए लगातार लिखते-बोलते रहे। 1990 से 91 तक उन्होंने उदयन शर्मा के संपादन में *संडे आब्ज़र्वर* के लिए नियमित लेखन किया। 1993 में वे पूर्णकालिक पत्रकारिता में आ गये। 1993 में उन्होंने उदयन शर्मा के संपादन के समय *राष्ट्रीय सहारा* में संपादकीय पृष्ठ का कामकाज संभाला। इसी दौरान, 1994 से 1996 तक वे '*बीबीसी* की हिंदी सेवा' से फ्रीलांसर के तौर पर जुड़े रहे। वे लंबे समय तक बीबीसी रेडियो के लिए सुबह अख़बारों की समीक्षा किया करते थे। 1996 से 1998 तक उन्होंने हिंदी दैनिक *जेवीजी टाइम्स* में ब्यूरो चीफ़ का पद भी संभाला। उसी दौरान उनका झुकाव इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की तरफ़ बढ़ा और 1998 से 2004 तक वे *एनडीटीवी* में डिप्यूटी न्यूज़ एडिटर के रूप में जुड़ गये। *एनडीटीवी* से अलग होने के बाद कुछ समय, 2005 से 2008 तक उन्होंने जागरण इंस्टीट्यूट आफ़ मास कम्युनिकेशन में अध्यापन भी किया। 2009 से 2011 तक वे *शहाफ़त* में एसोसिएट एडिटर रहे। इसके बाद 2011 से आख़िरी वक़्त तक वे *देशबंधु* में राजनीतिक संपादक के तौर पर कार्यरत रहे। पत्रकारिता के क्षेत्र में हो रहे बदलावों से वे बखूबी वाक़िफ़ थे। सोशल मीडिया और ख़ासतौर से वे फ़ेसबुक और ट्विटर के माध्यम से भी लोगों से जुड़े रहते थे। बैठे-बैठे बातचीत करते समय भी वे फ़ेसबुक और ट्विटर पर अपनी टिप्पणियां साझा करते रहते थे। तमाम उम्र संघर्षों और किराये के मकान में रहे शेष जी ने ग्रेटर नोएडा में पत्रकारों के 'संवाद अपार्टमेंट' में अपना फ़्लैट ले लिया था। खानपान को लेकर बेहद सतर्क शेष जी अपनी शारीरिक फ़िटनेस के लिए बहुत ध्यान देते थे। ख़ासतौर से चिकनगुनिया और शरीर में सोडियम से कमी के कारण मौत के मुंह से बाहर आने के बाद वे आइएलबीएस के डा. एस के सरीन के परामर्श पर हल्के व्यायाम के लिए जिम का इस्तेमाल भी करने लगे थे।

उनका बड़प्पन ही था कि हमारे बारे में सार्वजनिक मंचों पर और सोशल मीडिया पर भी अक्सर कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण बोल जाते, लिख जाते और हमारे विरोध जताने पर डांट देते, 'चोप्प रहिए। मुझे मालूम है कि किसके बारे में क्या लिखना और बोलना है।' प्रेस क्लब में हों या किसी महंगे होटल-रेस्तरां में, मुझे याद नहीं कि खाने की टेबल पर उन्होंने मुझे कभी बिल भुगतान करने की छूट दी

होगी। यह बताने पर भी कि इतना सक्षम और समर्थ तो हूं ही कि इस बिल का भुगतान कर सकूं, वे सार्वजनिक तौर पर भी डांट देते, 'आप मुझसे छोटे हैं, अनुज हैं, वही रहिए।' हम प्रेस क्लब में गाहे बगाहे दिन में जाते थे। वहां अक्सर और ख़ासतौर से गर्मी के दिनों में हमारा प्रिय पेय सत्तू होता था। जिस समय प्रेस क्लब को एक मुश्त पैसों की बहुत दरकार थी, आजीवन सदस्यता का एक विकल्प दिया गया था। शेष जी ने न केवल खुद बल्कि मुझ पर भी दबाव बनाकर आजीवन सदस्यता का भुगतान करवाया था। वे इंडिया इस्लामिक कल्चर सेंटर के भी सदस्य थे। वहां भी हम अक्सर उनके साथ जाते, नये पुराने मित्रों से मिलते थे। मित्रों के बीच या फिर किसी टीवी चैनल पर भी चर्चा के दौरान किसी राजनीतिक विमर्श में मतभेद होने पर (ऐसा बहुत कम ही होता था) वे हमारी बात मान लेते थे। कहते थे, 'अब जयशंकर कह रहे हैं तो ठीक ही कह रहे होंगे।'

शेष जी एक वरिष्ठ और संजीदा पत्रकार होने के साथ ही पूरी तरह से गंवई, पारिवारिक व्यक्ति भी थे। चार पांच दशकों से दिल्ली में आकर बस जाने के बावजूद उनकी आत्मा अपने सुल्तानपुर के ग्रामीण परिवेश में ही रमती थी। अक्सर अपने गांव जाते, पुराने मित्र, नातेदारों के साथ अपनी तस्वीरों के साथ संस्मरण साझा करते। वे अपनी पत्नी इंदू सिंह के लिए एक अच्छे पति, तीनों बच्चों के लिए अच्छे पिता, बहू विनीता द्विवेदी और दामादों के लिए अच्छे अभिभावक की तरह ही थे। उनके तीनों बच्चों के तीन ही बच्चे हैं। शेष जी अपने दोनों नातियों-श्रेयांश और रियान तथा पौत्र अगस्त्य सिंह को समान स्नेह देते थे। जीवन के अंतिम वर्षों में वे अक्सर इन बच्चों के साथ मित्रवत खेलते-कूदते, सोशल मीडिया के ज़रिये उनमें अपना स्नेह बांटते दिखते थे। वे अपने पौत्र अगस्त्य सिंह से मिलने अक्सर मुंबई चले जाते। उनके साथ जुहू-चौपाटी पर मौज मस्ती करते। घर में उनके साथ शतरंज भी खेलते और सोशल मीडिया पर भी फख्र से बताते थे कि आज वे अगस्त्य सिंह के साथ शतरंज की बाज़ी हार गये। एक समय वे अपनी बच्चियों के साथ भी शतरंज खेलते थे। पिछली बार जब पौत्र अगस्त्य सिंह दिल्ली आये थे तो शेष जी ने उन्हें अपने शुभेक्षु रक्षा मंत्री राजनाथ सिंह से मिलवाया था। उनके साथ तस्वीरें भी साझा की थीं। और यह लिखा भी था कि पता नहीं अगस्त्य सिंह के साथ अब फिर कब मुलाक़ात होगी।

हमारे बच्चों को भी वे उसी शिद्दत से प्यार करते थे जैसे कोई गार्जियन अपने भतीजे-भतीजियों से करते हैं। अब यह सब कौन करेगा। कौन हमें स्नेहिल झिड़कियां देगा। कौन हमारे हर संघर्ष में मज़बूत दीवार की तरह हमें ताक़त देगा। शेष जी, अभी हम सबको आपके गार्जियनशिप और मार्गदर्शन की और बहुत आवश्यकता थी। आप सशरीर भले ही साथ नहीं हों, हमारी यादों में पूर्ववत अपनी चिर परिचित मुस्कराहट और झिड़कियों के साथ रहेंगे, हमेशा।

मो. 9818261133

स्मृति शेष : डॉ. श्रीनिवास द्विवेदी, डॉ. रामसागर सिंह, वनराज भाटिया, सरोज त्रिपाठी, सिब्बन बैजी, शाश्वत रतन

कोरोना से काल कवलित

मुंबई के कुछ मित्र

शैलेश सिंह

डॉ. श्रीनिवास द्विवेदी

दिनांक 16 जुलाई 2021 को अनन्य मित्र, मार्गदर्शक, कवि व नाटककार आदरणीय डॉ. रमेश राजहंस जी का फ़ोन आया, 'एक दुखद ख़बर है।' थोड़ी देर तक उन्होंने पॉज़ लिया, मानो अपने को और अपने से अधिक श्रोता को ख़बर सुनने के लिए तैयार कर रहे हों। फिर बोले, 'डॉ. श्रीनिवास द्विवेदी नहीं रहे।' (जैसा कि विदित हो श्रीनिवास जी भारतीय रिजर्व बैंक में मुख्य महाप्रबंधक पद पर वर्षों तक कार्यरत रहे।) इतना सुनना था कि मैं कुछ शोकपूर्ण विस्मय से भर उठा। सहसा विश्वास ही नहीं हुआ। विश्वास न होने का कारण एक पखवाड़े भर पहले उनसे टेलीफ़ोन पर बातचीत हुई थी। इस बातचीत से पूर्व क़रीब एक महीने पहले मैंने उन्हें फ़ोन किया था और घर-परिवार के बारे में तथा उनके द्वारा संपादित शब्दकोश के बारे में चर्चा की थी। बातचीत के दौरान उनके श्रद्धेय गुरु व भाषाविद् डा भोलानाथ तिवारी के बारे में बातें हुई। मैंने उनसे पूछा कि 'क्या तिवारी जी ने जयशंकर प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ कृति *कामायनी* पर भी कोई पुस्तक लिखी है?' इस पर उन्होंने कहा, 'इसकी जानकारी मुझे नहीं है, पर पता कर बताऊंगा।'

ख़ैर! उस ख़बर को सुनकर मैं सन्न रहा। फिर उनके बारे में बातें होने लगीं। डॉ. रमेश राजहंस से उनके दफ़्तरी जीवन तथा निजी जीवन के बारे में बहुत सी बातें हुई। वैसे श्रीनिवास द्विवेदी मेरे बड़े भाई के मित्र थे। दिल्ली में उन दोनों ने कुछ दिनों तक एक ही दफ़्तर में काम किया था। वे दोनों आठवें दशक में मुंबई आये थे और लगभग एक सप्ताह तक मुंबई में रहे। तभी से श्रीनिवास जी से पारिवारिक संबंध बन गया था। उनसे आत्मीयता का एक कारण और था और वह है उनका भोजपुरी के प्रति अप्रतिम अनुराग। वे हमेशा मुझसे भोजपुरी में ही बातचीत करते थे। भाषा के प्रति उनका दृष्टिकोण बेहद उदारतापूर्ण था। भोजपुरी, अंग्रेज़ी, फ़ारसी , फ्रेंच और संस्कृत के साथ- साथ मराठी भी वे जानते थे, पर उनकी अभिव्यक्ति की पहली पसंद भोजपुरी ही थी। भोजपुरी जानने वालों से वे भोजपुरी में ही बोलना पसंद करते थे।

भोजपुरी पसंद करना और भोजपुरी में अपने को व्यक्त करना ही उनकी विशेषता नहीं थी। वे भाषाविद् थे, कुशल प्रशासक, बैंकर, शब्दकोशकार, वैयाकरण और निबंधकार थे। इन दिनों वे अपनी आत्मकथा लिख रहे थे। उनकी आत्मकथा लगभग पूर्णता के क़रीब थी। संभवतः निधन से पूर्व उन्होंने

उसे पूरा भी कर लिया हो।

डॉ. श्रीनिवास द्विवेदी भारतीय रिजर्व बैंक में आये ही आये थे, अनुवाद कार्य के अलावा उनसे और कोई कार्य नहीं लिया जाता था। उन दिनों हिंदी विभाग का प्रशासन भी जनरल कार्मिक विभाग के ज़िम्मे था। डॉ. द्विवेदी जी ने बैंकिंग संबंधी अनुवाद करते हुए यह महसूस किया कि बैंकिंग कार्य के लिए सामान्य शब्दकोश पर्याप्त नहीं है। उन दिनों क्या -- अब भी अनुवाद कार्य के लिए फ़ादर कामिल बुल्के एस. जे. के अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दकोश ही एकमात्र सहारा था और है। शब्दकोश से गुज़रते हुए उन्होंने महसूस किया कि बैंकिंग कार्य के लिए एक अलग से शब्दकोश की आवश्यकता है। उन्होंने रिज़र्व बैंक के डिप्टी गवर्नर को पत्र लिखा और कहा कि हमें बैंकिंग शब्दावली की ज़रूरत है। उन्होंने तकनीकी शब्दावली आयोग को भी पत्र लिखा, पर वहां से भी कोई संतोषजनक जवाब नहीं आया। डॉ. द्विवेदी ने गृहमंत्रालय राजभाषा विभाग, अनुवाद ब्यूरो, भारत सरकार और वित्त मंत्रालय, वाणिज्य मंत्रालय आदि विभागों को पत्र लिखे और बैंकिंग शब्दावली की मांग की। चारों तरफ़ से उन्हें निराशा ही हाथ लगी। अंत में उन्होंने स्वयं बैंकिंग शब्दावली निर्मित व संपादित करने का प्रस्ताव भारतीय रिजर्व बैंक के उच्च अधिकारियों को भेजा। उनका प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया गया। डॉ. द्विवेदी अपने दैनंदिन कार्य के अलावा बैंकिंग शब्दावली के निर्माण के लिए अतिरिक्त समय देने लगे और इस अतिरिक्त समय की कोई सीमा नहीं थी। अथक परिश्रम, अविचल धैर्य, नि:स्वार्थ भाषा प्रेम, बैंक के प्रति गहरी निष्ठा, दायित्व बोध और प्रतिबद्धता के समुच्चय का ही सुफल था कि बैंकिंग शब्दावली कोश दो वर्ष में ही निर्मित हो गया। भारतीय रिजर्व बैंक ने ही उसे प्रकाशित किया।

फ़ादर कामिल बुल्के एस जे के अंग्रेज़ी-हिंदी *शब्दकोश* को व्यवहृत करते हुए उन्हें बहुत से शब्द ऐसे लगे, जिनके अर्थ बहुत सटीक व हिंदी भूक्षेत्र के अनुरूप नहीं थे। कुछ शब्द ऐसे थे, जिनका बेहतर विकल्प मौजूद था, पर लिया नहीं गया था।

फ़ादर कामिल बुल्के एस जे के *शब्दकोश* की इन सीमाओं को द्विवेदी जी ने पहली बार उसके प्रकाशक सेंट ज़ेवियर्स सोसायटी को सूचित किया। उन्होंने उसे सूचित भर ही नहीं किया अपितु उसके परिवर्धन, संशोधन व संपादन का भी सुझाव दिया। द्विवेदी जी के सुझाव को सोसायटी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और उन्हें संशोधन, संपादन की पूरी छूट भी दे दी। इस तरह से द्विवेदी जी ने शब्दकोश निर्माण की अपनी रुचि को और अधिक विस्तार दिया। लगभग पांच वर्षों के अथक परिश्रम के बाद उन्होंने फ़ादर कामिल बुल्के एस जे के अंग्रेज़ी-हिंदी *शब्दकोश* को संशोधित व संपादित किया। सेंट ज़ेवियर्स सोसायटी ने उनके इस कार्य को जांचा-परखा और उसे निश्चय रूप से बेहतर पाया। शब्दकोश के संपादक के रूप में अब फ़ादर कामिल बुल्के एस जे के साथ-साथ डा श्रीनिवास द्विवेदी जी का भी नाम जाने लगा है। निश्चित रूप से यह हिंदी लेखक बिरादरी के लिए गौरव व महत्व की बात है।

डॉ. श्रीनिवास द्विवेदी हिंदी भाषा व समाज के विरल विद्वान थे। भाषा विकास व शब्दकोश निर्माण में आपके अतुलनीय योगदान के लिए हम आपके सदैव ऋणी रहेंगे। आपके प्रति हम अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

डॉ. रामसागर सिंह

संभवतः जनवरी 1983 का महीना रहा होगा, एक दुबला-पतला व्यक्ति, शाम के धुंधलके में कमरे में दाख़िल हुआ। सिर के बाल करीने से कड़े थे, बावजूद इसके सिर के केशविहीन विन्यास की कलात्मकता को आसानी से देखा जा सकता था। केश की विरलता की अधिकता के प्रभाव के कारण भी चेहरे की आभा में व व्यक्तित्व की पूर्णता में किसी तरह का अभाव या विचित्रता का लेशमात्र भी स्थान नहीं था। शरीर का वज़न लगभग मानक था। कहीं पर भी मांस की अधिकता नहीं थी। थुलथुलापन या मोटापा का लेशमात्र भी चिह्न नहीं था। ऊंचाई औसत भारतीय की, रंग भी वहीं तम्बई था, आंखें बड़ी व मीनाक्ष थीं। ललाट की उपस्थिति साफ़तौर पर देखी जा सकती थी। शरीर का आकर्षण उनके साहस, धैर्य व आत्मविश्वास में ही था। वे हमारे बड़े भाई श्री अजय सिंह के विद्यालय में बतौर शिक्षक कार्यरत थे, या यह कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा कि उनके साथ बड़े भाई श्री अजय सिंह जी उसी विद्यालय में बतौर शिक्षक कार्यरत थे।

सामान्य शिष्टाचार के बाद वे मौन बैठे रहे, क्योंकि उनको पहचानने व जानने वाला वहां कोई नहीं था। उनके परिचित हमारे चाचा जी (राधेकृष्ण सिंह दिवंगत) और बड़े भाई थे। मैं गांव का शर्मीला, चुप्पा और सहमा-सा था (लगभग आगंतुक जैसी स्थिति मेरी ही थी)। मेरी स्थिति ऐसी थी, जैसे वे मेज़बान हों और मैं मेहमान, इसलिए संवाद कुरेदने और दस प्रश्न पूछने पर एक संक्षिप्त-सा मेरा उत्तर होता।

लगभग चालीस मिनट बाद बड़े भाई और एक घंटे बाद चाचा जी आये। इन दोनों से आगंतुक सज्जन की गहरी व आत्मीयता थी। बड़े भाई जो कि स्वयं उसी विद्यालय में अध्यापक थे विद्यालय की बातें होने लगीं। बहुत समय तक प्रबंधक, प्रिंसिपल और अध्यापकों के त्रिकोणात्मक द्वंद्व की बातें होतीं रहीं। चाय और बाद में उन्होंने हम सबके साथ भोजन भी किया। उनमें घर जाने की कोई विकलता या शीघ्रता लगभग नहीं थी। भोजनोपरांत भाई साहब ने हमारा उनसे विधिवत परिचय करवाया। भाई साहब ने बताया कि 'ये हैं हमारे विद्यालय के वरिष्ठ अध्यापक डॉ. रामसागर सिंह। योग और साहित्य के मर्मज्ञ। ये बहुत अच्छे रचनाकार हैं। इनके लेख अख़बारों व पत्रिकाओं में छपते हैं। ये जनवादी लेखक संघ मुंबई के सचिव हैं। नंदकिशोर नौटियाल जी के साथ-साथ शहर के तमाम लेखकों व शायरों से इनका बहुत गहरा संबंध है।' उनके परिचय के बाद भाई साहब ने मेरे बारे में बताया और कहा कि 'ये भी कविता लिखने का शौक फ़रमाते हैं।' उन्हें यह जानकर बड़ा अच्छा लगा कि मेरी भी रुचि भी साहित्य में है। इतना सुनना था कि उन्होंने फ़ौरन ब्रीफ़केस से एक आमंत्रण पत्र निकाला, उसे लिफ़ाफ़े में डाल कर मेरा नाम लिखकर दावतनामा थमा दिया। दावतनामा एक पुस्तक के विमोचन का था। पुस्तक उन्हीं का लिखा शोधग्रंथ था, *रीतिकालीन कवि रसलीन का काव्य*। पुस्तक का विमोचन फ़रवरी के दूसरे सप्ताह में था। विमोचनकर्ता थे तत्कालीन शिक्षा मंत्री सुधाकर राव नाईक। यही सुधाकर राव नाईक बाद में महाराष्ट्र राज्य के मुख्यमंत्री बने।

कार्यक्रम एक लकदक प्रेक्षागृह में किया गया था। प्रेक्षागृह पूरी तरह भरा था। सुधाकर राव नाईक के साथ शहर के कई विधायक, पार्षद व पार्टी के कार्यकर्ताओं का भी हूजूम था। शहर के हिंदी

साहित्य से जुड़े अधिकांश रचनाकार इस विमोचन समारोह में शामिल हुए थे। *नवभारत टाइम्स* के संपादक महावीर अधिकारी, सहायक संपादक व राजनीतिक डॉ. राममनोहर त्रिपाठी, *ब्लिट्ज* के संपादक नंदकिशोर नौटियाल आदि चर्चित शख़्सियतें भी थीं। इस तरह से जनवादी लेखक संघ की पूरी इकाई से मेरा परिचय हो गया। डॉ. दशरथ सिंह, रामप्रसाद त्रिवेदी, नंदकिशोर नौटियाल, डॉ. यदुनाथ चौबे, डॉ. शोभनाथ यादव, इंद्र बहादुर सिंह, राजसुमन, राधेश्याम उपाध्याय, कामरेड सूर्य देव उपाध्याय, रविनाथ सिंह, कामरेड रामपदारथ पांडे, हृदयेश मयंक, सिब्बन बैजी, नीरज कुमार मिश्र आदि। इन सभी की आत्मीयता, स्नेह मार्गदर्शन हमेशा हमें मिलता रहा। (कामरेड सूर्य देव, नंदकिशोर नौटियाल, राधेश्याम उपाध्याय, डॉ. रविनाथ सिंह, डॉ. रामप्रसाद त्रिवेदी, कामरेड रामपदारथ पांडे, डॉ. यदुनाथ चौबे, कथाकार विजय यादव, और सिब्बल बैजी, नीरज कुमार मिश्र की स्मृतियां ही अब शेष हैं।)

कार्यक्रम समय से शुरू हुआ। विमोचन करने के पहले डॉ. रामसागर सिंह ने अपना वक्तव्य दिया। उन्होंने मंत्री जी के समक्ष पुस्तक प्रकाशन की समस्या को बड़े विस्तार से रखा। उनके भाषण को सुनकर सुधाकर राव नाईक ने विमोचन करते हुए उन्हें पच्चीस हज़ार की अनुदान राशि देने की घोषणा की, साथ ही शोध प्रबंध की तीन सौ प्रतियां ख़रीदने का आश्वासन दिया। इस तरह से डॉ. रामसागर सिंह ने अपने आयोजन को बेहद सफल बनाया। इस विमोचन समारोह के बाद कवि सम्मेलन का भी आयोजन था। वीरेंद्र मिश्र, राजस्थान की निर्मला ठाकुर, मुंबई के विजयवीर त्यागी, शैलजा नरहरि, शोभनाथ यादव, रविनाथ सिंह, हृदयेश मयंक आदि कवियों ने अपनी कविताएं पढ़ीं।

काव्य धारा का रस प्रवाहित ही हो रहा था, तभी संचालक महोदय ने मेरा नाम पुकारा। ऐसे लोगों के बीच सहसा अपना नाम सुनकर मैं चौंका और सोचने लगा शायद इस नाम का कोई और कवि हो, पर पास बैठे बड़े भाई के मित्र व अंग्रेज़ी के प्राध्यापक अकबाल राय ने कहा, 'जाओ, तुम्हें ही बुलाया जा रहा है।' मुझे विश्वास ही नहीं हुआ, पर नाम तो मेरा ही पुकारा गया था। मैं अति उत्साहित था। लगभग दौड़ते हुए मैं मंच तक गया। उस समय मेरी उम्र इक्कीस या बाईस साल की थी। मंच पर सभी मंजे हुए कवि थे। उनके बीच कविता सुनाना वाक़ई अप्रत्याशित था। एक छोटी सी प्रेम कविता सुनायी, जिसे सुनकर सभी ने मेरी हौसला-अफ़ज़ाई की। लोगों की तालियां बज रहीं थीं, मुझे महसूस हुआ कि कविता लोगों को पसंद आयी। मैं फूला नहीं समाया। सभी लोगों की निगाहें मेरी तरफ़ थीं। मेरे भाई साहब गर्व से भर उठे।

इस तरह से डॉ. रामसागर सिंह जी से मेरा परिचय पारिवारिक संबंधों के दायरे में हुआ और यह दायरा लगातार बड़ा व मज़बूत होता गया। उस कार्यक्रम के बाद वे अपने विद्यालय की मासिक गोष्ठी में बुलाने लगे। वहां जाने पर शहर के तमाम लेखकों, रचनाकारों से परिचय हुआ। यह परिचय धीरे-धीरे मुझे जनवादी लेखक संघ के क़रीब ही नहीं लाया, बल्कि उससे ऐसा संबंध जोड़ा कि बाक़ी साहित्यिक संस्थाओं के संबंध पार्श्व में चले गये।

डॉ. रामसागर सिंह समाजवादी विचारों के समर्थक थे। लोहिया जी के समाजवादी आंदोलन से भी उनका गहरा लगाव था। इस आंदोलन से जुड़ने के बाद उनके व्यक्तित्व में गुणात्मक परिवर्तन हुए। वे सामंतीय, जातिवादी, धार्मिक व क्षेत्रीय संकीर्णताओं से न केवल मुक्त थे अपितु इन कुरीतियों

पर जमकर प्रहार भी करते थे। डॉ. रामसागर सिंह के मन में बचपन से ही यह लालसा थी कि वे लेखक बनें। पाठ्य-पुस्तकों में लेखकों के स्केच देखकर उनके छात्र जीवन में यह लालसा जागी कि मैं भी लेखन के क्षेत्र में जाऊं। उनके विचार को पंख उस समय लगे जब नवीं के उनके एक अध्यापक ने उनके निबंध को पढ़कर कहा 'अरे यह तो किसी बड़े लेखक की भाषा लगती है।' उनके अध्यापक गीत लिखा करते थे और मंचों पर खूब लहराकर सुनाया करते थे। अपने अध्यापक का प्रतिसाद पा कर उनमें आत्मविश्वास पैदा हुआ। उन्होंने सोचा लेखक बना जा सकता है। उनके गुरु जी ने एक दिन उन्हें बुलाया और लेखन के संबंध में कुछ बातें बतायीं। इन बातों को उन्होंने गांठ में बांध लिया। उन्होंने कहा, 'अपने भीतर कल्पनाशीलता पैदा करो, और यह कल्पना सुनने में सच लगे।' उन्होंने आगे कहा, 'जैसे हम सपना देखते हैं, वैसे ही तुम कल्पना करो। अपने देखे सपने को लिख लिया करो और फिर देखो कि इसमें क्या अविश्वसनीय है। जो भी अंश ऐसा लगे उसे काटकर अलग कर लिया करो और जो सत्य लगे वैसा लिख कर बना लो एक कहानी। बस हो गये लेखक।' उन्होंने कहा, 'पाठ्य-पुस्तक की कहानियों, कविताओं व लेखों को बार बार पढ़ो, ऐसा करने से तुम्हारे भीतर भी कल्पनाशीलता जाग्रत होगी । जो कुछ भी मन में विचार आये उसे लिख लिया करो।'

इस तरह से उनमें लिखने के प्रति आस्था व प्रतिबद्धता पैदा हुई। उनका जीवन आम भारतीयों की तरह बहुत ही संघर्षपूर्ण रहा। इंटरमीडिएट तक की पढ़ाई पूरी करने के बाद वे मुंबई आ गये और यहीं पर एक विद्यालय में बतौर अध्यापक नौकरी शुरू की। उसी विद्यालय में शाम के समय एस टी सी (सेकेंड्री टीचर्स सर्टिफ़िकेट कोर्स) का प्रशिक्षण विद्यालय चलता था। उन्होंने उसे पूरा कर लिया। अब वे एक प्रशिक्षित शिक्षक बन गये, मगर यहीं पर उनकी शिक्षा के प्रति ललक समाप्त नहीं हुई। उन्होंने आगे की पढ़ाई करने के लिए पूना विश्वविद्यालय के एक महाविद्यालय, तलरेजा कालेज, उल्हास नगर के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया। ग्रैजुएशन की कक्षाओं में डॉ. दशरथ सिंह जी पढ़ाया करते थे। इस तरह से डॉ. दशरथ सिंह से उनका परिचय हुआ। यह परिचय प्रगाढ़ मित्रता में बदल गया। उल्हास नगर मुंबई के पश्चिमी उपनगर से लगभग सत्तर किलोमीटर दूर है। वे प्रतिदिन लगभग 140 किलोमीटर की दूरी तय करते। इतना ही नहीं वे सुबह सात बजे अपने विद्यालय पहुंच जाते। लगभग एक बजे तक वे विद्यालय में पढ़ाते, फिर शाम पांच बजे उल्हास नगर पहुंच जाते। इस तरह से सुबह सात बजे से रात्रि ग्यारह बजे तक वे परिश्रम करते रहे। उन्होंने वहां से बीए, बी एड और अंत में हिंदी साहित्य से एम ए किया। पांच वर्ष तक उन्हें शिक्षक और शिक्षार्थी के रूप में कठिन परिश्रम करना पड़ा। यह अथक श्रम उनके शिक्षा के प्रति लगाव का द्योतक था। डॉ. दशरथ सिंह जी के संपर्क में आने के बाद उनका जनवादी लेखक संघ के कई महत्वपूर्ण लोगों से परिचय हुआ। प्रो. चंद्रबली सिंह, सव्यसाची, शील, महादेव साहा, इसराइल, ओम प्रकाश ग्रेवाल, शिवकुमार मिश्र, डॉ. कुंवरपाल सिंह, मो. हसन, आदि। इन नामवर लेखकों से मिलने पर उनका लेखकीय विज़न भी विस्तृत हुआ। उनमें एक विश्वदृष्टि पैदा हुई।

एक तरफ वे जनवादी लेखक संघ से जुड़े थे तो दूसरी तरफ़ समाजवादी पार्टी की राजनीतिक गतिविधियों में भी शिरकत करते रहे। जनवादी लेखक संघ से वे उसकी स्थापना के समय से ही जुड़

गये थे। प्रारंभिक दौर में उन्होंने मराठी के कवि लेखक सुभाष थोरात, प्रिंसिपल नेरूरकर, डा सामंत, पंजाबी के रचनाकार विरदी, गुजराती के रचनाकार मकवाना, सिंधी के लेखक वाटवानी को भी उन्होंने जनवादी लेखक संघ से जोड़कर एक महानगरीय स्वरूप देने का प्रयास किया। उर्दू के ढेर सारे साहित्यकारों को भी उन्होंने जनवादी लेखक संघ की गतिविधियों में शामिल किया। हसन कमाल, महमूद अयूबी, अतहर अज़ीज़, याकूब राही, सागर आज़मी, सूफी आज़मी, अनवर ख़ान आदि। रामसागर सिंह जलेस को हमेशा सक्रिय रखने का प्रयास करते। उल्लास नगर में उन्होंने प्रेमचंद जयंती का आयोजन किया था। डॉ. दशरथ सिंह, राम प्रसाद त्रिवेदी, सूर्यदेव उपाध्याय आदि की वजह से मुंबई जनवादी लेखक संघ की ढेर सारी गतिविधियां रविवार को उल्हास नगर में ही आयोजित की जाती थीं। तो मैं बात प्रेमचंद जयंती की कर रहा था। सन् 1986 या 1987 का साल रहा होगा। इस गोष्ठी में स्थानीय उल्हास नगर के अलावा मुंबई से तक़रीबन बीस लोग गये थे। उस गोष्ठी की सबसे बड़ी उपलब्धि थी मोइनुद्दीन जिनावड़े का लंबा लिखित आलेख। यह आलेख डॉ. मोइनुद्दीन जिनावड़े जी ने ख़ास तौर पर प्रेमचंद जयंती के लिए ही लिखा था। उनके लेख का विषय था, 'प्रेमचंद मुंबई में'। लगभग डेढ़ घंटे तक उन्होंने प्रेमचंद के मुंबई प्रवास का विवरण प्रस्तुत किया। यह विवरण इतना व्यापक था कि आप कह सकते हैं कि उन्होंने लगभग डायरी जैसा प्रत्येक दिन का लेखा-जोखा प्रस्तुत सा कर दिया था। प्रेमचंद कब आये, कहां कहां ठहरे, कौन कौन सी फ़िल्में लिखीं, ये फ़िल्में कहां कहां दिखायी गयीं, उन्हें कितना पैसा मिला, कितने पर अनुबंध हुआ, तथा उन्होंने फ़िल्म लिखने से तौबा क्यों कर लिया आदि बातों का जिनावड़े जी ने बहुत ही रोचक अंदाज़ में ज़िक्र किया था। प्रो. मोइनुद्दीन जिनावड़े के शोधपूर्ण आलेख की खूब चर्चा रही। बाद में डॉ. रामसागर सिंह जी ने प्रेमचंद पर एक प्रेरक कविता पढ़ी। यह कविता उनकी आसु कविता थी। 'लमही का लाल, / किया अदब में कमाल/ है यह हिंदी का भाल / लमही का लाल। उनके लेखन को दुनिया करती है सलाम...।'

वनराज भाटिया

वनराज भाटिया एक ऐसे संगीतकार थे, जिन्होंने अपनी उत्कृष्ट संगीत रचना से संगीत प्रेमियों के अलावा संगीत की धुनों को न समझने वाले साधारण लोगों में भी कर्णप्रिय धुनों से संगीत की चाह पैदा की। उन्होंने भारतीय बाज़ार व उसके उपभोक्ता की बदलती रुचियों को न केवल बारीक़ी से पहचाना बल्कि उनके आस्वाद को भी बदला । वनराज भाटिया के संगीत की धुनें सबसे पहले हमने लिरिल साबुन के विज्ञापन में रेडियो पर सुनी थीं। संभवतः उनकी धुनों ने ही उसे व्यापक लोकप्रियता के सोपान पर प्रतिष्ठित किया । वनराज जी ने संगीत की भारतीय हिंदुस्तानी / शास्त्रीय परंपरा में दीक्षा ली और हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की शास्त्रीयता व उसके बहुस्तरीय नाद सौंदर्य को जानने, समझने और रचने की क़ाबिलियत अपने भीतर पैदा की। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि गुजराती (कच्छी) समाज, (जो कि सांस्कृतिक खूबियों, व्यापारिक उपलब्धियों और आर्थिक संपन्नता के साथ-साथ अपने समाज के उत्थान व उत्कर्ष के लिए जाना जाता है) का सदस्य होने के बाद भी जीवन के अंतिम पड़ाव पर उन्हें घोर आर्थिक विपन्नता का

सामना करना पड़ा। श्याम बेनेगल, गोविंद निहलानी, आमिर ख़ान, आदि के आर्थिक सहयोग व अपील से उनकी स्थिति थोड़ी सुधरी। अपनी परेशानियों से मुक्ति के लिए उन्हें विदेशी क्राकरी, बर्तन व अन्य सामान बेचने को विवश होना पड़ा। पिछले सात सालों से केंद्र में गुजराती अस्मिता की सरकार है। गुजरात में पिछले पच्चीस वर्षों से इसी दल की सत्ता है, पर न तो गुजरात सरकार ने और न ही केंद्र सरकार ने उनकी सुधि ली। वे मुफ़लिसी के गहन तमिस्र में घिरते चले गये। अंबानी, अडानी ने भी इस कच्छ के रत्न की न केवल उपेक्षा की बल्कि उनके कामों के प्रति अक्षम्य उदासीनता का अफ़सोसनाक रवैया अख़्तियार किया। इन सरकारों ने न तो उन्हें कोई पुरस्कार दिया और न ही किसी तरह की पेंशन दी।

वनराज भाटिया का जन्म मुंबई में मई 1927 में एक व्यापारिक परिवार में हुआ था। विद्यालयीन शिक्षा कैम्स कार्नर के न्यू ईरा हाई स्कूल में हुई। उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने मुंबई के प्रतिष्ठित कालेज एलफ़िंस्टन कालेज में प्रवेश लिया। वहां से उन्होंने बी ए आनर्स और अंग्रेज़ी भाषा-साहित्य में स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त की। तत्पश्चात उन्होंने देवधर संगीत महाविद्यालय से चार वर्ष तक हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में प्रशिक्षण लिया।

वनराज भाटिया के घर के क़रीब सुप्रसिद्ध चित्रकार व बचपन के मित्र जहांगीर सबावाला रहते थे। वहां उन्होंने रशियन संगीतकार त्चोल्वस्की का पियानो वादन सुना। उसे सुनकर वे बहुत रोमांचित हुए और पाश्चात्य शास्त्रीय संगीत सीखने का निर्णय लिया। उन्होंने मानेक भगत से चार वर्ष तक पियानो सीखा। कुछ समय के बाद वे पाश्चात्य संगीत की शास्त्रीयता व गहनता सीखने के लिए लंदन गये। वहां उन्होंने रॉयल म्यूज़िक एकेडमी में विभिन्न संगीतज्ञों से संगीत की शिक्षा ली। वहां भी उन्हें स्कालरशिप मिली और चार से पांच वर्ष तक पाश्चात्य संगीत सीखते रहे। लंदन से फ्रांस सरकार की स्कालरशिप पर वे पेरिस गये और वहां भी अपने चार वर्ष संगीत प्रशिक्षण को समर्पित किये। इस तरह से वे1959 में भारत लौटे। यहां आने के बाद उन्होंने सबसे पहले शक्ति मिल की सिल्क साड़ी के विज्ञापन के जिंगल में संगीत दिया।

वनराज भाटिया ने लिरिल, ड्यूलक्स, गार्डेन वरेली, थम्स अप, आदि व्यावसायिक उत्पादन के विज्ञापन में संगीत दिया। उन्होंने लगभग 7000/ सात हज़ार जिंगल्स में अपना संगीत दिया। उन्होंने लगभग छः वर्षों तक दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में रीडर के पद पर रहकर छात्रों को संगीत की बारीक़ियां समझायीं।

वनराज भाटिया ने समानांतर सिनेमा में लगभग सभी फ़िल्मकारों के लिए काम किया। सिनेमा में पहली बार श्याम बेनेगल की फ़िल्म अंकुर में संगीत दिया। वनराज और श्याम बेनेगल की जोड़ी ऐसी बनी कि उनकी हर फ़िल्म में उन्होंने अपना मोहक व कलात्मक संगीत दिया। इतना ही नहीं उन्होंने गोविंद निहलानी, कुंदन शाह, सईद मिर्ज़ा, प्रकाश झा, कुमार साहनी, अपर्णा सेन, विधू विनोद चोपड़ा, आदि फ़िल्मकारों के लिए संगीत दिया।

उन्होंने *निशांत* फ़िल्म में 'घन बरसे सारी रात' में अनूठा प्रयोग किया। इसमें मात्र सारंगी और तबले का उन्होंने प्रयोग किया। कहते हैं, एक बार में ही रिकार्डिंग संपन्न हो गयी। लता मंगेशकर को इस बात का यक़ीन ही नहीं हुआ। रिकार्डिंग के बाद उन्होंने जब उसे दुबारा सुना, तो उन्हें सुखद

आश्चर्य हुआ।

वनराज भाटिया ने लता मंगेशकर, आशा भोंसले, किशोर कुमार, यसुदास और प्रीति सागर की आवाज़ों का फ़िल्मों में इस्तेमाल किया। प्रसिद्ध फ़िल्मकार श्याम बेनेगल ने कहा कि उनके जैसा जीनियस संगीतकार उन्होंने जीवन में दूसरा नहीं देखा। वे हर तरह के बैकग्राउंड पर अनूठा संगीत देने में माहिर थे। उन्होंने *मंथन* में गुजराती, *भूमिका* में मराठी और *सरदारी बेगम* में हिंदुस्तानी संगीत का बेहतरीन प्रयोग किया है। उन्होंने दक्षिण भारतीय संगीत का भी बेहतरीन इस्तेमाल किया है।

वनराज भाटिया को पार्श्व संगीत मास्टर कहा जाता था। संगीत में उन्होंने बेहद नायाब व कामयाब प्रयोग किये। *मंथन* फ़िल्म की ओपनिंग में प्रीति सागर द्वारा गाया गीत, 'मोरे गाम कथा पारे जा' के गीत की गायिका को नैशनल अवार्ड मिला। इस गीत के संगीत में उन्होंने ढोलक, डफली और इकतारे का प्रयोग किया है।

जनसंघर्षों के लिए लगभग एंथम बन गया गीत, 'हम होंगे कामयाब' का अमर संगीत वनराज भाटिया ने ही दिया है। वनराज भाटिया ने श्याम बेनेगल की फ़िल्म, *अंकुर, निशांत, मंथन, भूमिका, जुनून, मंडी, कलयुग, सूरज का सातवां घोड़ा, समर, हरि-भरी,* व विजया मेहता की *पेस्तन जी*, सईद मिर्ज़ा की *मोहन जोशी हाज़िर हो*, कुंदन शाह की *जाने भी दो यारों*, कुमार साहनी की *तरंग, पर्सी*, गोविंद निहलानी की *द्रोहकाल*, अपर्णा सेन की *36 चौरंगी लेन* आदि में अविस्मरणीय संगीत दिया। इसके अलावा वनराज भाटिया ने व्यावसायिक सिनेमा में भी संगीत दिया। प्रकाश झा की *हिप हिप हुर्रे*, *अजूबा, बेटा, घातक, खामोश, परदेश, चमेली, चाइना गेट* जैसी फ़िल्मों का बैक ग्राउंड संगीत दिया।

टी वी सीरियल्स, *वागले की दुनिया, ख़ानदान, तमस*, *लाइफ़ लाइन, नक़ाब* और *भारत एक खोज* आदि में अविस्मरणीय संगीत दिया ।तमस सीरियल के संगीत के लिए उन्हें नेशनल अवार्ड दिया गया। सन् 1989 में उन्हें संगीत नाटक अकादमी अवार्ड से सम्मानित किया गया। उन्हें उनके काम के लिए नागरिक सम्मान पद्मश्री से सम्मानित किया गया।

वनराज भाटिया ने सिनेमा, नाटक, एकल प्रस्तुति , एलबम, ओपेरा, विज्ञापन आदि में अविस्मरणीय व विविध रूप का संगीत दिया है। वनराज भाटिया जैसे देश के एक महान संगीतकार का (एक कच्छी गुजराती का) ऐसा दुखांत बेहद अफ़सोसजनक और चिंता की बात है। वनराज भाटिया ने इस समाज को दिया अपार और पाया बेहद सीमित। इस लेनदेन की दुनिया में हारता वही है जो देना तो जानता है, पर लेना नहीं। कच्छी समाज अपनी उदारता, परोपकारिता, एकता, जातीय अस्मिता के लिए जाना जाता है। वह अपने समाज से बाहर जाकर भी परमार्थ करता रहा है, पर कच्छ व देश का यह रत्न कैसे उनके अनुदान-प्रतिदान के प्रतिसाद से वंचित रह गया, सहसा विश्वास नहीं होता।

ख़ैर! वनराज भाटिया जीवन भर अपनी रचनात्मकता व संगीत के अभिनव प्रयोग से संगीत प्रेमियों को आह्लादित करते रहे। इस दुनिया में आती चतुर्दिक कर्कश आवाज़ों को उन्होंने अपने संगीत से ओज़ोन लेयर की छतरी की तरह कर्णकटु होने से न केवल बचाया अपितु स्वर-माधुर्य के लिए मनुष्य के हृदय में पर्याप्त जगह निर्मित की। पाश्चात्य व भारतीय संगीत की स्वर लहरियों (सिंफ़नी) व

सरगम के आरोह-अवरोह से एक कालातीत संगीत का सृजन किया। हम उनकी स्मृति को शत-शत नमन करते हैं।

सरोज त्रिपाठी

सरोज त्रिपाठी का असमय जाना हम मित्रों के लिए असह्य है। उनके जैसा व्यक्ति, रचनाकार, पत्रकार, मित्र, सहयोगी मिलना आज के समय में विरल व दुर्लभ है। सरोज जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। अन्योन्य ज्ञान-अनुशासनों के न केवल अभ्यासक थे, अपितु उसके पोषक व प्रवक्ता भी। इतिहास, दर्शन, समाजविज्ञान, राजनीति, साहित्य, भाषा, पत्रकारिता जैसे विषय उनके दैनंदिन जीवन व्यवहार का हिस्सा थे। एक ऐसा व्यक्ति जिसे अभी बहुत कुछ देना था,सहसा अपनी तमाम अधूरी योजनाओं को पूरा किये बिना चला गया। उसके विचार, उसके निष्कर्ष और उसकी लोक-शिक्षण की प्रविधियां व प्रवृत्तियां उसे इस ग्लोब पर हांक लगा-लगा कर खोज रही हैं। उनकी आवाज़ें निराश -हताश इस कायनात के दिगंत से छूंछी लौट रहीं हैं। उन्हें कान देनेवाला शख़्स अपनी तमाम इंद्रियों के साथ किसी महायोजना के प्रस्थान पर निकल गयाहै। सरोज जी जैसे बुद्धिजीवी पूरे हिंदी समाज के बौद्धिक जगत में बहुत ही कम हैं। एक तरह से वे अपनी तरह के विरल पत्रकार, क़ानूनविद, मार्क्सवादी बुद्धिजीवी थे। इतिहास, दर्शन, क़ानून, साहित्य, भाषा तथा अर्थशास्त्र व समाज विज्ञान के साथ-साथ विज्ञान के भौतिकी व रसायनशास्त्र में भी उनका ज्ञान आश्चर्य चकित करनेवाला था। वे प्राचीन ज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों व उनके अनुषंगी ज्ञानात्मक विषयों को बेहद सरलतम रूप में सामने रखते थे। वे दृढ़ मार्क्सवादी थे। उनकी मान्यताएं सोवियत रूस, चीन या अन्य समाजवादी देशों के उत्थान-पतन से निसृत नहीं थीं। उन्होंने दुनिया भर के वाम आंदोलनों का गहराई से अध्ययन किया था। कार्ल मार्क्स, फ़्रेडरिक एंगेल्स, लेनिन, माओ के अलावा दुनिया भर के प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों को न केवल आत्मसात किया था, अपितु सप्रसंग उनके उद्धरणों को अपनी बातचीत में उद्धृत भी किया करते थे। उनकी वाम विचारधारा में दृढ़ता व आस्था किसी लोभ-लाभ वश नहीं थी और न ही वे किसी दूसरे छिपे एजेंडे पर काम करते थे। वाम विचार सरणि उनका निजी चुनाव था। एक ब्राह्मण परिवार में जन्म लेने के बाद ब्राह्मणवादी संस्कारों से अपने को वे आसानी से मंडित कर सकते थे, पर वे इससे बड़ी सहजता से मुक्त हो गये। उनमें किसी भी अंश में सनातनी, सामंतीय व ब्राह्मणवादी संस्कार नहीं थे। इतना ही नहीं मिथ्या चेतना भी उनमें नहीं थी।

सरोज त्रिपाठी छात्र जीवन से ही आंदोलनों से जुड़ गये थे। मुंबई जैसे शहर में जहां छात्र आंदोलन की उतनी सघन परंपरा नहीं थी, वहां उन्होंने एक बृहद व बहुत हद तक सफल छात्र आंदोलन चलाया। विज्ञान शाखा से ग्रैजुएट करने के बाद उन्होंने गवर्नमेंट लॉ कॉलेज में विधि स्नातक के लिए प्रवेश लिया। यह बात सन् 1978 की है। मुंबई विश्वविद्यालय ने सहसा फ़ीस बढ़ा दी। आज की तरह उन दिनों निजी विश्वविद्यालय नहीं थे, जहां लाखों रुपये फ़ीस ली जाती है। उन दिनों भारतीय विश्वविद्यालयों का फ़ी स्ट्रक्चर बहुत कुछ समाजवादी देशों की तरह था। अचानक फ़ी वृद्धि से छात्र उत्तेजित हो उठे। सरोज त्रिपाठी जैसे कई छात्रों ने इस अतार्किक फ़ी वृद्धि का विरोध

किया। धीरे धीरे यह विरोध पूरे मुंबई व कोंकण क्षेत्र तक फैल गया। महीनों लोकतांत्रिक तरीक़े से धरना प्रदर्शन, नारेबाज़ी, पोस्टर बाज़ी होती रही, पर विश्वविद्यालय प्रशासन पर जूं तक नहीं रेंगी। अंत में विश्वविद्यालय के कुलपति का घेराव किया गया। उन दिनों वे एल. एल. एम. कर रहे थे। विश्वविद्यालय के कुलपति के दफ़्तर पर आंदोलनरत छात्रों ने कब्ज़ा करके वाइस चांसलर को बंधक बना लिया। छात्रों की कमेटी ने अपने नेता सरोज त्रिपाठी को विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया। सरोज त्रिपाठी ने बतौर मुंबई विश्वविद्यालय के कुलपति की हैसियत से बढ़ी हुई फ़ीस वापस लेने का विश्वविद्यालय प्रशासन को निर्देश दिया और फ़ी वृद्धि वापस ली गयी। मुंबई विश्वविद्यालय के इतिहास में वह घटना दर्ज है। मुंबई के सारे अख़बारों में लीड ख़बर के रूप में सरोज त्रिपाठी का साक्षात्कार छपा।

कई वर्षों बाद उन्होंने टाइम्स ऑफ़ इंडिया समूह के हिंदी अख़बार *नवभारत टाइम्स* में बतौर उप संपादक नौकरी शुरू की। वहां वे उच्च न्यायालय, उपभोक्ता संरक्षण मामले आदि विषयों को कवर करते थे। उपभोक्ता संरक्षण व उपभोक्ता के अधिकारों से संबंधित उनका कालम बेहद महत्वपूर्ण व लोकप्रिय था। सरोज जी में ज़बरदस्त श्रम करने की क्षमता थी वे सप्ताह के सातों दिन दस से बारह घंटे काम करते थे। अख़बार में काम करने के अलावा वे कई साहित्यिक पत्रिकाओं के लिए नियमित व नि:शुल्क स्तंभ लिखते थे। यह उनके सामाजिक व साहित्यिक लेखन की प्रतिबद्धता (कमिटमेंट) की मिसाल थी।

सिब्बन बैजी

जलेस के साथी व प्रसिद्ध रचनाकार सिब्बन बैजी जलेस के स्थापना काल से ही जुड़े थे। उनका पैतृक घर अलीगढ़ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा अलीगढ़ में ही हुई। डाक व तार विभाग में उन्होंने नौकरी शुरू की। नौकरी के दौरान ही उनकी ग़ज़लें लोगों की जुबान पर चढ़कर बोलने लगीं। उनकी ग़ज़लों में एक तरफ़ ब्रजभाषा का माधुर्य व लय है तो दूसरी तरफ़ उर्दू की सघन वैविध्य परंपरा व अंदाज़ेबयां का बांकपन है। उनकी ग़ज़लों में जीवन का समुच्चय एक ख़ास अंदाज़ में दर्ज व व्यक्त हुआ है। वे बड़े सधे तरीक़े से अपनी ग़ज़लों में 'विट' का इस्तेमाल करते हैं। उनमें एक फकीर की-सी फक्कड़ता, बेखुदी और आवारगी थी। अपने इन्हीं गुणों से वे समाज के दलदल में घुसते और मोती निकाल कर लाते। सिब्बन ने ग़ज़लों के साथ साथ उम्दा दोहे भी कहे हैं। उनके कविताओं के दो संग्रह प्रकाशित व चर्चित हो चुके हैं। तक़रीबन बीस साल पहले एक सड़क दुर्घटना में उनका पैर टूट गया था, जिसके कारण आजीवन उन्हें विकलांगता का दंश झेलना पड़ा। जवान बेटे-बहू की मृत्यु की टीस भी उन्हें झेलनी पड़ी। उनके व्यक्तित्व की एक ख़ास बात यह थी कि वे अपने निजी दुखों, परेशानियों को कभी भी अपने ऊपर हावी नहीं होने देते। वे पारिवारिकता का रोना नहीं रोते थे। वे कहते थे कि 'जब भी मैं दुनिया का दुख देखता हूं तो मुझे अपना दुख बहुत छोटा दिखायी देने लगता है।' सिब्बन कमाल के दोस्त थे। यारों के लिए सब कुछ न्योछावर व समर्पित था। दोस्तों के साथ उनकी शामें व रातें गुज़रतीं थीं। वे इन बैठकों में अदब, समाज और राजनीति के साथ साथ तमाम बड़े रचनाकारों की रचनाओं पर बातचीत करते थे। गंगा-जमुनी तहज़ीब के वे एक सच्चे वारिस व उस धारा के उम्दा

रचनाकार थे। मज़हबी कट्टरता और तंगनज़री के वे 'सख़्त विरोधी थे। सांप्रदायिकता के प्रबल विरोधी थे। उनकी रचनाओं में जातीय प्रेम व सद्भावना संत कवियों की तरह निर्मलता से तरंगित होते हैं। उनकी रचनाओं में हिंदी जाति के संघर्ष, शोषण और जीवन का उल्लास सब कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण व उम्दा तरीक़े से व्यक्त हुआ है। राजनीति के स्वर उनकी रचनाओं में मद्धम लय के साथ व्यक्त हुए हैं। सिब्बन जी बेहद संवेदनशील व प्रतिबद्ध रचनाकार थे।

शाश्वत रतन

मुंबई के कथाकार व कवि शाश्वत रतन जी का 18 अप्रैल 2021) को कोविड--19 के संक्रमण के कारण निधन हो गया। वे 64 वर्ष के थे। वे सन् 1998 में झांसी से मुंबई स्थानांतरित हो कर आये थे। वरिष्ठ साथी व निबंधकार तथा सर्वोदय सत्साहित्य प्रबंधक साथी हरिशंकर उपाध्याय ने उनसे परिचय करवाया था, तभी से उनसे गहरा रिश्ता बनता चला गया। उनका संपूर्ण जीवन संघर्षों से भरा था। अभी पिछले वर्ष उन्होंने अपने कई परिजनों को खोया था।

शाश्वत रतन जी मूल रूप से इलाहाबाद के थे। उनका एक कविता संग्रह प्रकाशित हो चुका है। उनकी कहानियां *समकालीन भारतीय साहित्य, हंस, वर्तमान साहित्य* आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। पिछले दिनों *हंस* में छपी उनकी कहानी 'राजा का जूता' बेहद चर्चित हुई थी। शाश्वत जी ने अमरकांत और शेखर जोशी की स्नेह छाया में कथासाहित्य में प्रवेश किया। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो. राजेंद्र कुमार ने उनका एक उपन्यास अपनी पत्रिका में धारावाहिक रूप में प्रकाशित किया था। शाश्वत जी बेहद मिलनसार व सहृदय रचनाकार थे। उन्होंने तय किया था कि पचहत्तर वर्ष की वय के बाद ही मृत्यु के बारे में व्यक्ति को सोचना चाहिए। वे जब आठ वर्ष के थे, तभी उनके पिता की स्नेह छाया उनसे छिन गयी। पिता के निधन के बाद उन्होंने बचपन से ही अपने परिवार की ज़िम्मेदारियां उठानी शुरू कर दी थीं। वे मज़दूरी करते थे और पढ़ते थे। किसी तरह से बारहवीं के बाद उन्होंने व्यापार करने की कोशिश की। उन दिनों रेडीमेड कॉलर लोकप्रिय हुआ करता था, उन्होंने पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के सभी ज़िलों में कॉलर की आपूर्ति की। साथ ही साथ उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा। कक्षा नौवीं में उनकी एक कविता कालेज की गृह पत्रिका में प्रकाशित हुई, जिसे बहुतों ने पसंद किया। उसके बाद से वे लगातार लिखते रहे। जिस विद्यालय में वे पढ़ते थे उसी विद्यालय में पुष्कल जी पढ़ाते थे। इस तरह से पुष्कल जी से उनका सघन परिचय हुआ। वास्तव में पुष्कल जी उनके शिक्षक भी थे। इस तरह से वे पुष्कल जी के साथ छात्र जीवन में ही गोष्ठियों में शिरकत करने लगे। एक गोष्ठी में उनकी मुलाक़ात शेखर जोशी और अमरकांत जी से हुई। इन दोनों का स्नेह व साहित्यिक मार्गदर्शन उन्हें सदैव मिलता रहा। दो वर्ष पहले उन्होंने अपनी एक पत्रिका, *कथाचली* त्रैमासिक शुरू की थी। उसके तीन अंक प्रकाशित हुए। पहला अंक आलोचक वीरेंद्र यादव पर केंद्रित था, जिसकी बहुत चर्चा हुई। *कथाचली* का पांचवां अंक वे भारतीय दलित साहित्य को समर्पित करना चाहते थे, जिसका संपादन उन्होंने बजरंग जी से कराने का निश्चय भी कर लिया था। अब उनकी स्मृति हम सब के बीच रहेगी सदैव।

मो. 9930998587

स्मृति शेष : बिक्रम सिंह

'कहानी सुनने-सुनाने की कला है'

बली सिंह

सन् 1986 की बात है। हम लोगों की एक साहित्यिक मंडली थी जो रिसर्च फ़्लोर, दिल्ली विश्वविद्यालय, से संबंधित थी। उसमें जो लोग शामिल और सक्रिय थे वे आज भी साहित्य में सक्रिय नज़र आते हैं। बिक्रम सिंह उन्हीं में से एक थे. हम लोग कविताएं लिखते-सुनाते थे और वे कहानियां। वे हमारे बीच एक सुलझे हुए और गुरुगंभीर व्यक्ति माने जाते थे, बकौल डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी वे हम सब में सबसे स्थिर और धैर्यवान थे। बिक्रम सिंह से मेरा परिचय पीएच.डी. करने के दौरान उस समय हुआ जब हम लोगों ने रिसर्च फ़्लोर पर बैठना शुरू किया। वे पहले से ही वहां बैठते थे। वे हमसे थोड़ी दूर, थोड़ा अलग से बैठते थे। उनका कहना था कि समय पर थीसिस जमा करना है। जब मैंने पूछा कि कितना समय हो गया तो वे बोले कि यह महत्वपूर्ण नहीं है कि कितना समय हो गया. महत्वपूर्ण यह है कि जैसे ही दो साल हो जायेंगे, जमा करा दूंगा। दो साल से पहले जमा नहीं करा सकते, वर्ना मेरा काम तो लगभग हो ही चुका है। थोड़ा बहुत फिर से देख रहा हूं, अभी तो छह महीने बाक़ी हैं। फिर मुझसे भी कहा कि इसी तरह टारगेट करके दो साल पूरे होते ही अपना भी जमा करा देना, जितना देर करोगे उतना ही नुक़सान रहेगा। मुझे इस बात ने बहुत प्रभावित किया और फिर उनसे मिलने-जुलने का सिलसिला शुरू हो गया. हां, मैंने भी उनकी बात पर अमल करते हुए दो साल पूरे होते ही अपना थीसिस जमा करा दिया था।

जब हम लोग 2001 में द्वारका आये तब बिक्रम सिंह से रेगुलर मिलना-जुलना हुआ। वे पहले से ही डाबरी इलाक़े में रह रहे थे जहां मैं तीन-चार बार गया हूंगा, पर जब भी जाता था, ग़लत गली में घुस जाता था। दरअसल, होता यह था कि मैं जो पहचान गली के शुरू में निश्चित करके आता था वही बदल जाती थी, जैसे टेलर की दुकान और नाई की दुकान। जब अगली बार आता तो अपने तईं सही गली में घुसता, पर काफ़ी दूर चले जाने पर किसी से पूछता तो पता चलता कि टेलर की जगह अब नाई ने ले ली है, और टेलर दूसरी गली में चला गया है। जब एक बार नाई को देखकर घुसा तो पता चला कि यह तो अलग गली है. नाई की जगह हार्डवेयर ने ले ली है। बहरहाल, कुछ वर्षों में बिक्रम भी द्वारका सेक्टर ग्यारह की राम मनोहर लोहिया सोसायटी में आ गये। यह उनके लोहिया से प्रेम को भी दर्शाता है. वे लोहियावादी थे। पर हम लोगों के लिए यह अधिक महत्त्व रखता था कि वे कहानीकार थे. बैठकी में वे कहानी सुनाते थे और हम लोग कविताएं। द्वारिका प्रसाद 'चारुमित्र' जी अक्सर अध्यक्षीय भूमिका में रहते। इसी सोसायटी में शायर नसीम अजमल भी पहले से रहते आये हैं। दोनों के संबंध प्रगाढ़ होते चले गये। इसी बीच द्वारिका जी ने *अनभै सांचा* पत्रिका निकालने की योजना बनायी और हम लोग नसीम अजमल के यहां अक्सर मिलने लगे, जगमोहन राय और मनोज सिंह भी हम लोगों में शामिल हो गये। 2006 में आये प्रवेशांक से शुरू हुआ यह सिलसिला लंबे अर्से तक

चला। बाद के दिनों में बिक्रम सिंह ने गुड़गांव के सेक्टर 23 में मकान बनवा लिया और वे वहीं रहने चले गये। वहां भी हम लोग कई बार मिले, जब भी जाते थे वे खाना ज़रूर खिलाते थे, खुद भी वे अच्छा खाना खाने के शौक़ीन थे। गुड़गांव के घर की तीसरी मंज़िल पर उन्होंने एक बड़ा सा रीडिंग रूम बना रखा था और बाक़ी खुली छत है। उसी में वे बैठकर नियमित रूप से लिखते-पढ़ते और चिंतन करते थे। वहीं उन्होंने मुझे बताया कि वे साहित्य में एक नये सिद्धांत पर काम कर रहे हैं जो गज़ल और समकालीन कविता से संबंधित है, और जिसे उन्होंने 'फ़जी सौंदर्यशास्त्र' का नाम दिया। वे इसको लेकर एक आलोचना की किताब तैयार कर रहे थे, पर वह उनके जीते-जी नहीं आ पायी। उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और एक लाइलाज बीमारी ने असमय ही उन्हें हम लोगों से छीन लिया और इसमें कोरोना का भी कम योगदान नहीं है। लंबे अर्से तक चाहते हुए भी हम लोग मिल नहीं पाये और जब उनको अस्पताल की सबसे अधिक जरूरत थी उस समय स्थितियां उनके इतनी विपरीत हो गयीं कि उन्हें बचाया नहीं जा सका।

बिक्रम सिंह हम लोगों की तरह ही छपने-छपाने में कम रुचि रखते थे। वे कहानियां लिखते और अपने पास रख लेते. बस बैठकी में सुनाकर ही संतोष कर लिया करते थे। उनका एक कहानी संग्रह बहुत पहले आया था, लेकिन दोस्तों के बहुत आग्रह के बाद 2018 में उनके एक साथ पांच कहानी-संग्रह छपे। यहां प्रस्तुत है, उनकी कहानियों पर मेरा एक संक्षिप्त आकलन :

**

हमारे जन-जीवन में उत्तरआधुनिकता का प्रवेश और असर अनेक क्षेत्रों और रूपों में दिखायी पड़ने लगा है। इसे भूमंडलीकरण के रूप में चिन्हित किया जा सकता है। यह दौर, वास्तव में, बहुराष्ट्रीय निगमों के उदय और फैलाव का दौर है। इसे फ्रेडरिक जैम्सन ने पूंजीवाद का तीसरा चरण बताया है और उत्तरआधुनिकता को इसकी ऐतिहासिक परिघटना कहा है। 'उत्तरआधुनिकता पूंजीवाद के तीसरे चरण के सांस्कृतिक उत्पाद का ही सीधा नतीजा है।' उन्होंने स्पष्ट किया है कि पूंजीवादी विकास की तीन मंज़िलें हैं- बाज़ारी पूंजीवाद, एकाधिकारी पूंजीवाद और बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद। इसके आधार पर तीन सांस्कृतिक कालों का प्रस्ताव उन्होंने रखा है- यथार्थवाद, आधुनिकतावाद और उत्तरआधुनिकतावाद। इस तरह यह बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद का सांस्कृतिक प्रतिफलन है जिसकी विशेषता है बहुराष्ट्रीय निगम और बहुराष्ट्रीय बाज़ार व्यवस्था। विश्व स्तर पर इनका फैलाव ही भूमंडलीकरण है। इस व्यवस्था में बहुलता पर ज़ोर है, उत्तरआधुनिकता में भी बहुलता को महत्व दिया गया है। इस व्यवस्था में किसी एक केंद्र के बजाय दूसरों पर निगाह है, उत्तरआधुनिकता में भी यही है। इसमें देश हो सकते हैं, राज्य हो सकते हैं, क्षेत्र हो सकते हैं, अनेक तरह की अस्मिताएं हो सकती हैं, और हां, हाशिये भी हो सकते हैं।

इस दौर में बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद की तथाकथित 'अंतर्राष्ट्रीय उदारवादी लोकतंत्र' क़ायम करने की मुहिम ने संसार भर में नये तरह के अंतर्विरोधों को जन्म दिया है- सार्वभौमिकता और स्थानिकता, केंद्र और हाशियावृत्त, श्रेष्ठता के प्रतिष्ठित प्रतिमान और अस्मितामूलकता तथा सार्वजानिकता और निजता। उत्तरआधुनिकता में अर्थ की बहुलता वास्तव में अस्मिताओं की बहुलता है और अर्थ का 'दमन' अस्मिताओं का दमन है। इसमें सभी तरह की अस्मिताएं शामिल हैं- मानव से

लेकर मानवेतर और प्रगतिकामी से लेकर प्रतिगामी तक की अस्मिताएं।

बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद की उक्त मुहिम व्यावहारिक रूप में भूमंडलीकरण और बाज़ार की संस्कृति का फैलाव ही है जिसकी शुरुआत भारत में सन् 1991 से मानी जाती है। इस दौर के कहानीकार उक्त संस्कृति से दो-चार होते हुए अपनी कहानियों में उसका चित्रण कर रहे हैं। बिक्रम सिंह ऐसे ही कहानीकार हैं जिनकी कहानियों के कई कथानक बाज़ार की संस्कृति से गहन रूप से संबद्ध हैं। वे इसे कथावस्तु में ढालकर कहानियों का रूप देते हैं, यानी उसका क़िस्सों, प्रसंगों से युक्त एक दृश्यात्मक संघटन निर्मित करते हैं, और अंततः उसे एक 'कहन' का रूप दे देते हैं जिसे कहा जा सकता है, सुनाया जा सकता है। बिक्रम सिंह कहानी के इस रूप पर ज़ोर देते हुए कहते हैं कि 'कहानी सुनने-सुनाने की चीज़ है। जब हम कोई कहानी पढ़ते भी हैं तो असल में सुन ही रहे होते हैं.' (*आचार्य का नेटवर्क*, भूमिका, पृ. 8)। बिक्रम सिंह के इस बीच पांच कहानी-संग्रह एक साथ आये हैं : *ब्रह्म पिशाच*, *आचार्य का नेटवर्क*, *जलुआ*, *मुक़दमा और अन्य कहानियां* तथा *अनकही कहानियां*। बिक्रम सिंह एक सचेत कहानीकार थे। वे साहित्य के शिक्षक तो थे ही, एक अच्छे आलोचक भी थे जो अपने समय और समाज को पहचानते थे। उन्होंने आज के दौर पर अपने कहानी-संग्रह, *मुक़दमा और अन्य कहानियां* की भूमिका में लिखा,'अस्सी के दशक के बाद तीन महत्वपूर्ण परिघटनाएं घटीं - उदारीकरण -वैश्वीकरण का आगमन, बाबरी मस्जिद का ध्वंस तथा आरक्षणविरोधी आंदोलन। सबके केंद्र में राजनीति थी। इसके फलस्वरूप धर्मांधता और जातिगत अस्मिताओं के अनेक विकट और जटिल रूप सामने आ रहे हैं। वैश्वीकरण से उत्पन्न जटिलताओं का कुत्सित रूप अभी पूरी तरह सामने नहीं आ पाया है। धीरे-धीरे उनकी पहचान हो रही है।' (*मुक़दमा तथा अन्य कहानियां* , पृ. 5) बिक्रम सिंह की इस बात से तो असहमति का कोई कारण नज़र नहीं आता, लेकिन उक्त परिघटनाओं में एक और परिघटना का जोड़ा जाना अनिवार्य है, और वह है सोवियत संघ का विघटन जिसके उपरांत उदारीकरण-वैश्वीकरण की प्रक्रिया हमारे देश समेत पूरे विश्व में तेज़ होती गयी।

विश्व में बाज़ार की सत्ता कैसे क़ायम की जा रही है! अर्थात् भूमंडलीकरण की परिघटना कैसे घटित हो रही है! उसकी प्रक्रिया, रूप और परिणाम की अभिव्यक्ति बिक्रम सिंह की कहानी, 'दूर देश का राजा' में बख़ूबी हुई है। इस कहानी के पांच हिस्से हैं। पांचों हिस्सों में अलग-अलग तरह के जीवन-रूप मिलते हैं, वैश्वीकरण की अलग-अलग स्थितियां मिलती हैं. कहानी फ़ैंटेसी में लिखी गयी है, जैसे परसाई जी के यहां है। परसाई जी की कहानी, 'सदाचार का ताबीज' में एक राजा के राज्य का रूपक लेते हुए वर्तमान में मौजूद भ्रष्टाचार के प्रसार की प्रक्रिया को हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। बिक्रम सिंह की कहानी राजा के व्यापार में आ रहे भारी-भरक़म घाटे की चिंता से शुरू होती है। यह वास्तव में पूंजीवादी व्यवस्था में आयी मंदी, उसके संकट का ही संकेत है। उससे उबरने का प्रयास ही विश्व बाज़ार व्यवस्था क़ायम करना है, जिसे राजा का एक चतुर सहायक ईजाद करता है, और जिसे 'क्रांतिकारी नुस्ख़े' की संज्ञा दी जाती है। (*जलुआ* पृ. 99)। फिर अन्य देश के राजाओं को इस व्यवस्था से जोड़ा जाता है। कोई नहीं मानता तो उस पर तरह-तरह का दबाव बनाया जाता है। ऐसा ही एक देश मिथ्यावर्त भी है, जहां लोग अतीत में अधिक जीते हैं और वर्तमान में कम। यह देश भी लोगों के विरोध, कुछ सिरफिरे लोगों के विरोध के बावजूद उक्त व्यवस्था को स्वीकार कर लेता है। इस व्यवस्था के लक्षण

कहानीकार ने अपने ही अंदाज़ में बताये हैं : 'इसका मूल मंत्र है कि अब हर चीज़ को बिकने लायक़ बनाना पड़ेगा, हर वस्तु का व्यापार होगा, बुद्धि से लेकर कबाड़ तक सब खप जायेगा। हमारे पास ज़्यादा संसाधन हैं, इसलिए हमें फ़ायदा भी ज़्यादा होगा।' (वही, पृ. 99) यानी एक बाज़ारी संस्कृति का वर्चस्व होगा जिसमें संबंधों का भी कोई मतलब नहीं होगा। हिसाब तो बाप-बेटे का भी होता है- यही मूल मंत्र होगा। दूसरी जो महत्वपूर्ण बात है, वह है कि सरकार ने लोगों की चिंता करनी छोड़ दी है : 'देखो सरकार ने सस्ते इलाज वाला धंधा बंद कर रखा है। इससे सरकार को घाटा होता था।' (वही, पृ.103) और तीसरे 'विरोध का सफ़ाया' (वही, पृ.104)। यानी कल्याणकारी राज्य का सफ़ाया और जो विरोध करेगा उसका भी सफ़ाया। इन दिनों हमारे समाज में सफ़ाई अभियान भी ज़ोरों से चल रहा है। यही नहीं, इसने एक काम यह भी किया कि कुछ देसी छोटे व्यापारियों की 'चिंता' करते हुए उसे 'कम्प्राडोर बुर्जुआजी' बना दिया और नतीजतन यहां के देसी व्यापारियों ने वहां के बड़े-बड़े व्यापारियों के यहां अपना पैसा लगाया। उन्हीं का माल बेचा-ख़रीदा.

कहानी के एक भाग में ग़रीब आदमी की हालत पर भी ग़ौर किया गया है। उसकी हालत ख़राब है, उसे सब्ज़ी तक नसीब नहीं होती, क्योंकि सारी चीज़ें डिब्बों में बंद या मशीनों में चली जाती हैं। मशीन आदमी की कितनी बड़ी शत्रु है, यह इस कहानी से पता चलता है। टैगोर ने बहुत पहले हम लोगों को 'मैन एंड मशीन' नामक निबंध लिखकर चेताया था कि मनुष्य का आगे आने वाला युद्ध मशीन से होगा। ऐसे ही ग़रीब लोग जो मशीन से जूझ रहे हैं और कुछ मिल नहीं रहा है वे चतुर सहायक के पुतले को जूता मारते नज़र आते हैं और राजा फिर से चिंतित दिखायी पड़ रहा है। 'वे लोग नुक्कड़ तक पहुंच कर अपने जूते निकाल लेते थे, फिर उसी पुतले को गिनकर ग्यारह बार मारते थे।' यह इस बात का संकेत है कि लोग इस उदारवादी, विश्व बाज़ार व्यवस्था को भीतर से अस्वीकार कर रहे हैं, क्योंकि इसने मनुष्य-मनुष्य के बीच की खाई को बहुत बढ़ा दिया है, और बाज़ार हो या जीवन वह 'अजीबोग़रीब चीज़ों' से घिर गया है। इस कहानी के अंत में एक उपसंहार है जिसमें लेखक इस कहानी को बाज़ार में ले जाता है, यानी आज के दौर में साहित्य भी बाज़ार का सांस्कृतिक उत्पाद है, लेकिन वहां लेखक को बड़े व्यापारी घास नहीं डालते, यहां तक कि वह 'साहित्य के एक मशहूर थोक-विक्रेता के पास पहुंचा।' (वही, पृ.109)। वहां उन्होंने इसे व्यर्थ का प्रयोग बताया। फिर वह खुदरा व्यापारी के पास गया। उन्हें कॉफ़ी और सिगरेट पिलायी, और उन्होंने कहा 'रचना में ताज़गी तो है.' (वही, पृ.110)। आज के दौर में आलोचना किसी भी सत्ता को पसंद नहीं है। इसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि बाज़ारी संस्कृति ने धीरे-धीरे सबको अपनी गिरफ़्त में ले लिया है और उससे छुटकारा पाने का अभी कोई मार्ग नहीं सूझ रहा है। यहां तक कि साहित्य भी उसकी गिरफ़्त में है और साहित्यकार भी। बिक्रम सिंह की एक अन्य कहानी है, 'आचार्य का नेटवर्क'। इसमें बाज़ार और समय की गति को देखते हुए आचार्य 'दलित विमर्श' को सर्वाधिक महत्व देता है। इसकी वजह यह नहीं है कि वह दलित -उत्पीड़न से विचलित है, वह भीतर से वही है जो पहले था। उसका दृढ़ विश्वास रहा है कि 'भूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ है, और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है।' (*आचार्य का नेटवर्क*, पृ.19). फिर आख़िर क्या वजह है कि आचार्य के लिए दलित विमर्श प्राथमिक हो गया। स्वयं आचार्य से ही जानिए : 'दलितों की समस्याओं पर लेख लिखना आज की डेट में, एक बड़ा काम है। आजकल इसकी बड़ी खपत है।

यह एक पूरी दुनिया है या यूं भी कह सकते हैं कि यह एक सफल उद्योग है, क्योंकि यहां अभी डिमांड और सप्लाई का खेल लंबा चलेगा।' (वही, पृ.16)। आचार्य के अनुसार यह एक सफल उद्योग है जिसका अच्छा-ख़ासा बाज़ार है। वे इसे भीतरी तौर पर स्वीकार नहीं करते वरन् सफल होने के लिए एक आवरण की तरह ओढ़ लेते हैं। ऐसा नहीं है कि वे इसके ज़रिये किसी बदलाव की बयार चलाना चाहते हैं। वे अच्छी तरह से वाक़िफ़ हैं कि इस समाज में जैसा चलता आया है वैसा ही चलता रहेगा। बदलेगा कुछ नहीं। यहां तक कि दलित विमर्श को 'सकर्मक रूप से' अपनाने पर ब्राह्मणों का भी कुछ नहीं बिगड़ेगा, 'इससे हमारा कुछ नहीं बिगड़ेगा। हिंदू समाज एक बहुमंज़िली इमारत की तरह है, जो जिस मंज़िल में पैदा होता है, उसे उसी में मरना होता है। इसलिए अपने भ्रम को दूर करो क्योंकि जो हैं वही रहेंगे।' (वही, पृ.18)। इस कहानी के माध्यम से लेखक उस द्वैतवाद की ओर संकेत करते हैं जिसे हमारे बुद्धिजीवी साधे हुए हैं, यानी वे 'सकर्मक रूप से' दलित या अन्य उत्पीड़ित समुदाय की बात करते हुए प्रगतिशीलता को भी साधे हुए हैं, और साथ ही अपने भीतर ब्राह्मणवाद को भी पाले हुए हैं। द्वैतवाद में दोनों साथ-साथ चल सकते हैं, उसमें कोई ख़तरा नहीं है। ख़तरा वास्तव में द्वंद्ववाद में है। लेखक इस कटु सच्चाई को सामने लाने का महत् कार्य करते हैं कि हमारे यहां के बुद्धिजीवी, जिसमें साहित्यकार भी शामिल हैं, एक द्वैतवाद में जी रहे हैं जो अपने आप में बहुत ही सुविधाजनक है। यही स्थिति हमारे यहां के कुछ संपादकों की भी है। उनके लिए भी रचना से अधिक महत्वपूर्ण दूसरी-दूसरी चीज़ें हैं, मसलन सेवा भाव, संबंध, विज्ञापन और प्रशंसा इत्यादि जिसमें वह फ़ायदा देखता है। रचना की श्रेष्ठता और उसका प्रकाशन इन्हीं सब चीज़ों पर निर्भर करता है, स्वयं रचना पर नहीं। उसकी कथनी और करनी में बड़ा फ़र्क़ है, लेकिन इससे उसको स्वयं कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। उसने इस द्वैतवाद को साध लिया है। इसी से वह संपादक कम, मठाधीश अधिक हो गया है। बिक्रम सिंह की कहानी 'मठाधीश' हमें यही समझाने का प्रयास करती है।

शिक्षा का क्षेत्र भी बाज़ार की सत्ता से कोई अछूता नहीं रह गया है, बल्कि बुरी तरह से प्रभावित हुआ है। उसमें भी शिक्षा को व्यापार या धंधा समझने वाले तथाकथित दलालों की संख्या बढ़ती जा रही है। बिक्रम सिंह की कहानी 'ये फ़साना नहीं' हमें इसी सत्य से रूबरू कराती है। इस कहानी में प्रोफ़ेसर ही नौकरी से लेकर शोषण तक की तमाम ठेकेदारी लिये हुए है। बिक्रम सिंह की कहानियों में शिक्षा-साहित्य से संबंधित सांस्कृतिक रूपों और विमर्शों पर काफ़ी फ़ोकस मिलता है। ये विमर्श हमारे उत्तरआधुनिक दौर के ही हैं।

उत्तरआधुनिक सांस्कृतिक विमर्श की ख़ासियत है कि इसमें संस्कृति मुख्य है और प्रकृति गौण। यही नहीं, उसके अनुसार तो सभी कुछ संस्कृति है, यानी मानव निर्मिति है। इसलिए सभी क्षेत्र सांस्कृतिक विमर्श का हिस्सा हैं- राजनीति भी, समाज भी, बाज़ार भी, संस्थाएं भी और कलाएं भी।

संस्कृति का एक अर्थ उन्नयन भी होता है, यानी उत्थान करना, विकास करना. खेती करना ज़मीन का उन्नयन या उत्थान करना ही है और वह मानव निर्मित भी है। इसलिए उसे संस्कृति कहा गया, यानी कृषि संस्कृति। यह जीने का एक अलग ढंग भी है, अर्थात् जीवन शैली भी संस्कृति ही है। हमारे यहां जीवन शैली भूमंडलीकृत हुई है। हम एक 'ग्लोबल कल्चर' में जी रहे हैं। हमारे खान-पान, रहन-सहन, पहनावे, संगीत, शिक्षा और खेल-कूद में बदलाव आया है, वह एकरूप अधिक होता जा

रहा है। हां! इस बीच एक खाऊ-पीऊ संस्कृति का विकास बहुत तेज़ी से हुआ है। बिक्रम सिंह की कहानी, 'होंगे कामयाब' इस पहलू पर पर्याप्त रोशनी डालती है। बहुत कम पात्रों और उनकी बातचीत के ज़रिये कहानीकार ने उक्त पहलू को, युवाओं की इच्छाओं को मूर्त किया है। इसमें कुल तीन पात्र हैं- संजीवानंद, पवनेश और कुलभूषण पांडेय। तीनों रिसर्चर हैं। जब वे शाम को मिले तो 'बादल गड़गड़ाने लगे थे। हवा में नमीं आ गयी थी। मच्छर ग़ायब हो गये। अंधेरा गाढ़ा हो गया। चाय भी आ गयी।' (*जलुआ*, पृ. 58)। ऐसे में पवनेश ने मनोनुकूल सवाल दागा- 'क्या संजीवानंद, इस मौसम में भी हम लोग चाय पी रहे हैं, सोचिए, इस देश का क्या होगा' (वही)। वे कल्पना करते हैं- 'गोवा के बीच पर बैठे हों, बादल छाये हों, ठंडी हवा चल रही हो और सामने जिन का पेग रखा हो।' (वही, पृ. 59)।

'ग्लोबलाइज़ेशन' ने भारत के लोक रूपों, संबंधों पर बहुत असर डाला है। कुछ को बदल दिया और बहुतों को तो नष्ट कर अमूर्तन में पहुंचा दिया है। विकास में बाह्य ढांचागत उत्थान पर अधिक बल दिया गया और आत्मिक पर बहुत ही कम। सहज स्वाभाविक रूप में इस प्रक्रिया के शिकार हमारे यहां बहुत लोग हुए और निरंतर हो रहे हैं। यही नहीं, इसकी प्रतिक्रिया में अचेतन रूप से लोग अतीत और सुदूर अतीत में चले गये हैं। नतीजतन अतीत के जीवन-रूपों का भी उत्थान हुआ है। बहुत सारे पुराने अस्मिता रूपों का, जाति, धर्म, क्षेत्र के अस्मिता रूपों का और दबे पड़े संस्कारों का उन्नयन हुआ है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का उत्थान भी इन्हीं में से एक है. ये संस्कृति के अचेतन रूप हैं- चाहे वह बाज़ारी संस्कृति हो या फिर पुराने अस्मिता रूप हों. ये बिना किसी सचेत प्रयास के हमारे अवचेतन के हिस्से बने हैं और बन रहे हैं.

संस्कृति के मोटे तौर पर दो रूप हैं- एक अचेतन और दूसरे सचेतन. भूमंडलीकरण और बहुलता के चलते हमारे यहां भी हाशिये की अस्मिताओं, जीवनरूपी महाकाव्य या महागाथा में दमित अर्थों की मुक्ति के, उसकी पहचान के संघर्ष आगे बढ़े हैं, यानी इनका उन्नयन हुआ है जिसमें दबी-कुचली तमाम तरह की अस्मिताओं को देखा जा सकता है- चाहे स्त्री हो, दलित हो, आदिवासी हो, या फिर बुज़ुर्ग, बच्चे इत्यादि मानव समूह हों। यह संस्कृति का सचेतन रूप है। इसी में मानवेतर रूप भी आते हैं। बिक्रम सिंह की कहानियों में संस्कृति के अचेतन रूपों की सचेत अभिव्यक्ति अधिक पायी जाती है। हां! बाज़ारी संस्कृति से प्रभावित ऐसे पात्र ज़रूर आये हैं जो संस्कृति के सचेतन रूप का इस्तेमाल स्वार्थ के चलते कर रहे हैं जैसे 'आचार्य का नेटवर्क' कहानी के मुख्य पात्र आचार्य करते हैं। वैसे देखो तो वे अचेतन रूप से चालित होते हैं, चाहे वह बाज़ार हो, चाहे व्यक्ति अस्मिता हो या फिर अवचेतन के सवर्ण-श्रेष्ठता वाले भाव-संस्कार। वे मूलतः स्वार्थ से चालित हैं। स्वार्थ का अर्थ ही होता है स्व के अर्थ में। ऐसे पात्र स्वकाया में ही लीन होते हैं, परकाया में प्रवेश नहीं करते वरन् परकाया का तो वे खुद के अर्थ में उपयोग भर करते हैं।

भूमंडलीकरण के चलते हमारे लोक रूपों में जो ख़तरनाक बदलाव आया है उसे बिक्रम सिंह अपनी कहानियों में चिह्नित करते हैं। उनकी कई कहानियां इसी विषय पर हैं। 'गप्प' कहानी बहुत ही सहज ढंग से इस बात पर प्रकाश डालती है कि लोग ग़रीबी और काम न होने से परेशान हैं। एक सज्जाद नाम का लड़का है जो पढ़ तो गया पर बेकार है। 'घर के लोगों के उपदेश और मिलने जुलने वालों की शुभकामनाएं उसे अब परेशान करने लगे थे। (*आचार्य का नेटवर्क*, पृ.104)। वह अनवर

मियां की दुकान पर चला जाता था, उसकी दर्जी की दुकान बाज़ार के बीचोंबीच थी। वे अक्सर फ़ुर्सत में ही रहते थे। वहीं कृपाशंकर भी आ गये, सिले हुए कपड़े लेने। चाय का आर्डर दे दिया गया. और फिर गप्प होने लगी फिर वहां एक अन्य सज्जन भी आ गये, नाम था मूलचंद। उसकी सबसे बड़ी परेशानी भी कि दलिद्दर दूर नहीं हो रहा था. कृपाशंकर ने कहा कि ईश्वर की कृपा से ही दूर होगा और फिर एक क़िस्सा सुनाया कि कैसे रामकिशन पर, जो सच्चा भक्त था, देवताओं की कृपा बरसी। यह सुनकर अनवर ने एक अलग क़िस्सा सुनाया कि कैसे जलालुद्दीन पर फ़कीर की, अल्लाह की कृपा हुई। यह सुनकर वे एक दूसरे के क़िस्से को झूठा और अपने क़िस्से को सच्चा साबित करने में लग गये। इस कहानी में बहुत सारे संकेत छिपे हैं। दर्जी, नाई, चाय वाले, पानवाले के पास लोग अड्डेबाज़ी तो करते थे, गप्प तो मारते थे, पर सत्ता विमर्श उनके केंद्र में अक्सर होता था और एक अमानवीय राजसत्ता के अस्वीकार की ज़हनियत सहज रूप से निर्मित होती थी। साथ ही उसमें एक मिली जुली संस्कृति के दर्शन भी होते थे। पर अब उस संस्कृति में फांक नज़र आती है। लोग कर्म में नहीं, ईश्वरीय चमत्कार में भरोसा करने लगे हैं, साथ ही अपने-अपने धर्म के देवताओं या पैगंबरों के क़िस्से ही उन्हें विश्वनीय लगने लगे हैं।

सबसे बड़ी चिंता की बात तो यह है कि हमारे शैक्षणिक संस्थान भी इसके अपवाद नहीं रह गये हैं। वहां भी जाति-धर्म के संस्कार बहुत तेज़ी से उभर आये हैं और धर्म सांस्कृतिक विमर्श का पर्याय बना हुआ है जिसका मक़सद ही रहता है अन्य धर्म के लोगों को पिछड़ा और कमतर साबित करना। बिक्रम सिंह की कहानी 'विमर्श में आचार्य' उक्त चिंता को ही अपना केंद्र बनाती है। कॉलेज के एक प्रोफ़ेसर हैं जो मुसलमानों को पिछड़ा कहते हैं- 'उनमें पिछड़ापन ज़्यादा है।' (वही, पृ.29). शिक्षा जगत में ये सब चीज़ें अजीब सी लगती हैं और 'यह भी देखिए कि अजीब लगने वाली चीज़ों का दबदबा बढ़ता ही जा रहा है।' (वही, पृ.38). ये सब चीज़ें एक सांप्रदायिक माहौल की ओर संकेत करती हैं जिसका भयावह परिणाम कहीं-कहीं सांप्रदायिक दंगों के रूप में भी नज़र आता है। बिक्रम सिंह की एक कहानी 'देखा हिंदोस्तान!' में एक प्रोफ़ेसर जो मलेशिया से भारत घूमने आया था ऐसी ही स्थितियों में घिर जाता है। वह यहां चारों तरफ़ डर का मंज़र देखता है- 'लोग डरे-डरे फिर रहे थे। हर आदमी दूसरे को ध्यान से देखता था। होटल वीरान पड़े थे। वहीं एक शख़्स उन्हें मिला-जुल्फ़कार। उसी के यहां रात बशर हुई। फिर कुछ ही दिनों में अपने देश मलेशिया लौट गये।' (वही, पृ.70)। यहां रहते हुए उन्हें दिल्ली और अहमदाबाद में हुए दंगों के बारे में ख़बरें सुनायी पड़ीं और जुल्फ़कार को उन्होंने परेशान तथा भयभीत होते हुए देखा।

इस धार्मिक और बाज़ारी संस्कृति का सबसे 'सॉफ़्ट-टारगेट' बेरोज़गार नवयुवक है। वह उसे अपने चंगुल में ले रही है। बिक्रम सिंह की 'शूटर' कहानी में तो उसे एक धार्मिक संगठन अपने विश्वास में ले लेता है और उसे आतंकवादी कैंप तक पहुंचा देता है। यहां 'शूटर' वास्तव में उत्तरआधुनिक संस्कृति ही है जो सबका शिकार कर रही है। जो दूर दराज हैं, चेतना में पिछड़े हैं. 'स्मार्ट' तो छोड़िए 'सभ्य' भी ठीक से नहीं हुए हैं। उनका शिकार यह संस्कृति बड़ी आसानी से कर रही है. किस तरह आला अफ़सर और शक्तिशाली समृद्ध लोग आदिवासी लड़कियों का शोषण और उनकी ख़रीद-फ़रोख़्त में लगे हैं, इसका पता बड़े ही जादुई ढंग से बिक्रम सिंह की कहानी 'कथानक' हमें देती है जो

मध्यप्रदेश के शहडोल ज़िले के एक पिछड़े आदिवासी इलाक़े से संबद्ध है।

बिक्रम सिंह की कहानियों में आये मुख्य विमर्श की बात करें तो वह वैश्वीकृत बाज़ारी संस्कृति ही है। वास्तव में सभी सांस्कृतिक रूपों को इसका सामना करना पड़ रहा है, फिर चाहे वे लोक रूप हों, चाहे साहित्य व अन्य कलात्मक रूप। बिक्रम सिंह की यह चिंता वाजिब है कि इसका मुक़ाबला करने के बजाय विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में इसकी स्वतः सहज स्वाभाविक स्वीकृति बढ़ रही है और उनमें नकारात्मक बदलाव देखने को मिल रहा है। विभिन्न सांस्कृतिक रूपों में आया यह नकारात्मक बदलाव ही बिक्रम सिंह की कहानियों का मूल विषय है। उनकी कहानियों में पाये जाने वाला उत्तरआधुनिक सांस्कृतिक विमर्श भी यही है।

मो. 09818877429

स्मृति शेष : अली जावेद

अली जावेद के जाने से एक शून्य

विनीत तिवारी

कभी कभी ऐसा होता है कि आप जिस व्यक्ति के साथ सफ़र में होते हैं या काम कर रहे होते हैं, उसके जीवन के एक ही पहलू से आप वाक़िफ़ होते हैं और जब बाक़ी सकारात्मक और अनजाने पहलू आपके सामने नुमायां हों तो आप विस्मित हो जाते हैं। यह आश्चर्य तब सुखद होता है जब यह उद्घाटन जिसके व्यक्तित्व के बारे में हो रहा हो, वह भी आपके आश्चर्य को देखने के लिए मौजूद हो।

कॉमरेड अली जावेद के मामले में मेरे साथ ऐसा नहीं हो सका। उनके अकस्मात् निधन के बाद जितनी श्रद्धांजलियां लेखों और वीडिओज़ और अन्य रूपों में आयीं, उससे उनके जाने के बाद मुझे उनके भीतर के एक नये ही शख़्स से मिलने का मौक़ा हासिल हुआ। अफ़सोस कि मेरे इस सुखद आश्चर्य और विस्मय को देखने के लिए ख़ुद अली जावेद आज मेरे सामने मौजूद नहीं हैं।

अच्छा तो यह होता कि कॉमरेड अली जावेद पर उनके साथ लंबे समय रहे, उनके विद्यार्थी जीवन से लेकर बाद तक अनेक आंदोलनों में सहभागी रहे दोस्त कॉमरेडों में से कोई उन्हें शिद्दत से याद करते हुए यह लेख लिखता लेकिन प्रगतिशील लेखक संगठन के भीतर एक साथी की तरह अली जावेद के साथ बिताये समय के नाते मुझे यह ज़िम्मेदारी मिली तो लगा कि उन्हें अपनी यादों के साथ याद करने के बहाने मैं वह भी साझा कर सकूं जैसा मैंने उन्हें उनके साथियों के संस्मरणों के ज़रिये भी जाना।

जो बातें स्मृतियों में दर्ज हो गयीं उनमें प्रोफ़ेसर अजय पटनायक और प्रोफ़ेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल की वे यादें हैं जिनमें वे अपने विद्यार्थी जीवन के दौरान अली जावेद को याद करते हैं कि कैसे जब वे जेएनयू में दाख़िला लेने दिल्ली आये और एक नये अपरिचित बड़े शहर में होने की घबराहट को अली जावेद के सामूहिकता भरे खुली बांहों वाले दोस्ताना व्यवहार ने जल्द ही एक नये दोस्त-परिवार में होने के अहसास से दूर कर दिया। वरिष्ठ पत्रकार और प्रगतिशील लेखक संघ की राज्य महासचिव फ़रहत रिज़वी जब अली जावेद को याद करती हैं तो बहुत सी मार्मिक बातों में से दो बातें दिल में जैसे हमेशा के लिए जगह बना लेती हैं। एक तो यह कि कैसे अलीगढ़ मुस्लिम विश्विद्यालय और एक पारंपरिक मुस्लिम परिवार से आयी लड़की जब दिल्ली में जेएनयू में दाख़िला लेती है और एक सांस्कृतिक खाई उसे सहमा देती है तब अली जावेद उसे मिले और सहजता से अपनी ऑल इंडिया स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन की तहरीक में शामिल कर लिया। वह तहरीक जो 'लड़ाई पढ़ाई साथ-साथ' का नारा देकर विद्यार्थी जीवन से ही नौजवानों को इस ज़िम्मेदारी के अहसास से भर देती थी कि मुल्क और मुल्क के बाहर सियासत हो या कला या इस नीली छतरी के नीचे जो भी हो रहा है, उसमें उनकी आवाज़ और उनका दख़ल भी शामिल होना चाहिए।

फ़रहत के हवाले से ही पता चला कि अली जावेद का ख़ुद का परिवार कोई तरक़्क़ीपसंद तहरीक से जुड़ा हुआ नहीं था। ऐसे में अली जावेद जो हुए वे क्योंकर हुए, इसकी वजह शायद 70 और 80 के दशक के यूनिवर्सिटीज कैंपस और मुस्तफ़ा क़माल अतातुर्क से लेकर बरास्ता मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, माओ, भगतसिंह, अरुणा आसफ़ अली, गमाल अब्देल नासेर से होते हुए पैट्रिस लुमुम्बा, यासर अराफ़ात और नेल्सन मंडेला तक आते-आते नौजवानों की दुनिया के बारे में बनती समझ के भीतर ही ढूंढ़ी जा सकती है। वह दौर उथल-पुथल और काफ़ी हद तक भ्रम का दौर था। जो लोग अरसे से, दशकों से कम्युनिस्ट पार्टी या पार्टियों से इंक़लाब की उम्मीदें बांधे थे, वे अपनी उम्मीदों को संसदीय प्रजातंत्र के भीतर बेआवाज़ जज़्ब होता देख रहे थे और समझ नहीं पा रहे थे कि किया क्या जाये। ऐसे में जिन्होंने जो तय किया, वे मोर्चे पर डट गये। वह सही फ़ैसला था या ग़लत, इस पर राय देने के क़ाबिल मैं अपने आपको नहीं मानता, लेकिन मैं उन सबका सम्मान करता हूं जिन्होंने वामपंथ के भीतर या बाहर रहते हुए आज़ादी को गांधी जी के शब्दों में कहें तो देश के आख़िरी इंसान तक पहुंचाने की छोटी या बड़ी लड़ाई लड़ी।

अली जावेद उन्हीं लड़ाकुओं में से एक थे। उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद के नज़दीक एक गांव करारी में जन्मे प्रोफ़ेसर अली जावेद की स्नातक शिक्षा इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हुई और आगे डॉक्टरेट तक की पढ़ाई उन्होंने जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय से पूरी की। साहित्य के अलावा उनकी दिलचस्पी के केंद्र में राजनीति भी थी और वे अपने छात्र-जीवन से ही वामपंथी विद्यार्थी संगठन ऑल इंडिया स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन से जुड़ गये थे। पढ़ाई करते हुए उन्होंने अनेक छात्र आंदोलनों में शिरकत की।

वे तरक़्क़ीपसंद मुसलमान नहीं थे। ऐसा कहे जाने से वे ऐतराज़ ज़ाहिर करते थे। तरक़्क़ीपसंद के साथ किसी मज़हब का विशेषण जोड़ा जाना न उन्हें अच्छा लगता था न मुझे। उन्होंने सांस्कृतिक व्यापक मोर्चा बनाने की आख़िरी दिन तक कोशिश की और कई मर्तबा वे उसमें कामयाब भी हुए। प्रोफ़ेसर एम. एम. कलबुर्गी की हत्या के बाद दिल्ली में साहित्य अकादेमी के सामने जो मोर्चा तमाम जनवादी ताक़तों के आह्वान पर जुटा, उसमें उनकी एक उल्लेखनीय भूमिका थी। मेरे लिए दिलचस्प वह वाक़या है जब उनके और मुरलीबाबू और जसम के साथियों के आह्वान पर लेखक संस्कृतिकर्मी लोग सैकड़ों की तादाद में इकट्ठे होकर साहित्य अकादमी के दफ़्तर के सामने तक पहुंच गये और अली जावेद किसी वजह से वक़्त पर नहीं पहुंच पाये। पुलिस ने हमें रोकने की कोशिश की और तभी अली जावेद नमूंदार हो गये। आते ही सेकंडों में माहौल को समझकर उनहोने माइक संभालकर गरजना शुरू कर दिया। यह एक नेतृत्वकारी साथी का लक्षण था। मेरी उनसे थोड़ी-बहुत चंद वाक्यों में बात हुई कि आपको वक़्त पर आना चाहिए था। मेरी बात को दरकिनार करते हुए उन्होंने सीधे माइक संभाला और लोगों को जोशीला भाषण दिया।

कमलाप्रसाद जी के रहते भी पाकिस्तान जाने वाले प्रतिनिधिमंडल की अर्हताओं को लेकर उनसे भी और कमलाप्रसाद जी से भी हैदराबाद की राष्ट्रीय बैठक में तल्ख़ी हुई लेकिन कभी भी उस तल्ख़ी का अवशेष न कमलाप्रसाद जी के भीतर कभी देखने को मिला और न ही अली जावेद के भीतर। प्रलेस के कार्यक्रमों के सिलसिले में ही हम लोगों ने अनेक यात्राएं साथ कीं। उत्तर प्रदेश, मध्य

प्रदेश, छत्तीसगढ़, बिहार, केरल, पांडिचेरी सहित अनेक राज्यों में। मीटिंग के दौरान अनेक बार ज़ुबानी तल्ख़ियां होती थीं लेकिन मीटिंग के बाद जो बचता था वह सिर्फ़, हबीब जालिब, इब्ने इंशा और फ़ैज़। बाज़ दफ़ा मजाज़, ग़ालिब, और तमाम दीगर दूसरे शायरों की आमदरफ़्त हटी रहती थी लेकिन मामला घूमता इन्हीं के इर्द-गिर्द था। मैं तो उन सभी से रश्क़ करता हूं जिनकी याददाश्त इतनी अच्छी है कि वे सिर्फ़ अपनी ही नहीं, तमाम दूसरे शायरों की भी शायरी याद रख लेते हैं। अली जावेद से इस बिना पर भी मेरा रश्क़ था। मौक़े या बेमौक़े भी उनके पास इतने दीवान उनके ज़ेहन में होते थे कि उनसे अदब की बात करने में कुछ न कुछ नया सीखने को हासिल होता था। हबीब जालिब और फ़ैज़ तो उनके प्रिय शायर थे ही लेकिन अनेक नमालूम शायरों के शेर भी उन्हें ख़ूब याद रहते थे।

वे विद्यार्थी आंदोलन से होते हुए सांस्कृतिक आंदोलन के हिस्से और आगे चलकर नेतृत्वकारी साथी बने थे इसलिए उनमें यह आत्मविश्वास आया था। वे केवल साहित्यकार नहीं बल्कि एक एक्टिविस्ट भी थे। यह मैंने खुद महसूस किया। पहली दफ़ा जब सीएए-एनआरसी के ख़िलाफ़ आंदोलन पूरे देश में फैल रहा था अली जावेद उस आंदोलन के हिस्से बनकर उसमें शामिल हुए। ऐसे ही किसान आंदोलन में भी उन्होंने बीमारी के बावजूद बनते कोशिश हमेशा शामिल होने की कोशिश की। एक दफ़ा नहीं, अनेक बार प्रगतिशील लेखक संघ का पूरा प्रतिनिधिमंडल लेकर गये। बेशक उन्हें हौसला और यक़ीन दिलाने में सुखदेव सिंह जी की बड़ी भूमिका थी, लेकिन वे तो पहली ही मर्तबा बात करते ऐसे तैयार हुए जैसे वे हमारी बाट ही जोह रहे हों।

मेरे साथ बिताया उनका समय का वक़्फ़ा बहुत लंबा नहीं रहा। लेकिन फिर भी कुछ मौक़े ऐसे रहे जब हमने नज़दीकी में काम किया। और जैसा होता है कि जब आप किसी को नज़दीक से जानने लगते हैं तो उसकी ख़ूबियां ही नहीं, ख़ामियों से भी जान-पहचान हो जाती है। काफ़ी लोग एक-दूसरे के बारे में अपना स्थाई मत बना लेते हैं लेकिन कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो गुंजायश बनाये रखते हैं। वे यह जानते हैं कि जिसके बारे में वे कोई राय बना रहे हैं, वे भी उसे मुकम्मल नहीं जानते और जिसने उनके बारे में कोई राय क़ायम कर ली है, वह भी अधूरी शिनाख़्त पर ही की है। प्रेमचंद, सज्जाद ज़हीर, फ़ैज़ अहमद फैज़, कृशन चंदर, अली सरदार जाफ़री, भीष्म साहनी और हरिशंकर परसाई जैसे रौशन ख़याल लेखकों और विचारकों की बात अलग है।

हिंदी और उर्दू में तो वे सक्रिय थे ही किंतु उन्होंने उस सपने को साकार करने की भी अपनी ओर से हरचंद कोशिश की जो देशों और भाषाओं के पार जाकर साम्राज्यवादी ताक़तों और मूल्यों के ख़िलाफ़ लेखकों की एकता बनाये। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ और सज्जाद ज़हीर के ज़माने में जिस एफ्रो-एशियन लेखकों के बीच एकता और संवाद कायम करने का तसव्वुर किया गया था, उसे आगे बढ़ाने का काम संतोष भदौरिया ने किया। फ़ैज़ और बाद में भीष्म जी ने भी इस मुहिम को नेतृत्व प्रदान किया था। प्रोफ़ेसर अली जावेद भी 2012 से 2016 तक एफ्रो-एशियाई लेखक संगठन के अध्यक्ष रहे। उसके पहले सन 2007-2008 में वे नेशनल कौंसिल फ़ॉर प्रमोशन ऑफ़ उर्दू लैंग्वेज (एनसीपीयूएल) के निदेशक भी रहे।

वर्ष 2016 में उन्हें कश्मीर पर दिल्ली के प्रेस क्लब में एक कार्यक्रम आयोजित करने के लिए सरकार ने उन्हें परेशान किया और 3-4 दिनों तक सुबह से शाम थाने पर बुलाकर जवाबतलबी की

जाती रही लेकिन पुलिस उन पर कोई भी प्रकरण दर्ज नहीं कर पायी। तबियत नासाज़ होने के बावजूद उन्होंने सरकार और पुलिस के झूठों का निडरता से मुक़ाबला किया।

कोरोना के दौर में भी उन्होंने प्रगतिशील लेखक संगठन के देश भर में फैले लेखकों का उत्साहवर्धन किया और जैसे ही आने-जाने पर पाबंदी हटी, वे जनवरी में किसान आंदोलन को अपना समर्थन देने पहुंच गये। उनके भीतर एक लेखक, एक आलोचक-समीक्षक, एक मार्क्सवादी नज़रिये से सोचने वाला और एक आंदोलनकारी एक साथ मौजूद था। उर्दू साहित्य के आलोचना क्षेत्र में उनकी पांच महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हैं। उनके मार्गदर्शन में दर्जनों शोधार्थियों ने शोध किये और लेखक संगठन की अपनी व्यस्तताओं के बावजूद उन्होंने सैकड़ों आलेख महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखे।

कमांडर के नाम से मशहूर प्रगतिशील लेखक संघ के तत्कालीन महासचिव कमलाप्रसाद जी के न रहने पर 2012 में प्रलेस का राष्ट्रीय सम्मलेन प्रोफ़ेसर अली जावेद के नेतृत्व में आयोजित हुआ और वहां वे राष्ट्रीय महासचिव चुने गये थे। वर्ष 2016 तक उन्होंने अपनी इस ज़िम्मेदारी का निर्वहन किया और 2016 से वे प्रलेस के राष्ट्रीय कार्यकारी अध्यक्ष की भूमिका में अपनी ज़िम्मेदारी निभा रहे थे।

प्रोफ़ेसर अली जावेद को कुछ वर्ष पहले भी ब्रेन स्ट्रोक हुआ था जिससे वे अपनी जिजीविषा से उबर आये थे और पुनः सक्रिय तौर पर सांगठनिक गतिविधियों में शामिल हो रहे थे। अभी इसी अगस्त के दूसरे सप्ताह में उन्हें फिर ब्रेन हैमरेज हुआ और डॉक्टरों ने उन्हें वेंटीलेटर पर रख दिया। क़रीब 17-18 दिन तक जूझने के बाद वे मृत्यु के सामने हार गये।

ऐसे वक़्त में जब प्रगतिशील आंदोलन के सामने फ़ासीवादी क़िस्म की सत्ता ने अनेक तरह से अस्तित्व के संकट खड़े करने में ही कोई कसर नहीं छोड़ी है, अली जावेद के जाने से एक शून्य और बढ़ गया है। फिर भी जैसा कि हम सभी जानते हैं कि जाने वाला हर साथी बचे रहे साथियों के लिए हौसला और ज़िम्मेदारियां उठाने की ताक़त छोड़ कर जाता है। अली जावेद ने भी अपनी साफ़गोई, ज़िंदादिली और दबावों के आगे न झुकने की फ़ितरत से ऐसी मिसाल बनायी है जो आंदोलन में शामिल साथियों को लड़ने की ताक़त देगी। उन्हें लाल सलाम।

मो. 9893193740

कोरोना से हुए दिवगंत लेखकों, कलाकारों को

जनवादी लेखक संघ और *नया पथ* की ओर से श्रद्धांजलि

प्रस्तुति : जवरीमल्ल पारख

नवंबर 2019 से जिस कोविड-19 महामारी की शुरुआत हुई थी, वह 2020 की शुरुआत में ही भारत पहुंच चुकी थी। लेकिन आरंभ में सरकार की लापरवाही, 'नमस्ते ट्रंप' जैसे आयोजनों और बाद में अनावश्यक सख़्त लॉकडाउन ने स्थितियों को कई स्तरों पर भयावह रूप से बिगाड़ने का काम किया। महामारी का मुक़ाबला करने के लिए जिस तरह की और जितनी तैयारी की आवश्यकता थी, वह न होने के कारण लोग पर्याप्त इलाज के अभाव में मरने लगे। महामारी की दूसरी लहर मार्च 2021 से मई 2021 के बीच जब अपने चरम पर थी, उस दौरान हालात पूरी तरह से बेक़ाबू हो गये। अस्पतालों में बेड नहीं थे, ऑक्सीजन नहीं थी, ज़रूरी दवाइयां नहीं थीं और प्रशिक्षित डॉक्टरों और नर्सों का अभाव भी महसूस किया जा रहा था। महामारी के इस विकराल रूप और पर्याप्त चिकित्सा के अभाव का शिकार न केवल ग़रीब तबक़ा हुआ बल्कि मध्यवर्ग को भी इसकी भारी क़ीमत चुकानी पड़ी। चिकित्सा के अभाव में लेखक, अध्यापक, कलाकार और बुद्धिजीवी भी बड़ी संख्या में मारे गये। हिंदी, उर्दू और भारतीय भाषाओं के लेखक बहुत बड़ी संख्या में इस महामारी के शिकार हुए। यह सिलसिला हिंदी के वरिष्ठ कवि मंगलेश डबराल की मृत्यु से शुरू हुआ था और 2021 की दूसरी लहर के दौरान बहुत से लेखक, कलाकार और बुद्धिजीवी कोविड के कारण असमय ही मौत के शिकार हुए। उनमें से कुछ पर पूरे लेख हम पहले के अंकों में शामिल कर चुके थे, कुछ पर इस अंक में प्रकाशित हो रहे हैं, *नया पथ* के लिए सभी दिवंगत लोगों पर लेख लिखवा पाना संभव नहीं हो सका, यह हमारी सीमा ही रही। इसलिए कुछ लेखकों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों के बारे में इस लेख में संक्षिप्त श्रद्धांजलि टिप्पणियां हम दे रहे हैं।

अरविंद कुमार : हिंदी के महान कोशकार और शब्द-साधक अरविंद कुमार का निधन हिंदी दुनिया की एक अपूरणीय क्षति है। जीवन के 90 वर्ष पूरे कर लेने के बाद भी वे सक्रिय और सृजनशील थे। मेरठ के रहनेवाले अरविंद जी ने घर की माली हालत को देखते हुए 15 साल की उम्र में दिल्ली प्रेस में नौकरी शुरू की थी। वहां टाइप-सेटर, कैशियर, प्रूफ़-रीडर आदि के काम करते हुए वे *कारवां* पत्रिका के उप-संपादक के पद तक पहुंचे। फिर 1963 में *टाइम्स ऑफ़ इंडिया* समूह की सिने-पत्रिका *माधुरी* के संस्थापक-संपादक बनकर बंबई चले गये और लंबे समय तक वहां अपनी सेवाएं देकर उन्होंने फ़िल्मी पत्रकारिता का एक मानक क़ायम किया। बाद में हिंदी में एक *थिसारस* की कमी को पूरा करने की धुन में उन्होंने वर्षों के श्रम से 1996 में *समांतर कोश* तैयार किया जिसमें उनकी पत्नी कुसुम कुमार भी उनकी सहयोगी थीं। यह एक अनोखा काम था जिसे हिंदी की दुनिया में प्रभूत सराहना मिली। 2007 में उन्होंने *The Penguin English-Hindi / Hindi-English Thesaurus & Dictionary* नाम से पहला द्विभाषी थिसारस प्रकाशित किया। 2015 में *अरविंद वर्ड पावर : इंग्लिश-हिंदी* का प्रकाशन हुआ जिसमें 6,70,000 इंदराज हैं। यहां उन्होंने Spiral-shaped के लिए 'स्पाइरलाकार' जैसे शब्द दिये हैं। वस्तुतः भाषा को बहते नीर की तरह बरतना कोशकार के रूप में अरविंद कुमार की एक बड़ी विशेषता है। सिने-पत्रकारिता से लेकर कोश-निर्माण तक, अरविंद कुमार के सारे काम स्थायी महत्त्व के

हैं। हिंदी जगत उन्हें कभी विस्मृत नहीं कर सकता।

कांति कुमार जैन : मशहूर संस्मरणकार कांति कुमार जैन का जन्म 9 सितंबर, 1932 को देवरीकलां, सागर, मध्य प्रदेश में हुआ। डॉ. जैन, हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर में हिंदी विभाग के वर्षों तक अध्यक्ष रहे। वे माखनलाल चतुर्वेदी पीठ, मुक्तिबोध पीठ, बुंदेली शोध पीठ में अध्यक्ष के पद पर भी रहे। उन्होंने 'छत्तीसगढ़ की जनपदीय शब्दावली' पर विशेष शोध कार्य किया। डॉ. जैन की प्रसिद्धि में तब और वृद्धि हुई जब उन्होंने राजेंद्र यादव के संपादन में निकलने वाली पत्रिका *हंस* में लगातार भारत की मशहूर शख़्सियतों पर खुलकर संस्मरण लिखे। उनके संस्मरणों की प्रमुख पुस्तकें हैं : *जो कहूंगा, सच कहूंगा, बैकुंठपुर में बचपन, महागुरु मुक्तिबोध : जुम्मा टैंक की सीढ़ियों पर, पप्पू खवास का कुनबा और लौट जाती है उधर को भी नज़र* ।

नरेंद्र कोहली : डॉ. नरेंद्र कोहली का जन्म 6 जनवरी 1940 को संयुक्त पंजाब के सियालकोट नगर, भारत मे हुआ था जो अब पाकिस्तान में है और निधन 17 अप्रैल 2021 को दिल्ली में हुआ। कोहली जी की प्रारंभिक शिक्षा लाहौर में हुई और भारत विभाजन के पश्चात परिवार के जमशेदपुर चले आने पर वहीं आगे बढ़ी। कोहली जी ने साहित्य की सभी प्रमुख विधाओं (यथा उपन्यास, व्यंग्य, नाटक, कहानी, संस्मरण, निबंध, पत्र और आलोचनात्मक साहित्य में अपनी लेखनी चलायी। उन्होंने सैकड़ों ग्रंथों का सृजन किया। हिंदी साहित्य में 'महाकाव्यात्मक उपन्यास' की विधा को प्रारंभ करने का श्रेय नरेंद्र कोहली को ही जाता है। पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों की गुत्थियों को सुलझाते हुए उनके माध्यम से आधुनिक समाज की समस्याओं एवं उनके समाधान को समाज के समक्ष प्रस्तुत करना कोहली की अन्यतम विशेषता है। कोहली जी को सांस्कृतिक राष्ट्रवादी साहित्यकार के रूप में जाना जाता है। उनके कुछ प्रमुख वृहदाकार उपन्यास हैं : *दीक्षा*, *अवसर*, *संघर्ष की ओर*, *युद्ध* और *अभ्युदय*। जनवरी, 2017 में उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया गया। इसके अलावा उन्हें व्यास सम्मान– 2012, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान पुरस्कार 1977-78, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान पुरस्कार 1979-80, शलाका सम्मान 1995-96, हिंदी अकादमी दिल्ली से भी नवाज़ा गया।

कुमार नयन : ग़ज़लगो के रूप में प्रसिद्ध कुमार नयन का जन्म 05 जनवरी 1955 को बिहार के बक्सर ज़िले के एक निम्नवर्णीय किसान परिवार में हुआ। उनकी प्रमुख साहित्यिक कृतियां हैं : *सोचती हैं औरतें*, *पांव कटे बिंब* (कविता संग्रह), *आग बरसाते हैं शजर*, *एहसास*, *ख़याल-दर-ख़याल*, *दयारे-हयात में* (ग़ज़ल संग्रह)। उन्हें बिहारी भोजपुरी अकादमी सम्मान, निराला सम्मान, कथा हंस सम्मान, बिहार राजभाषा सम्मान आदि से सम्मानित किया गया। कुमार नयन को अदम गोंडवी और दुष्यंत कुमार के बाद की कड़ी का अत्यंत महत्वपूर्ण ग़ज़लगो माना जाता है। उन्होंने हिंदी के कई वरिष्ठ कवियों की कविताओं का अंग्रेज़ी अनुवाद भी किया।

कुंवर बेचैन : हिंदी ग़ज़ल व गीत के सशक्त हस्ताक्षर कुंवर बेचैन का वास्तविक नाम डॉ. कुंवर बहादुर सक्सेना था। कुंवर बेचैन का जन्म 1 जुलाई 1942 को उत्तर प्रदेश के उमरी गांव (ज़िला मुरादाबाद) में हुआ था। उनका बचपन चंदौसी में बीता। ग़ाज़ियाबाद के एमएमएच महाविद्यालय में हिंदी विभागाध्यक्ष के रूप में अध्यापन किया व रीडर भी रहे। कुंवर बेचैन ने अनेक विधाओं में साहित्य -सृजन किया। उनकी पैंतीस से अधिक कृतियां हैं, जिनमें गीत, ग़ज़ल, कविता, हाइकू, उपन्यास व आलोचना विधा शामिल हैं। उनकी प्रमुख कृतियां हैं : *पिन बहुत सारे*, *भीतर सांकल: बाहर सांकल*,

शामियाने कांच के, *महावर इंतज़ारों का*, *रस्सियां पानी की*, *उर्वशी हो तुम*, *झुलसो मत मोरपंख*, *पत्थर की बांसुरी*, *दीवारों पर दस्तक*, *नाव बनता हुआ काग़ज़*, *आग पर कंदील*, *आठ सुरों की बांसुरी, आंगन की अलगनी, कोई आवाज़ देता है, दिन दिवंगत हुए* आदि। उन्हें साहित्य सम्मान, उप्र हिंदी संस्थान का साहित्य भूषण, परिवार पुरस्कार सम्मान, मुंबई, राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह एवं डॉ. शंकरदयाल शर्मा द्वारा भी समय-समय पर सम्मानित किया गया। 29 अप्रैल 2021 को कोविड-19 से उनकी असमय मृत्यु हो गयी।

शंकर प्रसाद यादव : जलेस बिहार के संरक्षक मंडल के सदस्य और ज़िला इकाई के पूर्व अध्यक्ष डॉ. शंकर प्रसाद यादव जो पहले से ही किडनी और हार्ट रोग से पीड़ित थे और दिल्ली के अपोलो अस्पताल में उनका इलाज चल रहा था, कोरोना से भी ग्रस्त हो गये थे, अस्पताल में ही उनका देहावसान हो गया।

प्रभु जोशी : अपनी मुहावरेदार और चुस्त भाषा के साथ ही जलरंग-दृश्यांकन में अपनी विशिष्ट छाप वाले चित्रकार और कहानीकार प्रभु जोशी 4 मई 2021 को कोविड महामारी और ध्वस्त स्वास्थ्य-व्यवस्था ने असमय एक सचेत और निरंतर सक्रिय रचनाकार की बलि ले ली। उन्हें यथासमय उपचार और अस्पताल की सुविधा नहीं मिल सकी। वह इंदौर में जलेस के युवा साथियों के मार्गदर्शक थे और संगठन की गतिविधियों में सदैव हिस्सेदारी करते थे।

गीतेश शर्मा : हिंदी में वैचारिक लेखन करने वाले और जीवनपर्यंत भौतिकवादी दर्शन पर चलने वाले गीतेश शर्मा का भी कोविड महामारी के कारण असयम ही देहावसान हो गया। नास्तिक दर्शन और नास्तिकता की परंपरा व इतिहास पर उन्होंने बहुत ही उत्कृष्ट पुस्तकें लिखी हैं।

रेणु प्रकाश : अत्यंत संवेदनशील, दृष्टिसंपन्न और जन सरोकारों से जुड़ी कवयित्री रेणु प्रकाश का 30 अप्रैल को कोविड के कारण देहावसान हो गया। वे जनवादी महिला समिति (एडवा) से भी संबद्ध थीं।

देबू चौधरी : सितारवादक देबू चौधरी (देवब्रत चौधरी) का 86 साल की उम्र में दिल्ली में निधन हो गया। उनका जन्म 1935 में बांग्लादेश के मायमेंसिंग में हुआ था। वे सितार वादक और संगीत शिक्षक के रूप में प्रसिद्ध हुए। उन्होंने 'सेनिआ संगीत घराना' मैहर (मध्य प्रदेश) के श्री पंचू गोपाल दत्ता और संगीत आचार्य उस्ताद मुश्ताक़ अली ख़ान से संगीत की शिक्षा ग्रहण की थी। उन्हें 'पद्मभूषण', 'पद्मश्री' और संगीत नाटक अकादेमी का विशेष योगदान पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया था। पंडित देबू चौधरी संगीत से संबंधित कई पुस्तकों के लेखक, आठ नये संगीत रागों के जन्मदाता और बहुत से नये संगीत की धुनों के निर्माता भी रहे। उन्होंने 1963 से दुनियाभर में बहुत से स्टेज शो, रेडियो और टीवी कार्यक्रमों में अपने संगीत की प्रस्तुति दी। वे संगीत का शिक्षण कार्य करते हुए दिल्ली विश्वविद्यालय के संगीत संकाय के डीन और विभागाध्यक्ष रहे। संगीत पर आधारित उनकी तीन पुस्तकें हैं : *सितार एंड इट्स टेक्निक्स*, *म्यूज़िक ऑफ़ इंडिया* और ऑन इंडियन म्यूज़िक'। उन्हें 'इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय' खैरागढ़ (छत्तीसगढ़) द्वारा डी. लिट. की उपाधि से भी नवाज़ा गया। कोविड-19 महामारी के कारण उनका देहावसान हो गया।

सुनीता बुद्धिराजा : कवयित्री और संगीत मर्मज्ञ सुनीता बुद्धिराजा का जन्म 17 नवंबर 1954 को नई दिल्ली में हुआ था। कविता के साथ-साथ उन्होंने संगीत और उसके दिग्गजों पर भी काम

किया। उनकी 11 से अधिक किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके कविता संग्रह हैं : *आधी धूप* और *अनुत्तर*। पंडित जसराज की गायन परंपरा की गहरी समझ रखने वाली सुनीता बुद्धिराजा को 'अमर उजाला शब्द सम्मान' से भी सम्मानित किया गया था। साल 2018 के शब्द सम्मान में कथेतर वर्ग का छाप सम्मान सुनीता बुद्धिराजा की कृति, *रसराज-पंडित जसराज* को दिया गया था। उन्होंने पंडित जसराज के अलावा भारत के अन्य दिग्गज संगीतकारों में से उस्ताद बिस्मिल्लाह ख़ान, पंडित किशन महाराज, डॉ. एम बालमुरली कृष्ण, पं. शिव कुमार शर्मा, पं. बिरजू महाराज और पं. हरिप्रसाद चौरसिया पर भी विशेष काम किया था। 23 अप्रैल 2021 को कोविड-19 की वजह से असमय उनका देहावसान हो गया।

निर्मल मिंज : झारखंड के अग्रणी बुद्धिजीवी, रांची के मशहूर गोसनेर कॉलेज के संस्थापक प्राचार्य, साहित्य अकादमी भाषा सम्मान से सम्मानित निर्मल मिंज का जन्म गुमला के छोटे से गांव में 11 फ़रवरी 1927 को हुआ था। उन्होंने पटना विश्वविद्यालय एवं श्रीरामपुर कॉलेज से शिक्षा ग्रहण करने के बाद अमेरिका के मिनेसोटा विश्वविद्यालय और शिकागो विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त की। रांची में 1971 में उन्होंने जिस गोसनेर कॉलेज की स्थापना की, वह दो कारणों से महत्त्वपूर्ण रहा है - आदिवासी भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था और शुरू में केवल थर्ड डिवीज़न वालों को एडमिशन। कॉलेज में आदिवासी भाषा माध्यम में भी शिक्षा की व्यवस्था की गयी। डॉ. मिंज ने झारखंड आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभायी. वे संयुक्त राष्ट्र के आदिवासी अधिकारों के लिए कार्यरत समूह के भी सदस्य रहे। वे कुंडुख भाषा के लिए स्वीकृत लिपि तोलोंग सिकि को लिखना सीखनेवाले सबसे अधिक उम्र के व्यक्ति थे। कुंड़ख में उन्होंने कई किताबें लिखी हैं। वे अच्छे अनुवादक भी थे। कोरोना-19 महामारी से उनका देहावसान हो गया।

शांतिस्वरूप बौद्ध : भारतीय बौद्ध महासभा के स्तंभ, प्रखर वक्ता, चित्रकार और सफल प्रकाशक उद्यमी शांति स्वरूप बौद्ध का जन्म पुरानी दिल्ली में 2 अक्टूबर, 1949 को हुआ था। उनके बचपन का नाम गुलाब सिंह था, जिसको डॉ. आंबेडकर ने बदल दिया और उन्हें शांति स्वरूप नाम दिया। शांति स्वरूप बौद्ध आंबेडकरी साहित्य प्रकाशन की एक बड़ी शख़्सियत थे, जिन्होंने 'सम्यक प्रकाशन' की नींव रखीं। उन्होंने 'सम्यक प्रकाशन' के ज़रिये देश के कोने-कोने तक बुद्ध, कबीर, फुले-आंबेडकर का विचार फैलाया। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं : *धम्मपद गाथा और कथा, डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर की संघर्षयात्रा और संदेश*। 6 जून 2020 को कोरोना-19 महामारी से देहांत हो गया।

संजय नवले : आलोचक, संपादक, अनुवादक और हिंदी के प्रोफ़ेसर संजय नवले का जन्म महाराष्ट्र में 1966 में हुआ था। संजय नवले हिंदी और मराठी साहित्य को जोड़ने वाली कड़ी थे। उन्होंने हिंदी के कई वरिष्ठ रचनाकारों की रचनाओं का मराठी में अनुवाद प्रस्तुत किया। मधुकर सिंह, संजीव, शिवमूर्ति, जयप्रकाश कर्दम के उपन्यासों और कहानियों का उन्होंने न केवल मराठी अनुवाद प्रस्तुत किया बल्कि उन पर स्वतंत्र रूप से पुस्तकें भी लिखीं। उन्होंने मधुकर सिंह के साथ मिलकर 'मराठी दलित कहानियां' का संपादन भी किया। हिंदी पत्रिकाओं में वे नियमित रूप से लिखते थे। डॉ संजय नवले हिंदी विभाग, डॉ बाबा साहब अंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद, महाराष्ट्र में प्रोफ़ेसर थे। वे हिंदी विभाग के अध्यक्ष भी रहे। कोरोना महामारी से उनका असमय देहावसान हो गया।

अरुण पांडेय : वरिष्ठ पत्रकार अरुण पांडेय का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया ज़िला में हुआ था। *राष्ट्रीय सहारा* के बहुचर्चित परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' के लंबे समय तक वे इंचार्ज रहे और मुद्दा आधारित बहस चलाते रहे। *राष्ट्रीय सहारा* के बाद वे *इंडिया टीवी* चैनल से जुड़े लेकिन वहां उनका जल्दी ही मोहभंग हो गया और वे पुन: *सहारा* चले गये। वे धुर वामपंथी धारा के पत्रकार थे। राजकमल प्रकाशन के लिए उन्होंने पश्चिम बंगाल के पूर्व मुख्यमंत्री ज्योति बसु पर मोनोग्राफ़ भी लिखा। उन्होंने बिड़ला फ़ाउंडेशन की फ़ेलोशिप के तहत 'सूचना के अधिकार' पर रिसर्च किया और इस विषय पर हिंदी में उनकी पहली पुस्तक आयी। दिल्ली की सीमाओं पर चल रहे किसान आंदोलन की भी वे खोज-ख़बर लेते रहे। जीवन के अंतिम दिनों में वे अपने अख़बार *राष्ट्रीय सहारा* के लिए पश्चिम बंगाल का चुनाव कवरेज कर रहे थे।

शाकिर अली : कवि, आलोचक और अनुवादक जनाब शाकिर अली नहीं रहे। बैंक सेवा से निवृत्त शाकिर अली छत्तीसगढ़ के बिलासपुर में रहते थे। आठवें दशक के पूर्वार्द्ध में लिखना शुरू करके 1976 में *पहल* पत्रिका में प्रकाशित 'वर्ण से लेकर वर्ग तक की यात्रा का समाजशास्त्र' शीर्षक लेख के साथ वे सुर्खियों में आये थे। इसके बाद से उनका वैचारिक-आलोचनात्मक लेखन निरंतर जारी रहा जिसका एक बड़ा हिस्सा 2019 में *आलोचना का लोकधर्म* नाम से संकलित-प्रकाशित हुआ। इस लेखन के साथ-साथ कविता और अनुवाद में भी वे सक्रिय रहे। *बचा रह जायेगा बस्तर* और *नये जनतंत्र में* उनके कविता-संग्रह हैं। बैंक की नौकरी में बार-बार स्थानांतरित होते रहने के कारण शाकिर अली के लेखन का परिमाण बहुत विपुल नहीं है, किंतु उनके अध्ययन और सरोकार की व्यापकता उनके लेखन को महत्त्वपूर्ण बनाती है। अभी वे काफ़ी कुछ लिखना चाहते थे। वे छत्तीसगढ़ में जनवादी लेखक संघ के स्तंभों में से थे और जलेस की केंद्रीय परिषद के सदस्य भी थे।

मुकेश मानस : हिंदी दलित साहित्य के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर, युवा लेखक मुकेश मानस का असमय निधन हिंदी साहित्य और जनवादी आंदोलन से जुड़े लोगों के लिए एक बड़ा आघात है। 15 अगस्त 1973 को बुलंदशहर में जन्मे मुकेश मानस की उच्च शिक्षा दिल्ली विश्वविद्यालय से हुई और इसी विश्वविद्यालय के सत्यवती कॉलेज के हिंदी विभाग में वे अध्यापन कर रहे थे। एक संवेदनशील कथाकार, कवि, संपादक और विचारशील वक्ता के रूप में उनकी पहचान थी। उनका लेखन वामपंथी विचारधारा से होते हुए आंबेडकरवाद की ओर मुड़ा। विद्यार्थी जीवन से ही वे 'अंकुर' नामक स्वयंसेवी संस्था से जुड़े, साथ ही दिल्ली के दक्षिणपुरी में नौजवान भारत सभा के तहत जनवादी मुहिम को उन्होंने आगे बढ़ाया। 2011 में उन्होंने 'आरोही बुक ट्रस्ट' की स्थापना की, 'समय संज्ञान' नामक मंच का निर्माण किया और इसी वर्ष *मगहर* पत्रिका का संपादन भी शुरू किया। उनकी रचनाएं हैं: *धूप है खिली हुई* (कविता संग्रह, 2020), *भीतर बुद्ध है* (कविता संग्रह, 2014), *दलित साहित्य के बुनियादी सरोकार* (आलोचना, 2013), *हिंदी कविता की तीसरी धारा* (आलोचना, 2011), *पंडिज्जी का मंदिर* (कहानी संग्रह, 2012), *कागज एक पेड़ है* (कविता संग्रह, 2010), *मीडिया लेखन: सिद्धांत और व्यवहार* (2006), *उन्नीस सौ चौरासी* (कहानी संग्रह, 2005), *पतंग और चरखड़ी* (कविता संग्रह, 2001), *सावित्रीबाई फुले* (2012), *अंबेडकर का सपना* (2012), *दलित समस्या और भगत सिंह* (2011)। उनके द्वारा किये गये प्रमुख अनुवाद हैं : एम एन रॉय कृत *संस्कृति के दौर का भारत* (2006), कांचा इलैया कृत *मैं हिंदू क्यों नहीं हूं* (2003)। पोस्ट कोरोना इफ़ेक्ट के तौर पर मुकेश मानस का लीवर

बुरी तरह प्रभावित हुआ था। इसी का इलाज चल रहा था जिसके दौरान 4 अक्टूबर 2021 को उनका इंतकाल हुआ। अभी उनके लेखन में जो निखार आया था, उससे बनने वाली बहुत सारी संभावनाओं पर विराम लग गया। दलित लेखन के परिदृश्य पर उनका लेखन, उनका विचार सदैव अंकित रहेगा।

आशीष येचुरी : भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के महासचिव सीताराम येचुरी के युवा पुत्र आशीष येचुरी जो पेशे से पत्रकार थे, कोविड-19 के कारण असमय मृत्यु का शिकार हुए।

जनवादी लेखक संघ और *नया पथ* परिवार कोरोना महामारी से हमारे बीच से असमय चले जाने वाले इन सभी लेखकों, पत्रकारों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों को श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

इसी अवधि में हमारे बीच से कई अन्य लेखक, कलाकार और बुद्धिजीवी कोरोना महामारी के अलावा वृद्धावस्था, कैंसर और हृदयाघात जैसी गंभीर बीमारियों के कारण चल बसे। आदिवासियों की सेवा में अपना जीवन अर्पित करने वाले स्टेन स्वामी जिन्हें मोदी सरकार ने झूठे मामलों में फंसाकर जेल भेज दिया था और वहीं उनकी 85 वर्ष की अवस्था में मृत्यु हो गयी। कवि और आलोचक भारत यायावर, उर्दू आलोचक और प्रगतिशील लेखक संघ से संबद्ध अली जावेद, दलित रचनाकार सूरजपाल चौहान, दलित विषयों की विशेषज्ञ और सामाजिक कार्यकर्ता गेल ऑमवेट, मराठी के वरिष्ठ लेखक जयंत पवार, डोगरी की प्रख्यात कवयित्री पद्मा सचदेव, प्रख्यात पर्यावरणविद सुंदरलाल बहुगुणा, गांधीवादी विचारक सुब्बा राव, प्रख्यात अभिनेता दिलीप कुमार, प्रसिद्ध संगीतकार वनराज भाटिया, प्रख्यात अभिनेत्री सुरेखा सीकरी, जलेस की मुजफ़्फ़रपुर इकाई के पूर्व कोषाध्यक्ष और लेखक सत्यभक्त, महाराष्ट्र में राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ता कामरेड महेंद्र सिंह, उत्तर प्रदेश सी पी आइ (एम)के वरिष्ठ नेता कामरेड एस पी कश्यप, प्रोफ़ेसर दिनेश कुमार, राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ता सरोज त्रिपाठी, सामाजिक कार्यकर्ता महावीर नरवाल, मराठी लेखक सतीश कालसेकर और युवा चित्रकार अपराजिता शर्मा के निधन पर जनवादी लेखक संघ अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

मो. 9810606751

विचारगोष्ठी की रपट

‘किसान का कोड़ा’

बजरंग बिहारी तिवारी

कहां तो तय था चरागां हर एक घर के लिए – दुष्यंत कुमार

तीन जनद्रोही कृषि क़ानूनों के पास किये जाने के बाद भारत में जो किसान आंदोलन शुरू हुआ उसे प्रगतिशील और दलित संगठन अपना समर्थन दे रहे हैं। इन संगठनों में जनवादी लेखक संघ, जन संस्कृति मंच, दलित लेखक संघ, न्यू सोशलिस्ट इनिशिएटिव, अखिल भारतीय दलित लेखिका मंच, प्रगतिशील लेखक संघ और प्रतिरोध का सिनेमा शामिल हैं।

इन संगठनों से जुड़े लेखक, बुद्धिजीवी, कलाकार और रचनाकार किसान आंदोलन पर कार्यक्रमों की शृंखला चला रहे हैं। इसी सिलसिले में 11 अप्रैल 2021 को महात्मा फुले की जयंती के अवसर पर ‘किसान आंदोलन के समक्ष चुनौतियां’ ऑनलाइन विचार-गोष्ठी का आयोजन किया गया।

यह आयोजन जोतिबा फुले की सुप्रसिद्ध रचना ‘किसान का कोड़ा’ को समर्पित था।

कार्यक्रम में तीन वक्ता थे- वरिष्ठ कृषि अर्थशास्त्री जया मेहता, कथाकार-विचारक रणेन्द्र और अखिल भारतीय किसान सभा के संयुक्त सचिव आंदोलनकर्मी वीजू कृष्णन। कार्यक्रम का संचालन एक्टिविस्ट-लेखक सुभाष गाताडे ने किया और तकनीकी व्यवस्था साथी प्रेमशंकर ने संभाली।

फ़सल चक्र की बर्बादी और भूख का विस्तार

अपने वक्तव्य में जया मेहता ने कहा कि दिल्ली की सरहदों पर बैठे किसान, महिलाएं, बुजुर्ग और बच्चे कृत-संकल्प हैं कि जब तक तीनों जनद्रोही क़ानून वापस नहीं होते, वे यहां से नहीं जायेंगे।

उन्होंने कहा कि लड़ाई लंबी है और कृषि संकट को स्वतंत्रता आंदोलन से जोड़कर देखना चाहिए। बहुत से लोगों ने धारणा बना ली है कि अगर ये तीनों क़ानून रद्द कर दिये जाते हैं तो किसानी का संकट दूर हो जायेगा। यह सही नहीं है।

संकट पहले से चला आ रहा है। 1995 से किसानों की आत्महत्या की चर्चा चल रही है। 1991 में भारत सरकार ने आइएमएफ़ से कर्ज़ लेकर ‘स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट’ किया। आयात-निर्यात की नीति बदली गयी। बैंकिंग और बीमा क्षेत्र में बदलाव किये गये। लघु और सीमांत किसानों को मिलने वाली सब्सिडी ख़त्म की जाने लगी। इस नयी आर्थिक नीति में, निजीकरण की मुहिम में, कृषि संकट के कारण मौजूद हैं।

कुछ लोग दावा करते हैं कि नयी आर्थिक नीति अगर परिवर्तित कर दी गयी तो संकट टल जायेगा। यह भी सही नहीं है। संकट की जड़ें बड़ी गहरी हैं।

औपनिवेशिक युग में किसानों के शोषण का नया दौर आरंभ होता है।

'किसान का कोड़ा' में फुले ने किसानों के जिस शोषण की बात की है उसका संबंध यहां की समाज व्यवस्था से है। फुले ने जातितंत्र से, पितृसत्ता से और अशिक्षा से मुक्त होने पर ज़ोर दिया था। इन समस्याओं से कितनी मुक्ति हो पायी है? आज भी ये समस्याएं बनी हुई हैं। इनका कृषि संकट से संबंध है।

व्यापार के लिए आयी ईस्ट इंडिया कंपनी प्लासी युद्ध (1757) के बाद राजा बन गयी। 1764 में कंपनी को दिल्ली दरबार से टैक्स वसूलने का अधिकार मिला। उसने भू-राजस्व से मिलने वाले 15 प्रतिशत को बढ़ाकर 50% कर दिया। 1770 में बंगाल में अकाल पड़ा। कंपनी की वसूली तब भी पूरी क्रूरता से जारी रही। सूखा-बाढ़-बीमारी का कंपनी पर कोई असर नहीं होता था।

साम्राज्यवाद का चरित्र ही ऐसा है। उस दौर के अकालों में कहीं पचास लाख लोग मर रहे थे कहीं एक करोड़ लोग। कंपनी की उगाही किसी भी दशा में रुकती नहीं थी। फुले ने 'किसान का कोड़ा' में यह दर्शाया है कि ब्रिटिश साम्राज्य की ब्यूरोक्रेसी ब्राह्मणों के हवाले थी। देश की सारी संपत्ति, सारा अधिशेष लंदन भेजा जा रहा था। जनता की दुर्दशा में इस तरह इज़ाफ़ा हो रहा था।

आज साम्राज्यवाद का स्वरूप बदल गया है। शोषण का पुराना तंत्र बदल चुका है। वह पहले से अधिक सूक्ष्म और सुगठित है। ऐसे अदृश्यप्राय शोषणतंत्र के विरुद्ध संघर्ष भी इसलिए पहले की अपेक्षा बहुत कठिन हो गया है।

आज भी यूरोप और अमेरिका के द्वारा विकासशील देशों का धन लूटा जा रहा है।

आप किसानों को, किसान नेताओं को सुनिए। वे कभी नहीं कहते कि हमारी लड़ाई सिर्फ़ मोदी से है। व

फुले के अनुसार अंग्रेज़ों ने जो स्ट्रक्चर खड़ा किया उसमें सवर्ण थे, ब्राह्मण थे। उनकी निष्ठा अपने देश के प्रति नहीं, आक़ाओं के प्रति थी। आज की चुनी हुई सरकार की निष्ठा भी अपने देश के प्रति नहीं है। वह कॉर्पोरेट के प्रति लॉयल है। उनकी मिडिलमैन है।

जनता का धन लूटकर वह वहां पहुंचा रही है जहां पहले से ही इफ़रात संपत्ति है। इसलिए लड़ाई बड़ी है। यह पूरे विश्व के इकॉनोमिक स्ट्रक्चर से है।

चंपारण सत्याग्रह का उल्लेख करते हुए जया मेहता ने कहा कि विश्व बाज़ार के नियंता चाहते हैं कि किसान वह उगायें जो संपत्तिवान लोग चाहते हैं। उन्होंने तब भी भारत के फ़सलचक्र में बदलाव किया था और उसे यूरोप की इंडस्ट्री के अनुसार बनाया था आज भी वे ऐसा ही कर रहे हैं।

वे हमारी फ़ूड सिक्यूरिटी को तबाह करके हमें बाज़ार के रहमो-करम पर छोड़ना चाहते हैं। हम ऐसा क्यों होने दें? तीनों कृषि क़ानून हमारी खाद्य-सुरक्षा पर हमला हैं।

कॉन्ट्रैक्ट फ़ार्मिंग से किसानों की बार्गेनिंग क्षमता नष्ट करने, जुडीशियरी तक जाने का अधिकार छीनने, उन्हें बाज़ार की (संपन्नों की) मांग के मुताबिक़ फ़सल उगाने को बाध्य करने का पक्का इंतज़ाम इन कृषि क़ानूनों में है।

किसान जानते हैं कि एक बार मंडी व्यवस्था ख़त्म हुई तो सरकार द्वारा अनाज की ख़रीद, भंडारण, सार्वजनिक वितरण प्रणाली सब बंद हो जायेंगे। सरकार के इस आश्वासन पर किसानों को

क़तई यक़ीन नहीं है कि मंडियां बंद नहीं की जायेंगी। सरकार अपनी ज़िम्मेदारी कॉर्पोरेट को सौंपना चाहती है।

एक बार कॉर्पोरेट का, वर्ल्ड मार्केट का कब्ज़ा हुआ तो न्यूनतम समर्थन मूल्य, प्रोक्योरमेंट, पीडीएस, सस्ते दर पर ग़रीबों को अनाज आदि सभी मांगें हमेशा के लिए दफ़न हो जायेंगी।

किसानों को इसका अंदाज़ है। पंजाब सहित कई राज्यों के छोटे-बड़े किसान इस आंदोलन में शरीक हैं लेकिन इसमें महिलाओं, विद्यार्थियों, मज़दूरों, दलितों की भी उल्लेखनीय भागीदारी है। यह यूनिटी बहुत बड़ी बात है। यह एकता बनी रहे तभी वे कॉर्पोरेट के विरुद्ध संघर्ष कर सकेंगे। इस यूनिटी को बनाये रखना किसान आंदोलन के सामने बहुत बड़ी चुनौती है।

खेती का संकट सिर्फ़ खेती में सुधार करके नहीं हल होगा। जैव विविधता की रक्षा करके, पर्यावरण की चिंता करके, 'सबको शिक्षा सबको काम' सुनिश्चित करके अर्थात पूरी प्रणाली की, पूरी अर्थव्यवस्था की रैडिकल रिस्ट्रक्चरिंग करके ही संकट का समाधान निकल सकता है।

ज़रूरी है कि छोटी जोतों वाले किसान अपने खेत मिलाकर साझी खेती की शुरुआत करें। कोआपरेटिव बनाये जायें। खेत मज़दूरों के रोज़गार का पुख्ता इंतज़ाम किया जाये। कृषि संकट सतत प्रयत्नों और मुक़म्मल प्रावधानों से ही हल है।

सिर्फ़ एमएसपी पर नहीं, हमला ग़रीब के राशन पर भी है

कार्यक्रम के दूसरे वक्ता रणेन्द्र ने जया मेहता से सहमति जताते हुए कहा कि किसानों अथवा किसानी का संकट आज का नहीं है। सिक्खों का आंदोलन किसानों का आंदोलन है। दसवें गुरु के बाद बंदा बहादुर आये। उन्होंने बड़े ज़मींदारों से ज़मीनें लेकर भूमिहीनों को दीं। 1709 में उन्होंने घोषणा की कि ज़मींदारी प्रथा की अब कोई ज़रूरत नहीं। यह बड़ा प्रगतिशील वाक़या था।

आज का किसान आंदोलन उस विरासत का भी वारिस है।

1765 में ईस्ट इंडिया को रेवेन्यू कलेक्शन का अधिकार मिला। कंपनी ने सारे बंगाल को, बिहार, झारखंड, उड़ीसा, असम को लगान वसूली की प्रयोगशाला बना दिया। इसके विरोध में जगह-जगह किसानों के आंदोलन उभरे। झारखंड और उसके आसपास पहाड़िया विद्रोह, कोल, मुंडा, उरांव, संथाल हूल ये सब किसानों के ही विद्रोह हैं। आगे बढ़ें तो तेलंगाना के किसानों का संघर्ष, महाराष्ट्र के बागड़ी आदिवासियों का संघर्ष दिखायी देते हैं। त्रावनकोर, असम, बंगाल, त्रिपुरा में अलग-अलग नामों से किसान संघर्ष उभरते हैं। आज का किसान आंदोलन इन सारे उलगुलानों का उत्तराधिकारी है। हम इसे सलाम करते हैं।

ब्रिटिशकाल के इन विद्रोहों, आंदोलनों का परिणाम यह हुआ कि 1947 के बाद भारत सरकार और राज्य सरकारों के एजेंडे में भूमि-सुधार का मुद्दा शामिल हुआ। 1950 में उस दबाव के कारण केंद्र सरकार ने सरप्लस लैंड की निशानदेही के लिए एक कमेटी बनायी। कमेटी की सिफ़ारिशों के मुताबिक़ अलग-अलग राज्यों ने भूमि सुधार के क़ानून बनाये। कमेटी ने कुल छः करोड़ तीस लाख एकड़ सरप्लस लैंड की शिनाख़्त की।

जब इस सरप्लस ज़मीन को दलितों, आदिवासियों, ग़रीबों, खेत मज़दूरों में बांटने की बात

आयी तो कुल तिरपन लाख एकड़ ज़मीन ही बांटी जा सकी। सरप्लस ज़मीन पर जिनका कब्ज़ा था उनके लोग ही प्रशासन में थे, विधायिका में थे, सरकार में थे। उन्होंने ज़मीन भूमिहीनों में बंटने ही नहीं दी! अभी कुल सात प्रतिशत किसान ही हैं जो अपनी उपज मार्केट में बेच सकते हैं। बाक़ी चालीस प्रतिशत के पास ज़मीन ही नहीं है। चालीस प्रतिशत किसान ऐसे हैं जो साल भर अपने खाने का अन्न उगा लें, यही बहुत है। सरप्लस लैंड के आंकड़े की हवा निकाल दी गयी तो हम ताबेदारी के लिए मजबूर हो गये।

भारत सरकार ने अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया से क़रार किया और वहां से हमारे खाने के लिए लाल गेहूं आया। सरप्लस लैंड वितरित हो गयी होती तो यह नौबत न आती। जिसको हम हरित क्रांति कहते हैं वह पूंजी आधारित खेती थी। पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र में यह खेती सफल रही। बिना भूमि सुधार किये हरित क्रांति आ गयी। सिंचाई, ट्रेक्टर, थ्रेशर, उर्वरक पर अनुदान मिला। अनाज की सरकारी ख़रीद हुई। गोदाम बने। भंडारण हुआ। सरकार को खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर होना था तो यह सब इंतज़ाम किये गये। इसके बाद सरकार ने सब्सिडी से अपने हाथ खींचने शुरू किये। क़र्ज़ माफ़ी का फ़ायदा बड़े किसानों तक सिमट गया। उर्वरक निर्माता कंपनियां सब्सिडी का लाभ पाने लगीं। सीमांत और भूमिहीन किसान बर्बाद होते गये। ऐसे तीन लाख छोटे किसानों ने आत्महत्याएं की हैं।

हमें ऊंची जातियों, जागीरदारों, ज़मींदारों का वर्चस्व हटाकर आगे बढ़ना था। हम आत्महत्या के रूट्स को पहचानें तभी कृषि संकट से निकल पायेंगे। 1990 के बाद तो कोई भूमि सुधार की बात ही नहीं कर रहा है। सरप्लस लैंड के वितरण की बात ही ठप्प है। अब उस ज़मीन को बड़े उद्योगपतियों, कॉर्पोरेट घरानों, मल्टीनेशनल को दिये जाने की बात हो रही है। सिंचित ज़मीन का रक़बा बढ़ना चाहिए था वह नहीं हुआ। पूर्वी भारत के बीमारू राज्यों में सिंचित ज़मीन 20-25 प्रतिशत से ऊपर नहीं है और अब इसकी कोई चिंता भी नहीं कर रहा है। अब किसानों को हाइब्रिड बीज, उर्वरक, कीटनाशक सब मल्टीनेशनल कंपनी से ख़रीदने को बाध्य किया किया जा रहा है। इसे किसानों की आत्महत्या से जोड़कर देखिए। किसानों को मोंसेटो, करगिल, प्रो-एग्रो आदि कंपनियों के हवाले कर दिया गया है। उन्हें बीज निर्माण के लिए ज़मीनें दी जा रही हैं। केंद्र सरकार के बजट का कितना हिस्सा कृषि को दिया जाता है? यह क्षेत्र कितना रोज़गार देता है? पचास प्रतिशत रोज़गार और बीमारू राज्यों में तो 84 प्रतिशत रोज़गार कृषि क्षेत्र देता है! औसतन 56% रोज़गार देने वाले कृषि क्षेत्र को केंद्रीय बजट केंद्र का 1.3% ही मिलता है!

किसान आंदोलन के लिए यह भी एक चुनौती है कि बजट का कम से कम दस प्रतिशत कृषि को दिलवाया जाये। देखिए, स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशों का क्या हुआ? 'कहां तो तय था चरागां हर एक घर के लिए / कहां चराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।' स्वामीनाथन आयोग ने लागत में 50% जोड़कर लाभकारी मूल्य तय करने का सुझाव दिया था। अब लाभकारी मूल्य तो छोड़िए, न्यूनतम समर्थन मूल्य भी नहीं मिल पा रहा है। ऐसे में हमें एमएसपी पर नहीं अटकना चाहिए बल्कि लाभकारी मूल्य की मांग करनी चाहिए। और, इसके साथ मंडी, जनवितरण प्रणाली तथा भारतीय खाद्य निगम को जोड़ना चाहिए। तब बात आगे बढ़ेगी।

1964 में भारतीय खाद्य निगम (एफ़सीआइ) की स्थापना चार उद्देश्यों के तहत हुई थी : क- किसानों की उपज का समुचित मूल्य उपलब्ध कराना, ख- जन वितरण प्रणाली के माध्यम से अन्न को अवाम तक पहुंचाना, ग- राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा की दृष्टि से अनाज का बफ़र स्टॉक सुरक्षित रखना और घ- खुले बाज़ार में खाद्यान्नों की क़ीमत नियंत्रित रखना। अब ये चार उद्देश्य 1991 के अग्रीमेंट के, विश्व व्यापार संगठन के प्रतिकूल जा रहे हैं।

तो, पहले सार्वजनिक वितरण प्रणाली का क्षरण शुरू होता है। कहा गया कि यह अनाज ग़रीबी रेखा के नीचे रहने वालों को ही मिलेगा। फिर हुआ कि सब्सिडी को डायरेक्ट ग़रीब के ख़ाते में ट्रांसफ़र करेंगे। ये चीजें यों ही नहीं हो रही हैं। इनके पीछे अंतरराष्ट्रीय इकॉनोमी काम कर रही है। ग्लोबल इम्पीरियलिज्म की ताक़तें काम कर रही हैं। अनिवार्य वस्तु अधिनियम 1920 में बदलाव करके कृषि उत्पादों को उससे बाहर कर दिया गया। अब प्राइवेट प्लेयर्स इन खाद्यान्नों का भंडारण कर सकते हैं। लाखों मीट्रिक टन खाद्यान्न अपने वृहदाकार गोदामों (सायलो) में रख सकते हैं। अब वही होगा जो पेट्रोलियम पदार्थों का हुआ है, हो रहा है।

ख़ाते में जो दो हज़ार रुपये आते हैं उनसे पंद्रह दिन भी पेट नहीं भरा जा सकता। चावल, गेहूं, दाल की क़ीमत जब बाज़ार तय करेगा तो सरकार चाह कर भी कुछ नहीं कर पायेगी। यह पहले मैक्सिको में घटित हो चुका है।

अगर किसान आंदोलन बड़े अवाम को जोड़ना चाहता है तो इन बिंदुओं को फ़ोकस करके बताना होगा। एमएसपी तक सीमित रहने से काम नहीं बनने वाला।

इस आंदोलन की सबसे खूबसूरत बात यह है कि इसने सरकार के बनाये सारे नैरेटिवों को तोड़ा है। पृथकतावाद, आतंकवाद, माओवाद क्रमशः इन सबसे किसान आंदोलन को जोड़ने की कोशिश की गयी और किसानों ने इन सब नैरेटिवों को विफल किया।

दूसरी बात कि उन्होंने समांतर मीडिया खड़ा किया। जिन पांच राज्यों में चुनाव हो रहे हैं वहां अगर आंदोलन के लोग मुद्दों को लेकर जाते, अपनी बात रखते तो चुनाव की सूरत बदल सकती थी। न्यूनतम समर्थन मूल्य तक सीमित रहने से शहरी और ग्रामीण ग़रीब, मेहनतकश अवाम को नहीं जोड़ा जा सकेगा। किसान आंदोलन को चाहिए कि वह वर्ग और जाति के विभेद को, दलितों, दलित महिलाओं की समस्याओं को एड्रेस करे। खाप पंचायतों के रवैये पर भी विचार हो।

कार्पोरेट कृषि बनाम सहकारी खेती

कार्यक्रम के तीसरे और अंतिम वक्ता वीजू कृष्णन ने तमाम आंदोलनों में अपने तीस वर्षीय अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में इस किसान आंदोलन को अभूतपूर्व बताते हुए कहा कि पिछले सात वर्षों में एक लाख किसानों ने आत्महत्या की है। इस संख्या में बटाईदार-भूमिहीन किसान, महिला किसान, खेतिहर मज़दूर दलित किसान शामिल नहीं हैं। मोदी ने 2014 के चुनाव में किसानों से बड़े लुभावने वायदे किये थे कि उनकी आय दोगुनी हो जायेगी, उनकी लागत का डेढ़ गुना दाम मिलेगा, कृषि संकट ख़त्म हो जायेगा, सिंचाई की अच्छी व्यवस्था की जायेगी, भरपूर सब्सिडी मिलेगी, क़र्ज़ माफ़ी होगी, प्राकृतिक व अन्य आपदा में बीमा दिया जायेगा...। इन वायदों के चलते किसानों और खेत मज़दूरों ने

उन्हें वोट दिया, उन्हें जिताने में भूमिका निभायी।

हरियाणा और महाराष्ट्र ऐसे राज्य रहे हैं जहां आज़ादी के बाद भाजपा कभी अकेले अपने दम पर चुनाव नहीं जीत पायी थी। 2014 में इन दोनों राज्यों में इन लुभावने वायदों के बल पर भाजपा सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरती है।

केंद्र में भाजपा की सरकार बनने के बाद एक हफ़्ते के अंदर हम कृषिमंत्री से मिले और उनसे स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशों का सिर्फ़ एक पॉइंट उत्पादन ख़र्च से डेढ़ गुना दाम लागू करने की बात की। कृषिमंत्री ने हमसे कहा कि कि आप इसे इतनी गंभीरता से क्यों ले रहे हैं! वह तो चुनावी वायदा था जो हर पार्टी करती है।

भाजपा ने सुप्रीम कोर्ट के समक्ष हलफ़नामा देकर कहा कि स्वामीनाथन आयोग की सिफ़ारिशें लागू नहीं हो सकती हैं। उसी समय सरकार भूमि अधिग्रहण अध्यादेश लेकर आयी। इसमें किसानों की सहमति के बिना उनकी ज़मीन ले लेने की बात थी। इस अध्यादेश के विरुद्ध लोग एकजुट हुए। बहुत से संगठनों में एकता बनी। वह मुद्दा आधारित एकता इस आंदोलन में देखी जा सकती है।

बहुत से लोग इसे स्वतःस्फूर्त आंदोलन कहते हैं जबकि इसके पीछे एक सुचिंतित प्रयास है। संगठनों की पहली बैठक गांधी शांति प्रतिष्ठान, दिल्ली में हुई थी। एक प्रस्ताव आया कि डॉ. आंबेडकर के संविधान/संवैधानिक मूल्यों के तहत आंदोलन चले। इस प्रस्ताव पर कुछ लोग उठकर चले गये। मेधा पाटेकर ने कहा कि गांधी के आदर्शों के अनुसार आंदोलन चले। इस प्रस्ताव पर भी कुछ लोग चले गये। संगठनों में दो मुद्दों को लेकर सहमति बनी- फ़सल का लाभकारी दाम और कर्ज़ मुक्ति।

2014 से 2019 तक हम संगठनों का लगातार आंदोलन चला। हमारा लांग मार्च हुआ। नासिक से मुंबई तक। इसमें ज़मीन अधिकार का मुद्दा, वनाधिकार का मुद्दा, खाद्य सुरक्षा का मुद्दा तथा सोशल वेलफ़ेयर का मुद्दा था। इस लांग मार्च में हज़ारों किसान शामिल रहे जिसमें आदिवासी किसानों की अच्छी संख्या थी। यह मार्च बड़ा स्फूर्तिदायक रहा।

इसके बाद 5 सितंबर 2018 को दिल्ली में किसान मुक्ति मार्च का आयोजन हुआ। यह मुक्ति मार्च ढाई सौ से अधिक संगठनों वाले अखिल भारतीय किसान संघर्ष कोआर्डिनेशन कमेटी के नेतृत्व में हुआ। इसमें महिला संगठनों, दलित संगठनों, छात्रों, पत्रकारों, लेखकों, शिक्षकों, आदिवासियों और श्रमिक संगठनों की हिस्सेदारी रही। इसमें सेना के सेवानिवृत्त सेनानी भी जुड़े। दो लाख से अधिक लोगों ने इसमें शिरकत की। यह यादगार कार्यक्रम था।

2019 में राष्ट्रवाद के शोर, ध्रुवीकरण की राजनीति और कॉर्पोरेट मीडिया के बल पर मोदी सरकार फिर से जीती। 2014 में जो वायदा किया था उसमें एक भी पूरा नहीं किया था। किसानों की आय दोगुनी करने का वायदा हो या बेरोज़गारों को प्रतिवर्ष दो करोड़ नौकरियां देने का वायदा।

मोदी ने 2020 मार्च महीने में जो लॉकडाउन लगाया उस समय किसान अच्छी फ़सल की प्रतीक्षा कर रहे थे। कटाई का समय शुरू हो रहा था। इस लॉकडाउन ने किसानों का, मज़दूरों का और खेतिहर श्रमिकों का भरपूर नुक़सान किया। सरकार से हमने मांग की कि इन समुदायों को आर्थिक सपोर्ट मुहैया कराये, कर्ज़ माफ़ी करे, मज़दूरों को खाद्यान्न की आपूर्ति सुनिश्चित करे। इसी समय सरकार

ने बड़े कॉर्पोरेट के एक लाख करोड़ का कर्ज़ माफ़ किया था।

सरकार ने हमारी मांग नहीं मानी। न उचित क़ीमत की बात और न कर्ज़माफ़ी की। ऊपर से जून महीने में तीन अध्यादेश लेकर आयी। सरकार ने कहा कि 1947 में जब देश आज़ाद हुआ था तब किसानों को आज़ादी नहीं मिली थी। ये क़ानून किसानों को आज़ाद करेंगे। अब किसान जहां चाहेंगे, अपनी फ़सल बेच सकेंगे। हम लगातार आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और भूमंडलीकरण के विरुद्ध आवाज़ उठा रहे थे, सरकार ने लॉकडाउन का सहारा लेकर कॉर्पोरेट रूल का रास्ता बना दिया।

कर्नाटक में भाजपा की सरकार है। येदुरप्पा से पहले जो भाजपा सरकार थी उसने कृषि क्षेत्र में व्यापार को बढ़ावा देने के लिए एक प्लान बनाया था। इसे इंटीग्रेटेड एग्रीड बिज़नस डेवलपमेंट कहा गया। इसमें किसानों से लांग लीज़ पर दो हज़ार एकड़ ज़मीन लेकर ऐसा पर्यटन स्थल बनाने की बात थी जहां विदेशी टूरिस्ट अपने हाथों से गायों, बकरियों को चारा खिला सकेंगे, बैलगाड़ी की सवारी कर सकेंगे और किसान संस्कृति को म्युज़ियम की तरह देखकर आनंद उठा सकेंगे।

यह खेती-किसानी को लेकर भाजपा का नज़रिया है। कांग्रेस का, मनमोहन-चिदंबरम का नज़रिया भी इससे बहुत भिन्न नहीं था। वे भी कहते थे कि कृषि क्षेत्र में बहुत से लोग हैं। उन्हें वहां से निकालना चाहिए।

मोदी सरकार जो तीन क़ानून लेकर आयी वह मंडी तोड़ो, कॉर्पोरेट लूट बढ़ाओ, जमाखोरी व कालाबाज़ारी कराओ और कॉर्पोरेट खेती लाओ क़ानून है। यह आइएमएफ़, विश्वबैंक और विश्व व्यापार संगठन के दबाव का प्रतिफल है। सब्सिडी ख़त्म करके खेती को पूरी तरह से कॉर्पोरेट को सौंपने की यह तैयारी है।

विभिन्न संगठनों ने मुद्दों के आधार पर जो एकता क़ायम की थी उसके बल पर तीन क़ानूनों के विरुद्ध आंदोलन चल रहा है। ये क़ानून वापस हों, उत्पादन लागत का डेढ़ गुना दाम मिले यह आंदोलनकारियों की मांग है। कुछ लोग कहते हैं कि समर्थन मूल्य की मांग कुलक या बड़े किसानों की हित-साधक है। इसे समझने की ज़रूरत है।

सभी राज्यों में जो अलग-अलग उत्पादन लागत है उसका औसत निकालकर समर्थन मूल्य तय किया जाता है। अभी सरकार इस न्यूनतम समर्थन मूल्य पर ख़रीदारी नहीं करती है। मंडी व्यवस्था ख़त्म करने के बाद तो ख़रीदारी का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

अभी धान का समर्थन मूल्य प्रति क्विंटल 1868 रुपया है। बिहार में सरकार ने 2006 में मंडी व्यवस्था ख़त्म कर दी थी। वहां के किसान 800 से लेकर 1200 में धान बेचते हैं। केरल में जहां वाम-जनवादी मोर्चे की सरकार है वहां 2800/- में एक क्विंटल धान ख़रीदा जाता है। पूरे देश में इस दाम पर और कहीं ख़रीद नहीं होती है।

वहां की सरकार ऐसा क्यों कर रही है? इसे हम समझते हैं। वहां उत्पादन ख़र्च भी ज़्यादा है। अगर आप वहां केंद्र सरकार के समर्थन मूल्य पर धान खरीदेंगे तब भी किसान घाटे में रहेंगे। इसीलिए सरकार वहां क़ीमत में हस्तक्षेप कर रही है। पंजाब में प्रति क्विंटल उत्पादन ख़र्च 2400 रुपया है। ऐसा वहां की सरकार कहती है। उधर केंद्र सरकार का दावा है कि पंजाब में धान का प्रति क्विंटल उत्पादन ख़र्च 1100/- है। राज्य सरकार के दावे से आधे से भी कम पर। कहने का मतलब यह कि हर राज्य का

उत्पादन ख़र्च अलग-अलग है।

दावे भी अलग-अलग। अधिकांश राज्यों में उत्पादन ख़र्च समर्थन मूल्य से अधिक है। आज की तारीख़ में पंजाब, हरियाणा जैसे 2-3 राज्यों में ही समर्थन मूल्य पर ख़रीदारी होती है।

हमारी मांग है कि समर्थन मूल्य का निर्धारण ठीक से हो और समूचे भारत में उसी मूल्य पर ख़रीदारी हो। किसानों के लिए लाभकारी ख़रीदारी सुनिश्चित की जाये। फ़सलों के साथ वनोपज वस्तुओं की भी ख़रीदारी समर्थन मूल्य के अनुसार हो। उसका भी समर्थन मूल्य घोषित किया जाये। लेकिन, सरकार इस क्षेत्र को पूरी तरह कॉर्पोरेट को सौंपने पर तुली हुई है। कई राजनीतिक दल ख़ासकर वामपंथी पार्टियां 1991 से इसका विरोध करती आ रही हैं।

1993 में अखिल भारतीय किसान सभा ने वैकल्पिक कृषि नीति तैयार की। इसमें किसान और किसानी को बचाने की योजना है। फ़सलों के क्रय और भंडारण, क़ीमत निर्धारण को कॉर्पोरेट के हाथ में सौंपने की ज़िम्मेदारी इस सरकार ने अपने हाथ में ले रखी है। खाद, बीज, कीटनाशक पर कॉर्पोरेट का एकाधिकार लगभग हो चुका है। अभी दो दिन पहले ही उर्वरक के दामों में 40 फ़ीसद की बढ़ोत्तरी हुई है। उत्पादन लागत में लगातार वृद्धि हो रही है लेकिन फ़सल की वाजिब क़ीमत किसान को नहीं मिल पा रही।

कृषि संकट गहराता जा रहा है। किसान लगातार क़र्ज़ में डूब रहा है। अखिल भारतीय किसान सभा हो या दूसरे संगठन, आज का किसान आंदोलन इस स्थिति से उबरने की दिशा में आगे बढ़ रहा है। किसान और मज़दूर वर्ग में एकता मज़बूत हुई है। मज़दूर तबक़े की इस आंदोलन में सक्रिय भागीदारी दिखायी दे रही है। हम इस भ्रम में नहीं हैं कि इन तीन क़ानूनों के वापस होते ही भारत में किसान ख़ुशहाल हो जायेंगे। एक वैकल्पिक नीतियों की ज़रूरत है। वैकल्पिक नीति की ज़रूरत सिर्फ़ कृषि क्षेत्र में नहीं बल्कि रोज़गार, शिक्षा, सामाजिक क्षेत्र, स्वास्थ्य आदि सभी में है। वैकल्पिक अर्थनीति, समाजनीति, राजनीति के लिए हमारा संघर्ष, हमारा आंदोलन जारी रहे।

तीनों वक्तव्यों के बाद संक्षिप्त चर्चा-सत्र रखा गया। इस कार्यक्रम में मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, जीवन सिंह, हेमलता महिश्वर, रेखा अवस्थी, संजीव कुमार, विनीत तिवारी, विमल थोरात, हीरालाल राजस्थानी, आशुतोष कुमार, फ़रहत रिज़वी, राजेंद्र कुमार, प्रेम तिवारी, रवि निर्मला सिंह, रज़ा, फ़िरोज़ आलम, संजय जोशी, अभय कुमार, दिव्या, अजय कुमार आदि लेखक-कार्यकर्ता-कलाकार-शिक्षक-शोधार्थी उपस्थित रहे।

मो. 9818575440